ॐ
आप्तवाणी
श्रेणी-14 (भाग-1)

दादा भगवान प्ररूपित

आप्तवाणी

श्रेणी-१४

भाग-१

खंड-१ विभाव - विशेषभाव - व्यतिरेक गुण

मूल गुजराती संकलन : डॉ. नीरू बहन अमीन
हिन्दी अनुवाद : महात्मागण

प्रकाशक : अजीत सी. पटेल
दादा भगवान आराधना ट्रस्ट
'दादा दर्शन', 5, ममतापार्क सोसायटी,
नवगुजरात कॉलेज के पीछे, उस्मानपुरा,
अहमदाबाद - 380014, गुजरात
फोन - (079) 27540408

प्रथम संस्करण : 2000 प्रतियाँ नवम्बर 2018

भाव मूल्य : 'परम विनय' और 'मैं कुछ भी जानता नहीं', यह भाव!

द्रव्य मूल्य : 120 रुपए

मुद्रक : अंबा ऑफसेट
B-99, इलेक्ट्रोनीक्स GIDC,
क-6 रोड, सेक्टर-25, गांधीनगर-382044
फोन : (079) 39830341

त्रिमंत्र

नमो अरिहंताणं
नमो सिद्धाणं
नमो आयरियाणं
नमो उवज्झायाणं
नमो लोए सव्वसाहूणं
एसो पंच नमुक्कारो,
सव्व पावप्पणासणो
मंगलाणं च सव्वेसिं,
पढमं हवइ मंगलम् १
ॐ नमो भगवते वासुदेवाय २
ॐ नमः शिवाय ३
जय सच्चिदानंद

समर्पण

चौदह गुंठाणे चढ़ाए, चौदहवीं आप्तवाणी;

सूक्ष्मतम आत्म संधि स्थल, 'मैं' समझ में आया!

संसार उत्पन्न होने में, मात्र बिलीफ है बदली;

उसे जानते ही, राइट बिलीफ अनुभव हुई!

स्वभाव-विभाव के भेद, दादा ने परखाए;

अहो! अहो! जुदापन की जागृति बरताएँ!

द्रव्य-गुण-पर्याय के भेद को, सूक्ष्मता से जानकर;

मोक्ष का सिक्का पाकर, हुआ आत्म उत्सव!

स्व में रहे उसे, स्वस्थ आनंद सदा;

अवस्था में रहे उसे अस्वस्थता सदा!

हैं चेतनवंती, चौदह आप्तवाणियाँ;

प्रत्यक्ष सरस्वती, बरती यहाँ!

टूटे श्रद्धा मिथ्या, पढ़ते ही इस वाणी को;

पाएगा समकित, ज्ञानी के अनुसार चलेगा जो!

'मैं' समर्पण, चरणों में अक्रम ज्ञानी के;

जग को समर्पण चौदहवीं आप्तवाणी ये!

-डॉ. नीरू बहन अमीन

दादा भगवान कौन ?

जून १९५८ की एक संध्या का करीब छः बजे का समय, भीड़ से भरा सूरत शहर का रेल्वे स्टेशन, प्लेटफार्म नं. 3 की बेंच पर बैठे श्री अंबालाल मूलजीभाई पटेल रूपी देहमंदिर में कुदरती रूप से, अक्रम रूप में, कई जन्मों से व्यक्त होने के लिए आतुर 'दादा भगवान' पूर्ण रूप से प्रकट हुए। और कुदरत ने सर्जित किया अध्यात्म का अद्भुत आश्चर्य। एक घंटे में उन्हें विश्वदर्शन हुआ। 'मैं कौन? भगवान कौन? जगत् कौन चलाता है? कर्म क्या? मुक्ति क्या?' इत्यादि जगत् के सारे आध्यात्मिक प्रश्नों के संपूर्ण रहस्य प्रकट हुए। इस तरह कुदरत ने विश्व के सम्मुख एक अद्वितीय पूर्ण दर्शन प्रस्तुत किया और उसके माध्यम बने श्री अंबालाल मूलजीभाई पटेल, गुजरात के चरोतर क्षेत्र के भादरण गाँव के पाटीदार, कान्ट्रेक्ट का व्यवसाय करनेवाले, फिर भी पूर्णतया वीतराग पुरुष!

उन्हें प्राप्ति हुई, उसी प्रकार केवल दो ही घंटों में अन्य मुमुक्षु जनों को भी वे आत्मज्ञान की प्राप्ति करवाते थे, उनके अद्भुत सिद्ध हुए ज्ञानप्रयोग से। उसे अक्रम मार्ग कहा। अक्रम, अर्थात् बिना क्रम के, और क्रम अर्थात् सीढ़ी दर सीढ़ी, क्रमानुसार ऊपर चढ़ना। अक्रम अर्थात् लिफ्ट मार्ग, शॉर्ट कट!

वे स्वयं प्रत्येक को 'दादा भगवान कौन?' का रहस्य बताते हुए कहते थे कि ''यह जो आपको दिखते है वे दादा भगवान नहीं है, वे तो 'ए.एम.पटेल' है। हम ज्ञानी पुरुष हैं और भीतर प्रकट हुए हैं, वे 'दादा भगवान' हैं। दादा भगवान तो चौदह लोक के नाथ हैं। वे आपमें भी हैं, सभी में हैं। आपमें अव्यक्त रूप में रहे हुए हैं और 'यहाँ' हमारे भीतर संपूर्ण रूप से व्यक्त हुए हैं। दादा भगवान को मैं भी नमस्कार करता हूँ।''

'व्यापार में धर्म होना चाहिए, धर्म में व्यापार नहीं', इस सिद्धांत से उन्होंने पूरा जीवन बिताया। जीवन में कभी भी उन्होंने किसी के पास से पैसा नहीं लिया बल्कि अपनी कमाई से भक्तों को यात्रा करवाते थे।

सिद्धांत प्राप्त करवाती है आप्तवाणी

प्रश्नकर्ता : आप्तवाणी के सभी भाग तीन बार पढ़े हैं, उससे कषाय मंद हो गए हैं।

दादाश्री : ये आप्तवाणियाँ ऐसी हैं कि इन्हें पढ़ने से कषाय खत्म हो जाते हैं। केवलज्ञान में देखकर निकली हुई वाणी है। बाद में लोग इसका शास्त्रों के रूप में उपयोग करेंगे।

और इसमें हमारा कभी भी, सिद्धांत में बदलाव नहीं आया है। सैद्धांतिक ज्ञान कभी भी मिलता ही नहीं है। वीतरागों का जो सिद्धांत है न, वह उनके पास ही था। शास्त्रों में सिद्धांत पूरी तरह से नहीं लिखा गया है। क्योंकि सिद्धांत शब्दों में नहीं समा सकता। उन्हें सिद्धांतबोध कहा गया है, ऐसा बोध जो सिद्धांत प्राप्त करवाए लेकिन वह सिद्धांत नहीं कहलाता जबकि अपना तो यह सिद्धांत है। खुले तौर पर, दीये जैसा स्पष्ट। कोई कुछ भी पूछे, उसे यह सिद्धांत फिट हो जाता है और अपना तो एक और एक दो, दो और दो चार, ऐसा हिसाब वाला है न, ऐसा पद्धतिबद्ध है और बिल्कुल भी उल्टा-सीधा नहीं है और कन्टिन्युअस है। यह धर्म भी नहीं है और अधर्म भी नहीं है।

हमारी उपस्थिति में हमारी इन पाँच आज्ञाओं का पालन किया जाए न, या फिर अगर हमारा कोई अन्य शब्द, एकाध शब्द लेकर जाएगा न, तो मोक्ष हो जाएगा, एक ही शब्द! इस अक्रम विज्ञान के किसी एक भी शब्द को पकड़ ले और फिर उस पर मनन करने लगे, उसकी आराधना करने लगे तो वह मोक्ष में ले जाएगा। क्योंकि अक्रम विज्ञान एक सजीव विज्ञान है, स्वयं क्रियाकारी विज्ञान है और यह तो पूरा ही सिद्धांत है। किसी पुस्तक के वाक्य नहीं हैं। अत: यदि कोई इस बात का एक भी अक्षर समझ जाए न, तो समझो वह सभी अक्षर समझ गया! अब यहाँ पर आए हो तो यहाँ से अपना काम निकालकर जाना, पूर्णाहुति करके!

संपादकीय

मूलत: ब्रह्मांड के छ: अविनाशी तत्त्व हैं, उन तत्त्वों में अंदर ही अंदर किस प्रकार के नैमित्तिक असर होते हैं और संसार का रूट कॉज़ उत्पत्ति, ध्रुव और विनाश के गुह्यतम रहस्य एवं इस रूपी जगत् का मूल कारण परम पूज्य दादाश्री के श्रीमुख से निकली, बीस-बीस साल से टेपरिकॉर्ड में टेप की गई वाणी का यहाँ पर चौदहवीं आप्तवाणी (भाग-१) में संकलन किया गया है।

इसमें संसार का, रूपी जगत् का, रूट कॉज़ कोई ईश्वर या ब्रह्मा नहीं है लेकिन यह मुख्य छ: अविनाशी तत्त्वों में से जड़ तत्त्व और चेतन तत्त्व के सामीप्य भाव की वजह से उत्पन्न होने वाले विशेष भाव के कारण है। (विभाव से संबंधित पूरी वैज्ञानिक समझ खंड-१ में समाविष्ट की गई है।) शुद्ध चेतन तत्त्व का स्वभाव है कि वह खुद के स्वभाव में रह सकता है और उससे विशेष भाव भी हो सकता है। स्वभाव में रहकर विशेष भाव होता है। यह विशेष भाव खुद जान-बूझकर नहीं करता है लेकिन साइन्टिफिक सरकमस्टेन्शियल एविडेन्स, संयोगों के दबाव के कारण हो जाता है और मुख्य रूप से इसकी नींव में अज्ञानता तो रही हुई है ही।

इस विशेष भाव में सर्व प्रथम 'मैं' (अहम्) उत्पन्न होता है। वह फर्स्ट लेवल का विशेष भाव है। उस 'मैं' में से (फर्स्ट लेवल के विशेष भाव में से) दूसरा, सेकन्ड लेवल का विशेष भाव उत्पन्न होता है, रोंग बिलीफ से, और वह है अहंकार। 'मैं चंदू हूँ', वह मान्यता ही अहंकार है (सेकन्ड लेवल का विशेष भाव)। फिर वह अहंकार सभी कुछ टेक ओवर कर लेता है। विशेष भाव में से विशेष भाव उत्पन्न होता रहता है। नए का जन्म होता है और पुराना खत्म हो जाता है। चेतन तत्त्व के विशेष भाव से जड़ तत्त्व के विशेष भाव में *पुद्गल* (जो पूरण और गलन होता है) बनता है। तब तक कोई हर्ज नहीं है लेकिन फिर अज्ञान प्रदान से 'मैं' को 'मैं पु*द्गल* हूँ', ऐसी मान्यता, रोंग बिलीफ उत्पन्न हो जाती है। 'मैं कर रहा हूँ', ऐसी रोंग बिलीफ उत्पन्न हो जाती है और क्रोध-मान-

माया-लोभ, ये व्यतिरेक गुण उत्पन्न हो जाते हैं। 'मैं चंदू हूँ', वही मान्यता दु:खदायी हो जाती है। वह मान्यता छूट जाए तो फिर कोई दु:ख रहेगा ही नहीं। यदि विशेष भाव में इतना ही समझ में आ जाए तो उसके बारे में तमाम खुलासे हो जाएँगे।

प्रस्तुत ग्रंथ में आने वाले शब्द जैसे कि विभाव, विशेष भाव, विभाविक भाव, विशेष परिणाम, विपरिणाम, विभाविक परिणाम वगैरह-वगैरह शब्द निमित्ताधीन निकले हैं। साधकों को उनका अर्थ एक समान ही समझना है।

प्रस्तुत ग्रंथ के खंड-२ में आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय से संबंधित सूक्ष्म सैद्धांतिक स्पष्टता की गई है। परम पूज्य दादाश्री ने जीवन में अनुभव करके परिभाषा और उदाहरण दिए हैं, ताकि द्रव्य, गुण और पर्याय यथार्थ रूप से समझ में आ जाएँ। जो अत्यंत ही गहन है, ऐसा यह विषय, देशी शैली में बहुत ही सरलता से समझाकर, ज्ञानदशा की पराकाष्ठा पर पहुँचकर कैसा लगता है, केवलज्ञान के लेवल पर कैसा बरतता है, उनकी खुद की अनुभव सहित वाणी में पूर्ण रूप से स्पष्टता कर दी है। तब 'अहो! अहो!' हो जाता है कि जो *'जे पद श्री सर्वज्ञे दीठुं ज्ञानमां, कही शक्या नहीं ते पद श्री भगवान जो'* ऐसी गहन बातें जितनी शब्दों में बताई जा सकती हैं, उतनी वाणी द्वारा बता सके हैं और तत्त्वों के भीतर के रहस्य सामान्य मनुष्य तक पहुँचा सके हैं।

इसमें पर्याय और अवस्था के तात्त्विक भेद प्राप्त होते हैं और यह भी कि अवस्था में 'मैं' पन होने से संसार खड़ा हो गया है और उसके कारण अस्वस्थ रहते हैं। तत्त्व में 'मैं' पन होने से संसार से छूट जाते हैं और निरंतर स्वस्थ रह सकते हैं। खुद निरंतर अवस्थाओं से मुक्त रहे और दूसरों को भी अवस्थाओं से मुक्त रहने का अद्‌भुत विज्ञान दिया। जो खुद तत्त्व स्वरूप से रहे और दूसरों को वह तत्त्व दृष्टि प्राप्त करवा सके, उस अक्रम विज्ञान को धन्य है और अक्रम विज्ञानी को भी धन्य है।

प्रस्तुत ग्रंथ पढ़ने से पहले साधक को उपोद्‌घात अवश्य ही पढ़ना

चाहिए, तभी ज्ञानी के अंतर आशय को स्पष्ट रूप से समझ सकेंगे और लिंक अगोपित होगी।

आत्मज्ञान के बाद बीस साल तक अलग-अलग व्यक्तियों के लिए परम पूज्य दादाश्री की वाणी टुकड़ों-टुकड़ों में निकली है। इतने सालों में पूरा सिद्धांत एक साथ एक ही व्यक्ति के संग तो नहीं निकल सकता न?! बहुत सारे सत्संगों को इकट्ठा करके, संकलित करके सिद्धांत रखा गया है। साधक एक चेप्टर को एक ही बार में पढ़ लेंगे तभी लिंक रहेगी और समझ में सेट होगा। टुकड़े-टुकड़े करके पढ़ने से लिंक टूट जाएगी और समझ सेट करने में मुश्किल होने की संभावना रहेगी।

ज्ञानी पुरुष की ज्ञानवाणी मूल आत्मा को स्पर्श करके निकली है, जो अमूल्य रत्नों के समान है। तरह-तरह के रत्न इकट्ठे होने पर एक-एक सिद्धांत की माला बन जाती है। हम तो, हर एक बात को समझ-समझकर दादाश्री के दर्शन में जैसा दिखाई दिया, वैसा ही दिखाई दे, ऐसी भावना के साथ पढ़ते जाएँगे और रत्नों को संभालकर इकट्ठे करते रहेंगे तो अंततः सिद्धांत की माला बन जाएगी। वह सिद्धांत हमेशा के लिए हृदयगत होकर अनुभव में आ जाएगा।

१४वीं आप्तवाणी पी.एच.डी. लेवल की है। जो तत्त्वज्ञान को स्पष्टतः समझा देती है! इसलिए यहाँ पर बेसिक बातें विस्तारपूर्वक नहीं मिलेंगी या फिर बिल्कुल भी नहीं मिलेंगी। साधक अगर तेरह आप्तवाणियों की और दादाश्री के सभी महान ग्रंथों की फुल स्टडी करके और समझने के बाद चौदहवीं आप्तवाणी पढ़ेगा तभी समझ में आएगा। अतः नम्र विनती है कि यह सब समझने के बाद ही आप चौदहवीं आप्तवाणी की स्टडी करना।

हर एक नया हेडिंग वाला मेटर नए व्यक्ति के साथ हुआ वार्तालाप है, ऐसा समझना। इस कारण से ऐसा लगेगा कि वही प्रश्न फिर से पूछ रहे हैं लेकिन गहन विवरण मिलने के कारण संकलन में उसका समावेश किया गया है।

एनाटॉमी (शरीर विज्ञान) में दसवीं, बारहवीं कक्षा में, मेडिकल

में वर्णन है। वही बेसिक बात आगे जाकर गहराई में समझाई जाती है तो उस कारण से ऐसा नहीं कह सकते कि सभी कक्षाओं में वही पढ़ाई है।

ज्ञानी की वाणी तमाम शास्त्रों के सार रूपी है और जब वह वाणी संकलित होती है तब वह स्वयं शास्त्र बन जाती है। उसी प्रकार यह आप्तवाणी मोक्षमार्गी के लिए आत्मानुभवी के कथन के वचनों का शास्त्र है, जो मोक्षार्थियों को मोक्षमार्ग पर आंतरिक दशा की स्थिति के लिए माइल स्टोन की तरह काम में आएँगे।

शास्त्रों में सौ मन सूत में एक बाल जितना सोना बुना हुआ होता है, जिसे साधक को स्वयं ही ढूँढकर प्राप्त करना होता है। आप्तवाणी में तो प्रकट ज्ञानी ने सौ प्रतिशत शुद्ध सोना ही दे दिया है।

गुह्यतम तत्त्व को समझने के लिए यहाँ पर संकलन में परम पूज्य दादाश्री की वाणी में निकले हुए अलग-अलग उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं। अनुभवगम्य अविनाशी तत्त्व को समझने के लिए विनाशी उदाहरण हमेशा मर्यादित ही रहेंगे। फिर भी अलग-अलग एंगल से समझने के लिए तथा अलग-अलग गुण को समझने के लिए अलग-अलग उदाहरण बहुत ही उपयोगी हो जाते हैं। कहीं पर विरोधाभास जैसा लगता है लेकिन वह तुलनात्मक है, इसलिए अविरोधाभासी है। वह सिद्धांत का कभी भी छेदन नहीं करता।

परम पूज्य दादाश्री की बातें अज्ञान से लेकर केवलज्ञान तक की हैं। प्रस्तावना या उपोद्घात में संपादकीय क्षति हो सकती है। आज जितना समझ में आया, उसी अनुसार आज यह बताया गया है लेकिन ज्ञानी की कृपा से आगे जाकर विशेष ज्ञान निरावृत हो जाए तो वही बात अलग प्रतीत होगी। लेकिन वास्तव में तो वह आगे का विवरण है। यथार्थ ज्ञान की समझ तो केवलीगम्य ही हो सकती है! इसलिए यदि कोई भूलचूक लगे तो क्षमा माँगते हैं। ज्ञानी पुरुष की ज्ञानवाणी को पढ़-पढ़कर अपने आप ही मूल बात को समझ में आने दो। ज्ञानी पुरुष की वाणी स्वयं क्रियाकारी है, अवश्य ही स्वयं उग निकलेगी।

खुद की समझ पर फुल पोइन्ट (स्टॉप) लगाने जैसा नहीं है। हमेशा कॉमा लगाकर ही आगे बढ़ेंगे। ज्ञानी की वाणी की नित्य आराधना होती रहेगी तो नई-नई स्पष्टता होगी और समझ वर्धमान होने के बाद ज्ञानदशा की श्रेणियाँ चढ़ने के लिए विज्ञान का स्पष्ट अनुभव होता जाएगा।

अति-अति सूक्ष्म बातें, विभाव या पर्याय जैसी, पढ़ते हुए यदि साधक को उलझन में डाल दें तो उससे परेशान होने की ज़रूरत नहीं है। अगर यह समझ में नहीं आया तो क्या मोक्ष रुक जाएगा? बिल्कुल भी नहीं। मोक्ष तो ज्ञानी की पाँच आज्ञा में रहने से ही सहज प्राप्य है, तार्किक अर्थ और पंडिताई से नहीं। आज्ञा में रहने पर ज्ञानी की कृपा ही सर्व क्षतियों से मुक्त करवा देती है। अतः सर्व तत्त्वों का सार, ऐसे मोक्ष के लिए तो ज्ञानी की आज्ञा में रहा जाए, वही सार है।

समय, स्थल, संयोग और अनेक निमित्तों के अधीन निकली हुई अद्‌भुत ज्ञानवाणी के संकलन द्वारा पुस्तक में रूपांतरित होने पर भास्यमान होने वाली क्षतियों को क्षम्य मानकर विभाव और द्रव्य-गुण-पर्याय के अद्‌भुत विज्ञान को सूक्ष्मता से समझकर, प्राप्त करके आप मुक्ति का अनुभव करें, यही अभ्यर्थना।

- डॉ. नीरू बहन अमीन

उपोद्घात

(खंड-१)

विभाव - विशेष भाव - व्यतिरेक गुण

(१) विभाव की वैज्ञानिक समझ

लोगों में विश्व की उत्पत्ति से संबंधित अलग-अलग प्रकार की मान्यताएँ प्रवर्तित हैं। उसमें मुख्य रूप से भगवान की इच्छा को ही लोगों द्वारा प्राधान्यता दी जाती है। वास्तविकता इस बात से बिल्कुल ही अलग है। इन सभी में यदि कोई मूल कारण है तो वह स्वतंत्र होना चाहिए लेकिन यदि किसी के दबाव से हुआ हो तो? भीड़ में धक्का-मुक्की में लग जाए तो किसे पकड़ेंगे? इसी प्रकार यह किसी ने रचा नहीं है। मूल कारण भगवान हैं और ऐसा संयोगी संबंध से है, स्वतंत्र संबंध से नहीं। संयोगों के दबाव से विशेष भाव-विशेष गुण उत्पन्न होने की वजह से संसार खड़ा हो गया है, जो पूर्ण रूप से विज्ञान ही है। संपूर्ण निरीच्छक को इच्छावान साबित किया गया है और वह भी पूरी दुनिया भर का। खैर, निर्लेप परमात्मा को दुनिया भर के लोगों के कर्तापन के आक्षेप में भी निर्लेप ही रहना है न!

मूल आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय हमेशा से शुद्ध ही हैं, भगवान महावीर के समान ही हैं! यह तो दो द्रव्यों के, जड़ और चेतन के सामीप्य भाव के कारण एकरूप भासित होता है, भ्रांति उत्पन्न होने के कारण।

मूल में अज्ञान है ही और संयोगों का दबाव आने से मूल आत्मा की दर्शन शक्ति आवृत हो जाती है। वहाँ पर फर्स्ट लेवल का मूल विशेष भाव उत्पन्न होता है, जो 'मैं' के रूप में उत्पन्न होता है। वह मूल आत्मा के रिप्रेज़ेन्टेटिव (प्रतिनिधि) के रूप में है। फिर यह 'मैं' वापस विशेष भाव करता है, जिसे सेकन्ड लेवल का विशेष भाव कहा गया है, जिसमें 'मैं कुछ हूँ, मैं कर रहा हूँ, मैं चंदू हूँ, मैं जानता हूँ। यह मैंने ही किया

है, दूसरा कौन है करने वाला?' और क्रोध-मान-माया-लोभ वगैरह सबकुछ उत्पन्न हो जाता है। प्रथम विभाव 'मैं' है और उसके बाद उसे जो रोंग बिलीफ हो जाती है कि 'मैं चंदू हूँ', वह दूसरे लेवल का विभाव है।

'मैं' को 'मैं चंदू हूँ' की जो रोंग बिलीफ हो जाती है, ('मैं चंदू हूँ', वह अहंकार, वही व्यवहार आत्मा है) बाद में वह गाढ़ रूप से दृढ़ हो जाती है उसे ज्ञान में परिणामित होना कहते हैं। वह विभाविक ज्ञान, विशेष ज्ञान कहलाता है, जिसे बुद्धि कहा गया है और उससे जड़ परमाणुओं में प्रकृति उत्पन्न हो जाती है, उसी को कहते हैं विशेष भाव! इस प्रकार मूल आत्मा के स्वाभाविक भाव और विभाविक भाव दोनों ही होते हैं। विभाव अर्थात् विरुद्ध भाव, वह विधान त्रिकाल विज्ञान से, वास्तविकता से विरुद्ध है।

शरीर में *पुद्गल* और आत्मा समीप रहे हुए हैं। समीप रहते हैं लेकिन इतने से ही खत्म नहीं हो जाता। परंतु 'उनमें' 'सामीप्य भाव' उत्पन्न हो जाता है! सामीप्य भाव से भ्रांति उत्पन्न होती है कि 'मैं' यह हूँ या वह हूँ? क्रिया मात्र *पुद्गल* की है लेकिन भ्रांति होती है कि 'मैं' ही कर रहा हूँ। अन्य तो कोई करने वाला है ही कहाँ? आत्मा खुद कर्ता है ही नहीं लेकिन खुद मानता है कि 'मैंने ही किया', वही भ्रांति है। और यह है दर्शन की भ्रांति, ज्ञान की नहीं। बहुत ही कम लोगों को पता चलता है कि यह भ्रांति है।

भ्रांति अर्थात् हिचकोले में से उतरे हुए इंसान को ऐसा लगता है कि दुनिया घूम रही है। अरे, दुनिया नहीं, तेरी रोंग बिलीफ तुझे घुमा रही है। 'बाकी' कुछ भी नहीं घूम रहा है।

पुद्गल परमाणुओं की चंचलता के कारण यह विशेष भाव उत्पन्न होता है, ऐसा कहने का मतलब क्या यह नहीं है कि *पुद्गल* (जो पूरण और गलन होता है) को गुनहगार ठहराया? यह तो, दो तत्त्वों के साथ में आ जाने से विशेष गुण उत्पन्न होते हैं, जो कि बिल्कुल कुदरती है। मात्र जड़ और चेतन के पास-पास आने से विशेष भाव उत्पन्न होता है,

न कि अन्य चार शाश्वत तत्त्वों के समीप आने से। *पुद्गल* परमाणुओं के मूल गुण, सक्रियता की वजह से विभाविक *पुद्गल* उत्पन्न हो जाता है। चेतन को पराई *उपाधि* (बाहर से आने वाला दु:ख) है, उसे खुद को कुछ भी नहीं होता है। इसमें दोनों तत्त्वों के पास-पास आने से जो असर होता है, सक्रियता के गुण के कारण *पुद्गल* उसे पकड़ लेता है, तुरंत ही। जो कि इसमें स्वतंत्र रूप से गुनहगार नहीं है। यदि दोनों अलग हो जाएँ तो फिर जड़ तत्त्व पर कोई असर ही नहीं होगा।

अब दोनों तत्त्वों में विशेष भाव उत्पन्न होता है। क्या दोनों में अलग-अलग विभाव होता है या दोनों के मिलने से एक (विभाव) होता है?

पुद्गल जीवंत वस्तु नहीं है, वहाँ पर भाव नहीं है लेकिन वह जिस प्रकार के विशेष भाव को ग्रहण करता है, वैसा ही बन जाता है। मूल रूप से अज्ञानता के कारण, आत्मा में यह विशेष भाव उत्पन्न होता है। फिर पूरी बाज़ी *पुद्गल* की सत्ता में चली जाती है। आत्मा *पुद्गल* के पिंजरे में बंद हो जाता है। अज्ञान से जेल बनी है, ज्ञान से मुक्ति प्राप्त करता है। 'ज्ञानी' के ज्ञान से 'कॉज़ेज़' बंद हो जाते हैं, उसके बाद *पुद्गल* की सत्ता खत्म हो जाती है।

यदि विभाव दशा वगैरह की नींव में अज्ञान हो तभी यह सब आगे बढ़ता है, वर्ना संपूर्ण मुक्त ही है न!

आत्मा और *पुद्गल* परमाणुओं के सामीप्य भाव से 'विशेष परिणाम' उत्पन्न हो जाते हैं। उससे अहम् उत्पन्न होता है। इसमें आत्मा के मुख्य गुण बदले बगैर, स्वरूप में बदलाव हुए बगैर भी विशेष परिणाम आ जाता है। स्वरूप में बदलाव होने पर वह विरुद्ध भाव हो जाता है। खुद चेतन है, इस वजह से आत्मा में पहले विशेष भाव हुआ। जड़ में चैतन्यता नहीं होने के कारण पहले उसमें विशेष भाव उत्पन्न नहीं हो सकता।

विशेष भाव उत्पन्न होने के कारण दोनों अपने मूल भाव को चूक जाते हैं और संसारवृद्धि होती ही रहती है। जब आत्मा मूल भाव में आ

जाए, 'मैं कौन हूँ' ऐसा जाने, तब *पुद्गल* छूटता है और संसार अस्त होता है।

फिर तत्त्व मूल रूप से अपने स्वभाव से ही परिवर्तनशील है, जो कि संसार खड़ा होने का मुख्य कारण है। आत्मा निर्लेप है, असंग है, इसके बावजूद जड़ परमाणुओं के संसर्ग में आने के कारण व्यतिरेक गुण उत्पन्न हो जाते हैं। उससे कॉज़ेज़ एन्ड इफेक्ट, इफेक्ट एन्ड कॉज़ेज़ चलता ही रहता है।

क्रोध-मान-माया-लोभ को व्यतिरेक गुण कहा गया है, जो अहम् में से उत्पन्न हुए हैं। वे न तो जड़ के हैं और न ही चेतन के अन्वय गुण हैं। वे व्यतिरेक गुण हैं। दोनों के इकट्ठा होने से अहम् उत्पन्न होता है और अहम् में से अहंकार और व्यतिरेक गुण उत्पन्न होते हैं।

आत्मा के विशेष भाव से सब से पहले अहम् और उसके बाद अहंकार उत्पन्न होता है और फिर जड़ परमाणुओं के विशेष भाव से *पुद्गल* बनता है। *पुद्गल* अर्थात् *पूरण-गलन* (चार्ज होना, भरना - डिस्चार्ज होना, खाली होना) वाला। मन-वचन-काया, माया-वाया सबकुछ *पुद्गल* के विशेष भाव से हैं। अहम् और फिर अहंकार मात्र आत्मा का विशेष भाव है। अहंकार चला जाए तो सबकुछ अपने आप ही चला जाएगा।

आत्मा के विमुखपने में से सम्मुख होने तक चलने वाली सभी क्रियाओं में रोंग बिलीफें होती ही रहती हैं, जैसे-जैसे वे टूटती जाती हैं, वैसे-वैसे 'खुद' मुक्त होता जाता है। ज्ञान नहीं बदलता, मात्र मान्यताएँ ही बदली हुई हैं।

जैसे कि एक चिड़िया दर्पण में चोंच मारती रहती है, उस समय अहंकार मानता है कि चोंच मारने वाला खुद है और दर्पण वाली चिड़िया अलग है। सिर्फ यह बिलीफ ही बदली हुई है, यदि ज्ञान बदल गया होता तो उड़ने के बाद भी इसका असर रहता। लेकिन उड़ने के बाद कुछ भी नहीं। फिर उड़ते-उड़ते कहीं गलती से भी किसी चिड़िया को किसी चिड़िया पर चोंच मारते देखा है? यानी सिर्फ बिलीफ ही बदलती

है, ज्ञान नहीं! ज्ञान शाश्वत गुण है इसलिए अगर वह बदल जाएगा तो हमेशा के लिए ही बदल जाएगा! अत: आत्मा के द्रव्य में कुछ भी नहीं बिगड़ा है, मात्र बिलीफ ही बदलती है और उसके बदलने के प्रोसेस में बहुत सारी गुह्य प्रक्रियाएँ हो जाती हैं।

मूल आत्मा का कुछ भी नहीं बिगड़ा है। मात्र दर्शन शक्ति आवृत हो जाती है इसलिए 'मैं कौन हूँ' की मान्यता बदल जाती है। बचपन से ही अज्ञान प्रदान होता है कि 'मैं आत्मा' नहीं परंतु 'मैं चंदू, चंदू हूँ' तो फिर वैसा ही मानने लगता है। ज्ञान मिलने से सम्यक् दृष्टि का प्रदान होने से 'मैं' मूल स्थान पर बैठ जाता है और तमाम दु:खों का अंत आता है।

'*सामीप्य भावने लईने भ्रांति उत्पन्न थाय छे. भ्रांतिथी एकरूप भासे छे अने ते ज आखा जगतनी अधिकरण क्रिया छे.*'

आत्मा के विशेष परिणाम स्वरूप अहंकार हुआ। अहंकार होते ही परमाणु में प्रयोगसा हो जाता है।

शुद्ध परमाणु	– विश्रसा
अहम् परमाणु में तन्मयाकार हो जाता है	–प्रयोगसा
जब फल देता है तब	–मिश्रसा

प्रयोगसा के समय परमाणु जॉइन्ट नहीं रहते, मिश्रसा के समय रहते हैं। प्रयोगसा के समय तो परमाणु मिलने की तैयारी कर रहे होते हैं। उसमें से मिश्रसा तैयार होता है।

अहंकार जैसा चिंतवन करता है, वैसा ही *पुद्गल* बन जाता है! ऐसा क्रियाकारी है यह *पुद्गल*! *पुद्गल* स्वभाव से ही क्रियाकारी है, ऐसे में दोनों का कनेक्शन हुआ तो आत्मा और *पुद्गल* दोनों के विशेष परिणाम हुए! यदि अहंकार खत्म हो जाएगा तो आत्मा का विशेष परिणाम भी खत्म हो जाएगा। उसके बाद *पुद्गल* का विशेष परिणाम अपने आप ही खत्म हो जाएगा! अहम् जैसा चिंतन करता है, *पुद्गल* वैसा ही बन

जाएगा। ज्ञानी जब स्वरूप का ज्ञान देते हैं तो उससे निज स्वरूप का चिंतन होता है, इसलिए *पुद्गल* का चिंतन छूट जाता है। इससे *पुद्गल* भी छूटने लगता है। शुद्ध अहंकार (राइट बिलीफ वाला 'मैं') खुद का ही चिंतन करता रहता है। अर्थात् स्वाभाविक प्रकार से वह स्वभावमय हो जाता है। निज स्वभाव को पहचाना तभी से अहंकार गया।

आत्मा का विशेष भाव अहम् है और *पुद्गल* का विशेष भाव *पूरण-गलन* है। पहले आत्मा का विशेष भाव उत्पन्न होता है, उसके बाद *पुद्गल* का विशेष भाव होता है। अत: अहम् चले जाने पर *पुद्गल* कम होता जाएगा, छूटता जाएगा। मिश्रचेतन को ही *पुद्गल* कहा है।

परमाणु और *पुद्गल* में फर्क है। परमाणु, वे शुद्ध जड़ तत्त्व हैं। जिसे शुद्ध *पुद्गल* कहा जाता है और दूसरा विशेष भावी *पुद्गल* है। शुद्ध *पुद्गल* क्रियाकारी है। दो तत्त्वों के मिलने से विशेष भावी *पुद्गल* बन गया है। उससे रक्त, हड्डी, माँस वगैरह बनते हैं।

दो तत्त्वों के सामीप्य भाव से अहम् उत्पन्न हो गया है। वह खुद ही मूल व्यतिरेक गुणों का मुख्य स्तंभ है। यदि वह नहीं रहेगा तो सभी व्यतिरेक गुण खत्म हो जाएँगे!

रोंग बिलीफ, वही अहंकार है और राइट बिलीफ, वह 'शुद्धात्मा' है।

भाव करना चेतन की अज्ञानता है और कषाय *पुद्गल* के पर्याय हैं। अज्ञान चले जाने पर भाव होने बंद हो जाते हैं।

ज्ञानी स्वभाव भाव में रहते हैं और अज्ञानी को विशेष भाव रहते हैं, जो कि अज्ञान से उत्पन्न होते हैं। मूल आत्मा इसमें कुछ भी नहीं करता।

(२) क्रोध-मान-माया-लोभ, किसके गुण?

आत्मा के अन्वय गुण अर्थात् निरंतर साथ रहने वाले, जैसे कि अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, परमानंद। जड़ के संसर्ग से उत्पन्न होने वाले गुणों को व्यतिरेक गुण कहा गया है, जैसे कि क्रोध-मान-माया-लोभ।

इसमें भूल किसकी है?

जो भुगतता है उसकी!

कौन सी भूल?

रोंग बिलीफ!

कौन सी रोंग बिलीफ?

'मैं चंदूभाई हूँ', ऐसा माना, वह।

इसमें कोई भी दोषित नहीं है। न तो चेतन, न ही जड़। चेतन मात्र चेतन भाव करता है, उसमें से ही यह *पुद्गल* बन गया!

'मैं' की रोंग मान्यता ही दुःखदायी है। उसके निकलते ही पूर्णाहुति!

जो सामने वाले को गुनहगार दिखाते हैं वह, ये जो खुद के अंदर रहे हुए क्रोध-मान-माया-लोभ हैं, वे दिखाते हैं और वे सभी 'मैं चंदूभाई हूँ', ऐसा मानने से अंदर घुस गए हैं। इस मान्यता के टूटते ही वह घर खाली कर देता है।

चेतन, चेतन भाव करता है या विभाव करता है? चेतन, चेतन भाव ही करता है। स्वभाव और विशेष भाव, दोनों ही चेतन के हैं। विशेष भाव से यह संसार खड़ा हो गया है और वह जान-बूझकर विशेष भाव नहीं करता है, संयोगों के दबाव से उत्पन्न हो जाता है। चेतन जैसा भाव करता है, *पुद्गल* वैसा ही बन जाता है। स्त्री भाव करने से स्त्री बन जाता है और पुरुष भाव करने से पुरुष बन जाता है। यदि स्त्री भाव करता है अर्थात् कपट और मोह करता है तो उससे स्त्री के परमाणु बन जाते हैं। यदि पुरुष भाव करता है अर्थात् क्रोध और मान करता है तो उससे पुरुष के परमाणु बन जाते हैं।

व्यतिरेक गुण न तो जड़ में हैं, न ही चेतन में हैं। वे तो जो (उन्हें अपना) मानता है उसी के हैं। क्रोध-मान-माया-लोभ के लिए 'अहम्' ऐसा मानता है कि 'ये मेरे' हैं, इसीलिए उसकी मालिकी वाले हो जाते हैं।

अज्ञानी रोंग बिलीफ से क्रोध-मान-माया-लोभ को 'मेरे गुण' मानता है जबकि ज्ञानी राइट बिलीफ से उन्हें *पुद्गल* के (गुण) मानते हैं। वे कहते हैं कि 'ये गुण मेरे नहीं हैं'।

पूरा जगत् निर्दोष ही है, ज्ञानियों की दृष्टि में! कौन दोषित दिखाता है? ये व्यतिरेक गुण ही।

'मैं' रोंग बिलीफ से ऐसा मानता है कि 'मैं चंदू हूँ'। ज्ञानी उसे राइट बिलीफ देकर यह मान्यता दृढ़ करवा देते हैं कि, 'मैं शुद्धात्मा हूँ'। उसके बाद 'मैं' को खुद का विशेष भाव और स्वभाव, दोनों ही पता चल जाते हैं और निज स्वरूप का अनुभव हो जाता है। यह है अति-अति गुह्य विज्ञान, जगत् के मूल कारण का।

(३) व्यवहार अर्थात् विरुद्ध भाव?

मूल आत्मा ने कभी भी किसी कार्य के होने में प्रेरणा नहीं दी है। प्रेरणा देने वाला गुनहगार माना जाएगा।

वास्तव में इसमें प्रेरक कौन है? खुद के ही कर्मों का फल प्रेरक है और वह व्यवस्थित शक्ति से है। पिछले जन्म में भाव हुए हों, बीज पड़े हों, डॉक्टर बनने के तो इस जन्म में संयोग मिलने से वह उगता है। इन संयोगों का मिलना, साइन्टिफिक सरकमस्टेन्शियल एविडेन्स अर्थात् व्यवस्थित शक्ति के अधीन है और बीज का उगना, वह पूर्व कर्म का उदय हुआ, फल अर्थात् वह अंदर से जो प्रेरणा स्फुरित होती है, वह। विचार आता है कि डॉक्टर बनना है, वह पूर्व कर्म का फल माना जाता है। इसमें आत्मा का कर्तापन नहीं है।

आत्मा संकल्प-विकल्प नहीं करता है और वह भावकर्म भी नहीं करता और न ही कर्म ग्रहण करता है। वर्ना वह उसका शाश्वत स्वभाव बन जाएगा। अत: 'मैं' जो कि विशेष भाव है, वही कर्म ग्रहण करता है और भावकर्म भी 'मैं' ही करता है। क्योंकि भावकर्म तो, 'मैं' को जो द्रव्यकर्म के चश्मे मिलते हैं, उसके आधार पर भावकर्म हो जाते हैं। अभी तो मानो कि सभी भाव अहंकार के ही हैं। लेकिन शुरुआत में तो विशेष गुण उत्पन्न होते हैं और उससे भावकर्म शुरू हो जाते हैं।

क्रिया मात्र *पुद्गल* की व्यवस्थित शक्ति से होती है, विशेष भाव में क्या होता है? आठ प्रकार के द्रव्यकर्म बनते हैं जो कि भावकर्म करवाते हैं।

द्रव्यकर्म के पट्टे की शुरुआत कहाँ से हुई? विशेष भाव से ही पट्टे बंधे हैं, जिससे उल्टा दिखाई दिया और उल्टे भाव हुए। इसमें आत्मा की कोई क्रिया नहीं है। आत्मा की उपस्थिति के कारण इन आठ प्रकार के कर्मों में पावर भरा गया है। इसमें आत्मा की कोई क्रिया नहीं है। *पुद्गल* में पावर चेतन भर गया है। 'मैं' जैसा आरोपण करता है, उसी अनुसार *पुद्गल* में पावर चेतन भर जाता है और *पुद्गल* वैसा ही क्रियाकारी बन जाता है।

रागादि भाव आत्मा के नहीं हैं, वे विभाविक भाव हैं। आत्मा ज्ञान दशा में स्वभाव का ही कर्ता है और अज्ञान दशा में विभाव का कर्ता है, भोक्ता है। क्रमिक मार्ग में इस बात को एकांतिक रूप से ले लिया गया और बहुत बड़ा घोटाला हो गया। वहाँ पर आत्मा को कर्ता-भोक्ता मान लिया गया।

आत्मा कभी भी विकारी नहीं हुआ। *पुद्गल,* वह स्वभाव से सक्रिय होने के कारण विकारी बन सकता है। इसमें आत्मा की उपस्थिति कारणभूत है।

आत्मा यह सब केवलज्ञान से जान सकता है और दूसरा विशेष भाव से भी जान सकता है।

दो प्रकार के आत्मा हैं। एक, निश्चय आत्मा और दूसरा, व्यवहार आत्मा। निश्चय आत्मा की वजह से व्यवहार आत्मा उत्पन्न हो गया है। जैसे दर्पण के सामने हम दो दिखाई देते हैं न? व्यवहार आत्मा को प्रतिष्ठित आत्मा कहा गया है। खुद ने अपनी प्रतिष्ठा की है। वापस फिर से यदि 'मैं चंदू हूँ' की प्रतिष्ठा हो जाए तो उससे अगले जन्म का नया प्रतिष्ठित आत्मा सर्जित होता है। ज्ञान मिलने के बाद 'मैं शुद्धात्मा हूँ', ऐसा हो जाता है, इसलिए उल्टी प्रतिष्ठा होनी बंद हो जाती है। नया

प्रतिष्ठित आत्मा उत्पन्न नहीं होता और पुराना प्रतिष्ठित आत्मा डिस्चार्ज होता रहता है।

'आप' व्यवहारिक कार्य में मस्त रहते हो तो व्यवहार आत्मा और 'आप' यदि निश्चय में मस्त रहते हो तो 'आप' 'निश्चय आत्मा' हो। मूलत: 'आप' और 'आप' ही हो लेकिन कहाँ बरत रहे हो उस पर आधारित है।

व्यवहार आत्मा या प्रतिष्ठित आत्मा, वही अहंकार है। जिसमें एक सेन्ट भी चेतन नहीं है।

आत्मा का कोई प्रमाण नहीं है, लेकिन अनुपचरित व्यवहार का प्रमाण है ही। कोई भी उपचार किए बिना शरीर बन गया। लोगों ने उसके लिए कह दिया कि भगवान ने बनाया।

अनुपचरित व्यवहार क्या है?

लौकिक दृष्टि से जो, कुछ भी नहीं करने से होता है, वह अनुपचरित व्यवहार है।

बाकी, वास्तव में देखा जाए तो हर व्यवहार सिर्फ अनुपचरित है, क्योंकि वह भी संयोगों की वजह से हो जाता है। अरे, विशेष भाव भी दो तत्त्वों के पास-पास आने से अपने आप ही हो जाता है न! सैद्धांतिक रूप से हर व्यवहार अनुपचरित है, लेकिन ज्ञानी की दृष्टि से!

सूर्य की उपस्थिति में संगमरमर गर्म हो जाता है और जो ऊर्जा उत्पन्न होती है, वह कौन करता है? प्रेरक कौन है? कोई भी नहीं। इसी प्रकार आत्मा प्रेरणा नहीं देता है वर्ना वह बंधन में आ जाएगा। यह प्रेरणा है पावर चेतन की। दूसरी चीज़ मिली इसलिए पावर चेतन बन गया। और अगर हट जाए तो फिर कुछ भी नहीं है। ज्ञानी, मोक्षदाता पुरुष दोनों को अलग कर देते हैं।

(४) प्रथम फँसाव आत्मा का

जगत् अनादि अनंत है। उसे बनाने वाला, चलाने वाला कोई नहीं

है। द वर्ल्ड इज़ द पज़ल इटसेल्फ। गॉड हैज़ नॉट पज़ल्ड दिस वर्ल्ड एट ऑल, ओन्ली साइन्टिफिक सरकमस्टेन्शियल एविडेन्स।

गर्म लोहे पर हथौड़ा मारा जाए तो क्या अग्नि को लगेगी? अनादिकाल से आत्मा को कुछ भी नहीं होता और आत्मा कुछ करता भी नहीं है। जो कुछ भी है, वह अहंकार को ही होता है।

रोंग बिलीफ कौन करता है?

अहंकार करता है।

क्या बुद्धि रोंग बिलीफ नहीं करती?

बुद्धि के पास रोंग बिलीफ करने का रास्ता ही नहीं है।

रोंग बिलीफ करने वाला भी रोंग बिलीफ है, और वह रोंग बिलीफ में रहकर रोंग बिलीफ करता है।

ये सभी भ्रमणाएँ बुद्धि की वजह से हुई हैं। अहंकार खुद अंध होने के कारण बुद्धि की आँखों से चलता है और उससे संसार खड़ा हो गया है।

कर्म का न तो आदि है, न अंत। पानी में ऑक्सीजन पहले आया या हाइड्रोजन? जड़-चेतन के मिलने से विशेष गुण उत्पन्न हो गया, कर्तापना का और उससे कर्म बंधते हैं। कर्तापना के गुणधर्म की वजह से कर्म बंधन होता है।

जड़ और चेतन के एक-दूसरे के पास-पास आने की वजह से वे एक-दूसरे पर असर डालते हैं। जड़ का असर चेतन पर और चेतन का असर जड़ पर पड़ता है। और वास्तव में चेतन जड़ वाला हो नहीं जाता है परंतु चेतन की बिलीफ बदल जाती है, रोंग बिलीफ बैठ गई है।

जीव किन कर्मों की वजह से निगोद में रहता है? निगोद के जीव अर्थात् संपूर्ण रूप से कर्म से आरोपित। भयंकर कर्मों की वजह से वहाँ पर हैं। वहाँ पर अभी तक एक भी कर्म छूटा ही नहीं है। यानी कि

प्रकाश (आत्मा का ज्ञान) बाहर निकला ही नहीं है। वहाँ पर एक इन्द्रिय भी प्रकट नहीं हुई है। आवरण कम होने के बाद ही वह निगोद में से व्यवहार राशि में, एकेन्द्रिय में आता है।

अत: निगोद के जीव और एकेन्द्रिय वगैरह जीवों को तो भयंकर कर्म भुगतने होते हैं। जैसे-जैसे वे कर्म भोगते जाते हैं, वैसे-वैसे उनकी ऊर्ध्वगति होती जाती है। जैसे-जैसे आवरण टूटते जाते हैं, प्रकाश बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय फिर पंचेन्द्रिय में आता है। अज्ञानता से लोग जानवर गति की प्रशंसा करते हैं, पेड़ की सहनशीलता की प्रशंसा करते हैं, ऐसा मानते हैं कि वैसा ही बनना चाहिए, वह भयंकर आवरण लाने वाली चीज़ है।

क्या निगोद में व्यतिरेक गुण होते हैं?

व्यतिरेक गुण तो पहले से ही हैं अव्यवहार के जीवों में, अंत में जब व्यतिरेक गुण पूर्ण रूप से खत्म हो जाते हैं तब वह सिद्ध भगवान बन जाता है!

संयोगों का अनंत जथ्था है, उसमें आत्मा की नज़र तिरछी हो गई (विभाविक ज्ञान-दर्शन) और सब उससे चिपक पड़ा।

एक आँख ऐसे एंगल से दब जाए कि सबकुछ दो-दो दिखाई देने लगे तो वह मिथ्या दृष्टि है। इस प्रकार यह संसार, संयोगों के दबाव से तिरछी नज़र होने की वजह से खड़ा हो गया है। अगर दबाव हट जाए तो वह मूल भगवान स्वरूप हो जाएगा।

संयोगों के दबाव से रोंग बिलीफ उत्पन्न हो गई। रोंग बिलीफ से अहंकार खड़ा हुआ कि 'मैं कर रहा हूँ'। अहंकार कोई चीज़ नहीं है, मात्र रोंग बिलीफ ही है। फिर भी ऐसा है कि (स्थूल) अहंकार की छाप शरीर पर पड़ती है।

क्या आत्मा में शुरुआत से ही ज्ञान था?

क्या कभी ऐसा हो सकता है कि दर्पण में हम न दिखें? कभी जब कोहरे का असर हो जाए बस तभी नहीं दिखाई देता।

पूरा व्यवहार संयोगों से भरा हुआ है। मोक्ष में जाने का समय आए तब उसे सभी साधन मिल जाते हैं। जैसे कि शास्त्र, ज्ञानी पुरुष...

''कोटि वर्षनुं स्वप्न पण, जागृत थतां समाय,
एम विभाव अनादिना, ज्ञान थतां दूर थाय।''

(''कोटि वर्षों का स्वप्न भी जागृत होते ही खत्म हो जाता है। उसी प्रकार अनादि का विभाव ज्ञान होते ही दूर हो जाता है।'')

-श्रीमद् राजचंद्र

(५) अन्वय गुण - व्यतिरेक गुण

निरंतर मूल आत्मा के साथ रहने वाले गुण खुद की मालिकी के हैं, वे अन्वय गुण हैं, जैसे कि ज्ञान, दर्शन, सुख, शक्ति, ऐश्वर्य। विभाव दशा में उत्पन्न होने वाले गुण, वे व्यतिरेक गुण अर्थात् क्रोध-मान-माया-लोभ हैं।

मोक्ष के लिए सद्गुणों की कोई कीमत नहीं है क्योंकि वे व्यतिरेक गुण हैं, पौद्गलिक गुण हैं, विनाशी गुण हैं।

'व्यवस्थित' शक्ति तो व्यतिरेक गुण उत्पन्न होने के बाद में उत्पन्न हुई है, पहले नहीं।

नगीनदास सेठ रात को ज़रा जाम पर जाम लगा दें तो? 'मैं प्रधानमंत्री हूँ' ऐसा बोलने लगेंगे न? उस समय शराब का *अमल* (असर) बोलता है, भ्रांति है। इसमें आत्मा नहीं बिगड़ा है, इसमें सेठ का ज्ञान बिगड़ा है। और जड़ व चेतन की भ्रांति से दर्शन बिगड़ता है, जो उल्टा ही दिखाता है।

माया अर्थात् स्वरूप की अज्ञानता। 'मैं कौन हूँ' की अज्ञानता ही माया है।

अहंकार और मोहनीय में क्या फर्क है?

सेठ ने शराब पी तो शराब का *अमल* (असर) अर्थात् मोहनीय

कर्म उत्पन्न हो गया और जो मोहनीय की वजह से ऐसा कहता है, 'मैं प्रधानमंत्री हूँ', वह अहंकार है। यहाँ पर लोगों में *पुद्गल* (जो पूरण और गलन होता है) का *अमल* है। इसलिए जैसा है वैसा कहने की बजाय उल्टा कहते हैं।

आत्मा और दूसरे संयोगों के दबाव से भ्रांति उत्पन्न हो गई। भ्रांति से बिलीफ ही बदली है, ज्ञान नहीं। यानी कि अज्ञान था तो नहीं लेकिन बाद में संयोगों के दबाव से उत्पन्न हो गया। अंधेरे में भी शराब पीने के बाद में सेठ को कुछ नया ही होता है न!

मूल आत्मा को कभी भी अज्ञान हुआ ही नहीं। विशेष परिणाम से ही रोंग बिलीफ हो गई है, न कि रोंग बिलीफ से विशेष परिणाम उत्पन्न हुआ है और रोंग बिलीफ से पूरा संसार खड़ा हो गया है। इसके बावजूद भी इसमें मूल आत्मा खुद तो अज्ञान से, रोंग बिलीफ से, सभी से तीनों ही काल में मुक्त ही है।

बर्फ से भरे ग्लास में कुछ ही देर में ग्लास के बाहर पानी जैसा दिखने लगता है, उसके बाद पानी की बूँदें बनती हैं, फिर पानी की धार बहती है। उसके बाद पानी नीचे भी बहने लगता है। इसमें बर्फ वैसे का वैसा ही है, वह कुछ भी नहीं करता है लेकिन संयोगों की वजह से यह सब होता है। इसमें कौन ज़िम्मेदार है?

(६) विशेष भाव - विशेष ज्ञान - अज्ञान

संसार का ज्ञान, वह ज्ञान ही है, अज्ञान नहीं है लेकिन अगर मोक्ष में जाना हो तो वह अज्ञान है। आत्मा के वास्तविक ज्ञान को समझना पड़ेगा। लोग विशेष ज्ञान को अज्ञान कहते हैं।

विभाव अर्थात् मूल ज्ञान-दर्शन स्वाभाविक तो हैं ही लेकिन यह विशेष भाव, विशेष ज्ञान उत्पन्न हो गया है। जिसे नहीं जानना है, उसे जानने गए, वह है विशेष ज्ञान।

अज्ञान भी एक प्रकार का ज्ञान ही है। वास्तव में उसे अज्ञान नहीं

कहा जाता लेकिन ज्ञानियों की भाषा में उसे विशेष ज्ञान कहा जाता है। अज्ञान भी प्रकाश है। पूर्ण नहीं, परंतु क्षयोपशम वाला।

आत्मा के एक-एक प्रदेश पर जड़ परमाणु चिपके हुए हैं, जो आत्मा के मूल गुण पर आवरण लाते हैं। निगोद में यह आवरण सौ प्रतिशत है। जैसे-जैसे जीव का इवोल्यूशन होता है यानी कि आवरण हटते जाते हैं, वैसे-वैसे उसका ज्ञान व्यक्त होता जाता है। ९९, ९८, ९७... इस प्रकार जैसे-जैसे धीरे-धीरे बाहर आवरण कम होते जाते हैं, वैसे-वैसे एक प्रतिशत, दो प्रतिशत, तीन प्रतिशत, चार प्रतिशत ज्ञान स्थूल में प्रकट हो जाता है। जैसे कि एकेन्द्रिय जीव, दो इन्द्रिय जीव का डेवेलपमेन्ट होता जाता है, वैसे-वैसे...

लेकिन अभी जब तक अज्ञान का आवरण है, तब तक उसे अज्ञान कहा गया है। अज्ञान और संयोगों का दबाव (जड़ तत्त्व का दबाव), इन दोनों के मिलने से आत्मा का ज्ञान-दर्शन नामक गुण विभाविक हो जाता है। दोनों में से पहले दर्शन विभाविक होता है। उससे 'मैं' उत्पन्न हो जाता है। (फर्स्ट लेवल का विभाव, विशेष भाव) उसके बाद जैसे-जैसे 'मैं' की रोंग बिलीफ आगे बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे 'मैं चंदू हूँ, मैं कर रहा हूँ', ऐसा मानता जाता है।

वह सेकन्ड लेवल का विशेष भाव, जिसमें 'मैं' को 'मैं चंदूभाई हूँ' की रोंग बिलीफ हो जाती है, वह फिर जब गाढ़ हो जाती है तब उसे, ज्ञान में परिणामित हुई, ऐसा कहा जाता है। वह विभाविक ज्ञान कहलाता है। जिसे बुद्धि कहा गया है और वहाँ पर जड़ परमाणुओं में प्रकृति उत्पन्न हो जाती है।

आत्मा को भ्रांति हो गई है, ऐसा लोकभाषा में कहना पड़ता है। लेकिन वास्तव में उसे भ्रांति नहीं होती है। वर्ना वह मूल रूप में नहीं आ पाता। वास्तव में तो भ्रांति किसे कहते हैं? अंदर दु:ख होता है तब मन में ऐसा लगता है कि 'इतना सब जानने के बावजूद ऐसा क्यों? इसलिए कुछ तो अलग है, यह मेरा स्वरूप नहीं है।' इसे भ्रांति होना कहते हैं।

बहुत ही फर्क है, विशेष भाव और विशेष ज्ञान में। विशेष भाव, वे आत्मा के पर्याय नहीं हैं लेकिन वे दो चीज़ों के सामीप्य भाव से उत्पन्न होते हैं। विशेष भाव तो सिर्फ अहंकार है। वह तो व्यतिरेक गुण है। विशेष ज्ञान, वह ज्ञान जिसकी ज़रूरत नहीं है, यदि उसे बीच में लाएँ तो उसका क्या अर्थ है? व्यतिरेक गुण की वजह से ही विशेष ज्ञान उत्पन्न होता है। विशेष ज्ञान के कारण व्यतिरेक गुण उत्पन्न नहीं होता। सामान्य ज्ञान को दर्शन कहा गया है। मोक्ष में दर्शन की ही कीमत है जबकि विशेष ज्ञान *पुद्गल* में देखने जाता है कि 'यह क्या है? नीम है? आम है?' वह विशेष ज्ञान है।

'ज्ञान' एक ही है, उसके भाग अलग-अलग हैं। जैसे 'रूम' को देखे तो 'रूम' और 'आकाश' को देखे तो 'आकाश'। जब तक विशेष ज्ञान से देखता है तब तक आत्मा दिखाई ही नहीं देता। आत्मा को जानने के बाद में दोनों दिखाई देते हैं।

आत्मा खुद ज्ञान ही है, वास्तव में ज्ञान वाला नहीं लेकिन ज्ञान ही है। ज्ञान वाला कहेंगे तो 'ज्ञान' और 'वाला' दोनों अलग हैं लेकिन वास्तव में आत्मा खुद 'ज्ञान' ही है, प्रकाश ही है! उस प्रकाश के आधार पर ही 'उसे' सबकुछ 'समझ में' आता है, वह सबकुछ 'जानता' है।

क्या जड़ और चेतन के मिलने से पुरुष और प्रकृति बने हैं? नहीं, प्रकृति बाद में बनी। विशेष परिणाम का जो रिज़ल्ट आया, वही प्रकृति है।

पाँच तत्त्वों में आत्मा का विशेष भाव अंदर आया, उससे प्रकृति बनी और फिर वह निरंतर फल देती ही रहती है। प्रकृति और पुरुष के अलग होने के बाद रियल पुरुषार्थ शुरू होता है। स्वभाव, पुरुष है और प्रकृति, भ्रांति है।

परमाणुओं के प्रसवधर्मी होने के कारण चेतन तत्त्व का ज्ञान विभाविक होते ही प्रकृति सर्जित हो जाती है। जो प्रकृति बाहर दिखाई देती है, वह उसका विसर्जित होता हुआ भाग दिखाई देता है। उसके

बावजूद मूल शुद्ध द्रव्य, शुद्ध चेतन और शुद्ध जड़ जैसे हैं वैसे ही रहते हैं।

प्रसवधर्मी प्रकृति की शक्ति अभी परमात्मा से भी कहीं ज़्यादा है लेकिन उसमें चैतन्य शक्ति नहीं है। चेतन को सिर्फ स्पर्श करने से ही प्रकृति चार्ज हो जाती है।

ज्ञान, भान और वर्तन एकाकार हो जाने के बाद पूर्ण परमात्मा बनता है।

समुद्र की खारी हवा छूते ही लोहे पर ज़ंग चढ़ जाता है। इसमें कर्ता कौन है? किस प्रकार से हुआ? यह तो ऐसा है कि विज्ञान के नियम के अधीन ही दो चीज़ों के इकट्ठे होने से तीसरा नया ही परिणाम, विशेष परिणाम उत्पन्न होता है, इसमें कोई गुनहगार नहीं है। इसमें यह जो ज़ंग है, वही अहंकार है, जिससे प्रकृति बनती है और लोहे को आत्मा समझना। मूल तत्त्व को कुछ भी नहीं होता। लोहा, लोहे का काम करता है और ज़ंग, ज़ंग का काम करता है।

यदि निरंतर देखता रहे कि अंत:करण क्या कर रहा है, तो वह ज्ञान केवलज्ञान तक पहुँच जाएगा।

(७) छः तत्त्वों के समसरण से विभाव

जड़ व चेतन, ब्रह्मांड में (लोक में) दोनों शुरू से साथ में ही थे। छः तत्त्व साथ में ही हैं। छः अलग हो जाएँगे तभी अपने-अपने गुणधर्म में आएँगे। छः तत्त्वों में विधर्म घुस गया है लेकिन उनमें से चार तत्त्व विधर्मी नहीं हुए हैं, साथ में रहने के बावजूद भी स्वधर्म में रह सकते हैं जबकि *पुद्गल* और आत्मा की विभाविक दशा के कारण ये दोनों विधर्मी बन गए हैं। बाकी के चार विधर्मी नहीं बनते। आत्मा विधर्मी है अर्थात् भ्रांति उत्पन्न हो गई कि यह 'मैं कर रहा हूँ' और *पुद्गल* विधर्मी अर्थात् वह जो प्रयोगसा होने से बनता है। उसमें रक्त, पीप व माँस नहीं होता। इसमें विधर्मी *पुद्गल* और विभाविक *पुद्गल* दो अलग ही हैं। विभाव दशा में आया हुआ प्रथम 'अहम्' यानी कि 'मैं' के उत्पन्न होने

के बाद कर्तापन से 'मैं कर रहा हूँ', ऐसी मान्यता से *पुद्गल* में जो परिवर्तन आता है, उसे विभाविक *पुद्गल* (मिश्रसा) कहते हैं। जो विधर्मी *पुद्गल* से भी बहुत आगे स्थूल में चला गया है और उसमें रक्त, पीप और माँस होता है।

जगत् में छः शाश्वत द्रव्य (तत्त्व) मिलते हैं और फिर अलग हो जाते हैं, ऐसा निरंतर चलता ही रहता है। तत्त्व मिक्स्चर के रूप में रहते हैं, कम्पाउन्ड नहीं बनते। यदि कम्पाउन्ड बन जाएँ तब तो ऐसा माना जाएगा कि एक-दूसरे से उधार लिया।

जगत् का कारण ये छः द्रव्य हैं। इन सब के उत्पन्न होने का मूल कारण *पुद्गल* ही है। जो पाँच इन्द्रियों से अनुभव किया जा सके, वह सारा *पुद्गल* प्रभाव है। *पुद्गल* के रूपी भाव के कारण विशेष भाव उत्पन्न होता है।

ये जो परमाणु हैं, वे तत्त्व हैं, *पुद्गल* कोई तत्त्व नहीं है। वह विशेष परिणाम है। आत्मा के विशेष परिणाम के कारण इन परमाणुओं में विशेष परिणाम भास्यमान होता है। जैसे कि दर्पण के सामने कुछ भी करने से वह उसका परिणाम बताता है न!

जड़ और चेतन, इन दोनों से ही विभाव होता है। अन्य तत्त्व मिलते हैं लेकिन विभाव होने में उनसे कोई मदद नहीं मिलती, वे उदासीन भाव से रहे हुए हैं।

दो द्रव्यों से विभाव होने के बाद फिर बाकी के चार द्रव्य उदासीन भाव से इन दोनों की मदद करते हैं यानी कि चोर की भी मदद करते हैं और दानवीर की भी करते हैं।

छः तत्त्वों में से कोई भी किसी का विरुद्धधर्मी नहीं है। हाँ, हर एक के अपने-अपने धर्म हैं, अलग और स्वतंत्र धर्म हैं। इन सब में से कोई किसी में दखल नहीं करता।

सब निमित्त नैमित्तिक है। वर्ना यदि एक-दूसरे पर उपकार होने लगे तो वह वापस कब उतारेगा?

'दादा' का जो अक्रम ज्ञान है, वह चेतन ज्ञान है। इसके मिलते ही यह दोनों में भेद डाल देता है! यह व्यतिरेक गुणों का ज्ञान नहीं है, मूल ज्ञान है।

यह जो व्यवस्थित शक्ति है, वह छः द्रव्यों के अंदर है, उनसे बाहर तो कुछ है ही नहीं।

दर्पण का संसर्ग दोष लगने से खुद जैसे ही दूसरे 'चंदूभाई' दिखाई देते हैं न? काल परिपक्व होने पर वह बंद हो जाता है, संयोग वियोगी स्वभाव के ही हैं।

इस संसार मार्ग की भटकन में किसी का दोष नहीं है। यह सब विशेष भाव उत्पन्न होने से हुआ है।

क्या सामीप्य भाव भी नियति के अधीन है? नियति के कारण ये सभी तत्त्व इकट्ठे होते हैं। फिर विशेष भाव उत्पन्न होता है। नियति कुदरती रूप से नियति ही है। वह बहाव है इस जगत् का। ये सभी मनुष्य उसके बहाव में चल रहे हैं, नियति के प्रवाह में!

समसरण मार्ग नियति की वजह से ही बह रहा है। उसमें बदलाव नहीं हो सकता। (नियति के बारे में और अधिक सत्संग, आप्तवाणी-११(पू.) गुजराती का पेज नं.-२७०)

समुद्र और सूर्यनारायण, दोनों के मिलने से भाप बनती है। उसमें कर्ता कौन है? उसमें दोनों के अपने-अपने गुणधर्म ज्यों के त्यों रहते हुए नया व्यतिरेक गुण उत्पन्न होता है। इसी प्रकार आत्मा और जड़ तत्त्व के मिलने से यह जगत् व्यतिरेक गुण उत्पन्न करता है, जो क्रोध-मान-माया-लोभ कहलाते हैं।

आत्मा की उपस्थिति से ही यह पूरा जगत् बन गया है। उपस्थिति के बिना तो कुछ भी नहीं हो सकता। यह पूरा विज्ञान है! इसमें आत्मा ने कहाँ कुछ किया ही है?

आत्मा की उपस्थिति की क्या भूमिका है?

रोंग बिलीफ - आत्मा की उपस्थिति से ही होती है।

राइट बिलीफ - आत्मा की उपस्थिति से ही होती है।

परमात्मा पद - आत्मा की उपस्थिति से ही मिलता है।

(८) क्रोध-मान से 'मैं', माया-लोभ से 'मेरा'

जड़ + चेतन - विशेष भाव।

विशेष भाव में क्या हुआ?

१) 'मैं कुछ हूँ।'

२) 'मैं कर रहा हूँ' और यह सब 'मैं जानता हूँ'!

इससे बन गया समस्त संसार...

'मैं' का मूल है अज्ञानता।

'मैं' अर्थात् अहम् फिर आगे जाकर अहंकार बनता है। ये सब जो हैं, वे व्यतिरेक गुण हैं।

व्यतिरेक गुणों से क्रोध-मान-माया-लोभ उत्पन्न हो गए। क्रोध और मान से 'मैं' बना और लोभ और माया (कपट) से 'मेरा' बना। चारों में से दो से 'मैं' और दो से 'मेरा' बना।

जब यह देह छूटती है तब इस जन्म का अहंकार खत्म होता है और दूसरी तरफ अगले जन्म का तैयार होता है। नया अहंकार कॉज़ेज़ के रूप में उत्पन्न हुआ, वह अहंकार अगले जन्म में जाता है। बीज में से वृक्ष और वृक्ष में से बीज...

यों तो ऐसा नहीं कह सकते कि अहंकार की बिगिनिंग है। शुरू से सबकुछ है ही। यह तो साधारण समझाने के लिए कह रहे हैं कि कॉज़ेज़ में 'उसने', 'मैं हूँ और मेरा है', ऐसा किया, जिससे इफेक्ट शुरू हो गया। और दूसरा तत्त्व मिलने से 'उसे' 'मैं और मेरे' की विभ्रमता हो गई और उसमें से शुरू हो गए क्रोध-मान-माया-लोभ।

मूल 'लाइट' (आत्मा का ज्ञान) है, लेकिन लोगों ने अज्ञान प्रदान किया कि आप चंदूभाई हो तो आपने भी मान लिया कि 'मैं चंदूभाई हूँ'। इसलिए ऐसा कहा जाता है कि अहंकार उत्पन्न हो गया और वह अहंकार मूल 'लाइट' का रिप्रेज़न्टेटिव बन गया। जब उस रिप्रेज़न्टेटिव की 'लाइट' से देखा तो वह हुई बुद्धि।

कषाय प्रोडक्शन है और मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार उसके इफेक्ट हैं। प्रोडक्शन अर्थात् कॉज़ेज़, अर्थात् विभाविक स्वरूप होना, *उपाधि* (बाहर से आने वाला दु:ख, परेशानी) स्वरूप होना वह।

इनमें से प्रथम क्या है? इफेक्ट (मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार) या कॉज़ेज़ (क्रोध-मान-माया-लोभ)?

इसमें पहला मूल प्रोडक्शन, क्रोध-मान-माया-लोभ हुए, उनसे कर्म चार्ज होने लगे, वही भावकर्म है।

क्रोध हुआ, उसका उपयोग हुआ, उससे कर्म चार्ज होते हैं और अगर वह उपयोग के बिना पड़ा रहे तो कोई हर्ज नहीं। कर्म बंधन होता है, उसके बाद में डिस्चार्ज होते समय उसका इफेक्ट आता है। वही अहंकार है और अंत:करण जिसमें मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार आते हैं।

इफेक्टिव अंत:करण में से अज्ञानी को नया चार्ज होता है और स्वरूप-ज्ञानी (महात्माओं) का चार्ज बंद हो जाता है। इसमें पूरा अंत:करण इफेक्टिव है। (कोई भी कार्य) पहले अंत:करण में होता है, उसके बाद बाह्यकरण में आता है।

पहले अंदर सूक्ष्म में क्रोध होता है और जो बाहर निकल जाता है, वह स्थूल क्रोध है। दोनों इफेक्ट ही हैं।

इसमें प्रथम कौन है?

क्रोध-मान-माया-लोभ माँ-बाप हैं और उसके बाद उनकी वंशावली मन-बुद्धि-चित्त और अहंकार।

अव्यवहार राशि के जीवों की तो गाढ़ विभाव दशा होती है।

अव्यवहार राशि के कर्म व्यवहार राशि में भुगतता है और इन सब से पहले अहम् तो खड़ा हो ही चुका होता है। विशेष भाव उत्पन्न हुआ तभी से!

आत्मा का जन्म नहीं होता है। अहंकार का जन्म-मरण होता है। आत्मा पर आवरण चढ़ते-उतरते रहते हैं।

'आप' जब तक 'मैं' में बरतोगे, तब तक स्वरूप का भान नहीं होगा और तब तक 'मैं' अलग ही रहेगा। 'मैं' व्यतिरेक गुण है।

यह जो आत्मा का विभाव है, वह अहंकार है।

हर एक में चेतन एक सरीखा ही है लेकिन जड़ कभी भी एक सरीखा नहीं हो सकता।

विशेष परिणाम का मूल कारण है, दो द्रव्यों का पास-पास आना।

पास-पास आने से खुद का मानते हैं। उस रोंग बिलीफ से क्रोध-मान-माया-लोभ उत्पन्न हो जाते हैं। फिर आगे जाकर पूरा अंत:करण बन जाता है। मन तो अहंकार ने बनाया है। वे उनके वारिस हैं! पिछले जन्म में अहंकार ने मन क्रिएट किया था, उसमें से आज के विचार आते हैं।

जड़ व चेतन एक साथ थे, जो कॉज़ेज़ पैदा कर रहे थे, ज्ञानी उन्हें अलग कर देते हैं। इसलिए अब उनमें क्रोध-मान-माया-लोभ उत्पन्न ही नहीं होते। इसीलिए कॉज़ बंद हो जाते हैं। इसीलिए तो वे ज्ञानी कहलाते हैं। जिनमें ये एक साथ रहते हैं, इकट्ठे रहते हैं, वे अज्ञानी हैं। ज्ञानी के लिए मन ज्ञेय होता है इसलिए नए परिणाम उत्पन्न नहीं होते। पिछले परिणामों को 'देखते' ही रहते हैं। पहले मन में विचर रहे थे, इसलिए विचार उत्पन्न होते थे। यदि सिर्फ 'देखें' तो नहीं होंगे।

अहंकार को दु:ख होता है, इसलिए उसे इसमें से मुक्त होना है। मैं पन और मेरापन उत्पन्न हुआ, उसे निभाता कौन है? आत्मा की उपस्थिति।

स्वरूप ज्ञान प्राप्ति के बाद में क्रोध-मान-माया-लोभ *पुद्गल* के गुण माने जाते हैं। अज्ञान दशा में वे आत्मा के गुण माने जाते हैं लेकिन वास्तव में ऐसा नहीं है। अहंकार सिर्फ उसे अपने ऊपर ले लेता है। ज्ञान के बाद आज्ञा में रहने से कषाय स्पर्श नहीं करते।

जो अनंत सुखधाम है, क्या ऐसे आत्मा को चिंता हो सकती है ? यह तो भ्रांत मान्यता है कि आत्मा चिंता करता है। ऐसा कौन मानता है ? अहंकार। जो अलग रहता है, दूसरे को गुनहगार सिद्ध करके।

(९) स्वभाव - विभाव के स्वरूप

हर एक द्रव्य सत् है, अविनाशी है, परिवर्तनशील है और सदा खुद के स्वभाव में ही स्थिर रहता है।

जगत् के तमाम संयोग स्वभाव से ही चल रहे हैं।

विभाव उत्पन्न होने के बाद भी स्वभाव स्वभाव में ही रहता है और विभाव के खुद के नए ही गुण उत्पन्न होते हैं।

स्वभाव से यह दुनिया चल रही है और विभाव से टकराव होते हैं। स्वभाव मोक्ष में ले जाता है, विभाव संसार में भटकाता है।

मेहनत करना विभाव है और अकर्तापन स्वभाव है। स्वभाव में जाने के लिए मेहनत नहीं है, लेकिन विभाव में जाने में है।

रियल धर्म स्वाभाविक धर्म है। व्यवहार धर्म विभाविक धर्म है। जिसमें तप, त्याग, ग्रहण करना होता है।

वस्तु स्वभाव में आ जाए, उसे मोक्ष कहते हैं।

स्वभाव ही आत्मा की मूल सत्ता है, विशेष परिणाम नहीं। विशेष परिणाम, वह विभाविक सत्ता है, संयोगी सत्ता है, मूल नहीं है।

आत्मा खुद के स्व-स्वभाव कर्मों का कर्ता है, अन्य किसी का नहीं। जैसे प्रकाश स्वाभाविक रूप से सभी को प्रकाशित करता है, वैसा ही आत्मा का है। भ्रांति से उसे संसार का कर्ता कहा गया है।

पर-स्वभाव भाव, वह पर-परिणति है। करता है दूसरा कोई और खुद मानता है 'मैं कर रहा हूँ', वह है पर-परिणति!

परम पूज्य दादाश्री विज्ञान को जैसा है वैसा देखकर बताते हैं। आत्मा किसी चीज़ का कर्ता है ही नहीं और कर्ता के बिना कुछ होता नहीं है।

खुद संसार का चित्रण करता है और विचित्रता लाती है 'कुदरत'।

आत्मा हर एक जीव में है लेकिन बाहर का भाग डेवेलप होते-होते आत्म स्वभाव की तरफ जाता है। विभाव, स्वभाव की तरफ जाता है।

दर्पण के सामने खड़े रहने वाला और दर्पण में प्रतिबिंब, दो एक सरीखे ही लगते हैं, मूल आत्मा और उसी जैसा 'मैं' (व्यवहार आत्मा) जब दोनों एक सरीखे हो जाएँगे, तब मुक्त हो पाएँगे। दोनों अलग हैं, इसलिए संसार बना।

अहंकार को शुद्ध करके आत्मस्थिति में आना पड़ेगा।

सभी ज्ञान आत्मा में से ही निकलते हैं।

पुद्गल खुद के स्व-द्रव्य के अधीन है। हर एक तत्त्व अपने-अपने द्रव्य के अधीन हैं। कोई द्रव्य दूसरे द्रव्य में जाता ही नहीं है और खुद का स्वभाव छोड़ता ही नहीं है।

विभाव अर्थात् पौद्गलिक ज्ञान और दूसरा है आत्मा का स्वाभाविक ज्ञान।

स्वभाव में रहना, ज्ञाता-दृष्टा रहना, वह चारित्र है। कोई गाली दे तब खुद के अंदर जो-जो चल रहा है, आत्मा उसका ज्ञाता-दृष्टा रहता है।

विभाव में से भावना और भावना में से वासना। भौतिक सुख की भावना, वही वासना है।

क्या *पुद्गल* विकारी बन सकता है ?

नहीं ! वह खुद विकारी नहीं बनता। *पुद्गल* सक्रिय स्वभाव वाला है अर्थात् अक्रिय नहीं है। सक्रिय अर्थात् क्रियाकारी है वह, लेकिन उसके विकारी होने का कारण यह है कि वह व्यतिरेक गुणों को खुद के गुण मानता है। फिर ये व्यतिरेक गुण पावर चेतन वाले हैं।

आत्मा के विभाव से राग-द्वेष और स्वभाव से वीतरागता !

चेतन और जड़, दोनों की धाराएँ अलग-अलग हैं। फिर बहती भी हैं निज-निज धारा में। यदि एक धारा में बहेंगी तो विभाव में परिणामित होंगी।

आत्मा का अंतिम पद है विभाव में से स्वभाव में आना।

वस्तु खुद के स्वभाव को भजे, वह धर्म है। आत्मा खुद के स्वभाव को भजे तो वह आत्मधर्म है, वही मोक्ष है।

बाकी, आत्म स्वभाव में न तो धर्मध्यान है, न ही अन्य कोई ध्यान ! चारों ध्यान, शुक्लध्यान भी विभाव दशा है।

शुक्लध्यान पूर्णाहुति की तैयारी कर देता है। वह प्रत्यक्ष मोक्ष का कारण है लेकिन अंत में तो वह भी छूट जाता है।

'*क्षण क्षण भयंकर भाव मरणे, कां अहो राची रह्यो ?*'

-श्रीमद्

स्वभाव का मरण और विभाव का जन्म। अवस्था में 'मैं' पन, अर्थात् विभाव का जन्म। अवस्था के ज्ञाता-दृष्टा अर्थात् स्वभाव का जन्म।

स्वभाव में परिणामित होने के लिए दादाश्री की पाँच आज्ञा ही एक मात्र मार्ग है।

(१०) विभाव में चेतन कौन है ? पुद्गल कौन है ?

आत्मा अविनाशी है, 'आप' अविनाशी हो, लेकिन आपको रोंग बिलीफ हो जाती है कि 'मैं चंदूभाई हूँ', इसलिए 'आप' विनाशी हो।

विभाव में पहले अहम् उत्पन्न होता है। *पूरण* को अहम् कहा जाता है। *गलन* और *पूरण* दोनों, 'मैं' हैं और ऐसा कहता है कि जो भुगतता है, वह भी 'मैं हूँ'।

पूरण करते समय, 'मैं ही हूँ' ऐसा मानता है तब प्रयोगसा और जब मानता है कि मैं भोग रहा हूँ, तब मिश्रसा। जिसे अक्रम ज्ञान प्राप्त हुआ है, उस व्यक्ति में विशेष भाव रहता ही नहीं है। फ्रेक्चर हो जाता है। जो बाकी बचते हैं, वे तो सिर्फ चोट के निशान हैं अर्थात् चारित्र मोह।

विशेष भाव उत्पन्न होने के बाद उसके परिणामों की परंपरा चलती ही रहती है। स्वरूप जागृति के बाद ही विशेष भाव का सातत्य खत्म होता है।

विशेष भाव में से भावक बनते हैं। क्रोधक में से क्रोध, लोभक में से लोभ उत्पन्न हुआ, उसी को प्रतिष्ठित आत्मा ऐसा मानता है कि 'मैंने किया'। जैसे-जैसे भावक भाव करवाता है, वैसे-वैसे वह मज़बूत होता जाता है।

स्वभाव में रहते हुए चेतन विभाविक हो जाता है। विशेष भाव बाहर से खड़ा हुआ है, आत्मा में से नहीं। आत्मा स्वभाव में से बाहर जाता ही नहीं है।

चेतन और संयोग अनंत हैं।

संयोगों से अहंकार खड़ा हुआ और उनके आधार पर टिका हुआ है। जिसका अहंकार गया, उसके सभी संयोग गए!

तमाम विभाविक *पुद्गल* के शुद्ध होकर अलग हो जाने के बाद आत्मा संपूर्ण रूप से मुक्त होता है। ज्ञान के बाद फाइलों का समभाव से *निकाल* (निपटारा) करते-करते अंत में मुक्त हो जाता है।

यह जो शुद्धात्मा है, वही वह 'खुद' है, वही उसका 'खुद का' स्वरूप है। 'तुम खुद' वहाँ (शुद्धात्मा) से अलग हो गए हो और मूल

शुद्ध स्वरूप को देख-देखकर खुद उसी रूप होते जाते हो। आत्मा के गुणों की *भजना* (उस रूप होना, भक्ति) करते-करते खुद उसी रूप हो जाता है।

'मैं चंदूभाई हूँ', वही विभाव है और वही भावकर्म है। 'मैं शुद्धात्मा हूँ' ऐसा रहा तो स्वभाव है।

क्रोध होता है और उसके परमाणुओं में आत्मा तन्मयाकार हो ही जाता है इसलिए वह क्रोध कहलाता है। तन्मयाकार होने से विशेष परिणाम उत्पन्न होते हैं। फिर उसे पर-परिणाम कहते हैं। सुख-दु:ख भुगतना वगैरह पूरा ही संसार पर-परिणाम है।

विशेष परिणाम शुद्ध को नहीं जान सकता, ज्ञानी को पहचान सकता है।

क्या प्रज्ञा शुद्धात्मा का विशेष परिणाम हो सकती है? नहीं। प्रज्ञा तो शुद्धात्मा जागृत होने के बाद में उसकी जो डाइरेक्ट शक्ति उत्पन्न हुई है, वह है। अज्ञा, वह विशेष परिणाम है और प्रज्ञा, वह आत्मा का परिणाम है।

मात्र दृष्टि बदलने से ही करोड़ों वर्षों का विभाव दूर हो जाता है। 'मैंने किया', इस प्रकार की दृष्टि करते ही सभी कषाय जकड़ लेते हैं।

विशेष परिणाम उत्पन्न हो तो उसे ऐसा समझना कि 'यह मेरा नहीं है', इसलिए फिर *निकाल* हो जाएगा।

(११) जब विशेष परिणाम का अंत आता है तब...

दूध का बिगड़ना तो उसका स्वभाव है और दहीं बनना, वह है विभाव।

वस्तु अविनाशी है, उसके परिणाम भी अविनाशी हैं, मात्र उसके विशेष परिणाम विनाशी हैं। यथार्थ रूप से इतना ही समझो।

दादाश्री कहते हैं, 'हम में' तो 'आत्मा' आत्मपरिणाम में ही रहता

है। 'मन' मन के परिणाम में रहता है। मन में तन्मयाकार होने से विशेष परिणाम आते हैं। आत्मा का स्व-परिणाम में आना, वही परमात्मा है! दोनों अपने-अपने परिणाम में आ जाएँ और दोनों अपने-अपने परिणाम को *भजें,* उसी को कहते हैं मोक्ष!

विशेष परिणाम को जानना ही स्व-परिणाम है। वहाँ पर विशेष परिणाम का अंत आता है।

जो विशेष भाव में परिणामित होता है, वह है जीव और यदि उसे 'देखे और जाने' तो परमानंद।

विशेष परिणाम से उत्पन्न हुआ 'मिकेनिकल चेतन'। *पूरण-गलन* वाला *पुद्‌गल,* उसे खुद का माना तो बंध गया!

विशेष परिणाम की वजह से जो संयोग उत्पन्न होते हैं, प्रतिक्रमण करने से वे धुल जाते हैं। वर्ना दरअसल साइन्टिस्ट को प्रतिक्रमण क्यों करने? महात्मा इसमें भूल कर बैठते हैं, इसलिए प्रतिक्रमण करने चाहिए।

विशेष परिणाम में अच्छा-बुरा नहीं होता। वह तो, पक्षधर बनने से ऐसा होता है। आत्मभाव के अलावा बाकी का सबकुछ विशेष परिणाम है।

'देखना व जानना' स्व-परिणाम है लेकिन बुद्धि से देखना व जानना, वह है विशेष परिणाम।

पहले यह समझ में आए कि अहम् गलत है, ऐसी प्रतीति हो जाए, उसके बाद वह टूटने लगता है और वैसे-वैसे विशेष भाव विलय होता जाता है। अहम् भाव के खत्म होते ही विशेष भाव भी खत्म!

विभाव क्रमपूर्वक कम होता है और स्वभाव क्रमपूर्वक बढ़ता है।

प्रज्ञा, वह विभाव नहीं है। विशेष भाव कितना कम हुआ, स्वभाव कितना बढ़ा, जो उसे जानता है, वह प्रज्ञा है। प्रज्ञा भी गुरु-लघु होती रहती है। प्रज्ञा केवलज्ञान होने तक ही रहती है और विभाव भी तभी तक रहता है।

दादाश्री खुद की ज्ञानवाणी के लिए क्या कहते हैं कि अत्यंत स्पष्ट होने के बावजूद भी वह व्यतिरेक गुणों में से उत्पन्न हुई है। वह रिलेटिव नहीं है लेकिन रियल-रिलेटिव है।

रियल-रिलेटिव, रिलेटिव और तीसरा है रिलेटिव-रिलेटिव।

ज्ञानी को सभी जगह ऐसा ही रहता है कि 'मैं ही हूँ', फिर क्या कहीं भी भेद रहेगा?

दादाश्री के एवर फ्रेश रहने का कारण क्या है?

परभाव का क्षय और निरंतर स्वभाव की जागृति रहती है। परभाव के प्रति जिन्हें किंचित्‌मात्र भी रुचि नहीं है, एक परमाणु तक में भी रुचि नहीं है, वहाँ पर परमात्मा प्रकट नहीं हुए होंगे तो और क्या होगा?

महात्माओं को भी परभाव के क्षय की तरफ ही दृष्टि रखनी चाहिए।

परभाव के संपूर्ण रूप से चले जाने के बाद स्वक्षेत्र में हिसाब के अनुसार रहकर सिद्ध क्षेत्र में जाता है। स्वक्षेत्र, वह सिद्ध क्षेत्र का दरवाज़ा है।

सिद्ध क्षेत्र में जाने से पहले सभी परमाणु खत्म हो जाते हैं। उसके बाद धर्मास्तिकाय उसे वहाँ पर रख आता है। वहाँ पर कोई भी संयोग नहीं है, इसलिए विभाव उत्पन्न ही नहीं होता।

(१२) 'मैं' के सामने जागृति

मूल रूप से अज्ञान तो था ही, जो सूक्ष्म रूप से रहता है और बाहर के संयोग मिलते ही स्थूल में दिखाई देता है।

'मैं आत्मा हूँ' इसमें 'मैं' कौन है और आत्मा कौन?

'मैं', अहंकार है और आत्मा, मूल द्रव्य है।

आइ + माइ = अहंकार, आइ - माइ = आत्मा। जब 'माइ' का एक भी परमाणु न रहे तो वह जो 'आइ' है, वह आत्मा कहलाता है।

अहंकार कभी भी स्वाभाविक नहीं होता, विभाविक ही होता है।

'मैं शुद्धात्मा हूँ', क्या वह अहंकार कहलाता है? नहीं। वह क्या है? जो है, उसे 'मैं हूँ', ऐसा मान ले तो वह अहंकार नहीं है। जो नहीं है, उसे 'मैं हूँ' माने तो उसे अहंकार कहा है। हर एक को 'मैं हूँ', ऐसा अस्तित्व का भान है ही लेकिन यदि 'क्या हूँ', ऐसा भान हो जाए तो उसे वस्तुत्व कहा गया है। वही 'मैं शुद्धात्मा हूँ' है। शुद्धात्मा को जानने के बाद धीरे-धीरे जब पूर्णत्व होता है तब 'मैं' पूर्ण रूप से खत्म हो जाता है।

'मैं' शुद्धात्मा तो हूँ ही। उसके बाद 'उसे' भ्रांति हो गई कि 'मैं कर रहा हूँ'। वह हुआ अहंकार। उसके बाद 'मैं' में से अहंकार हुआ कि 'मैं चंदूभाई हूँ'। उस अहंकार को अज्ञान प्रदान से अंधा बनाया। इतना ही नहीं, वापस पिछले कर्मों के चश्मे चढ़ गए इसलिए 'मेरी वाइफ, मेरे बच्चे' दिखाई देते हैं।

अहंकार किसे हुआ? अज्ञान को। अज्ञान किस तरह से उत्पन्न हुआ? संयोगों के दबाव से। जैसे कि शराबी खुद को महाराजा मान लेता है!

चाहे आत्मा पर कितना ही आवरण आ जाए लेकिन 'खुद' तो प्रकाशक ही रहता है तो फिर क्या परेशानी है? लेकिन इससे अहंकार को क्या फायदा? अहंकार को जब मीठा लगे तभी वह ऐसा कहता है कि 'शक्कर है', तभी निबेड़ा आता है। अहंकार का निबेड़ा लाना है, आत्मा का निबेड़ा तो है ही।

हम नामरूपी व व्यवहाररूपी नहीं हैं तो वस्तुत: हम कौन हैं? हम ज्ञान और अज्ञान रूपी ही हैं। ज्ञान अथवा अज्ञान के अनुसार ही संयोग मिलते हैं। उच्च ज्ञान, वह उच्च कर्म बाँध लाता है। निम्न ज्ञान हो तो निम्न कर्म। अहंकार भी खुद नहीं है, वह 'खुद' ज्ञान-अज्ञान है! 'खुद' का अर्थ ही है ज्ञान और अज्ञान। वही उसका उपादान है लेकिन यह अत्यंत सूक्ष्म बात समझ में नहीं आ सकती इसलिए ज्ञान-अज्ञान के प्रतिनिधि अर्थात् अहंकार को हम स्वीकार करते हैं। अत: यों अगर मोटी भाषा में कहें कि अहंकार कर्म बाँधता है लेकिन वास्तव में ज्ञान-अज्ञान की वजह से कर्म बंधन होता है। उसे उपादान भी कहते हैं और जहाँ

पर ज्ञान व अज्ञान साथ में हैं, वहाँ पर अहंकार है ही। यदि अज्ञान चला जाए तो अहंकार भी चला जाएगा। जब तक अहंकार है, तब तक ज्ञान-अज्ञान साथ में रहते हैं। उसे क्षयोपशम कहा गया है।

ज्ञान मिलने के बाद जो ज्ञान भाग है, वही पुरुष है और अज्ञान भाग, वह प्रकृति है। ज्ञान ही आत्मा है और जब वह विज्ञान स्वरूप हो जाएगा तो वही परमात्मा है। ज्ञान-अज्ञान का मूल है विज्ञान! आत्मा विज्ञानमय ही है। उसमें से ज्ञान-अज्ञान का अंधेरा व उजाला, दोनों शुरू होते हैं।

अहंकार और अहम्, दोनों में बहुत फर्क है। 'मैं' और अहम् एक ही हैं। विशेष भाव में पहले अहम् उत्पन्न होता है। 'मैं' पन ही अहम् है और 'मैं' पन का प्रस्ताव करना, व्यक्त करना कि 'मैं चंदू हूँ', वह है अहंकार। प्रथम मान्यता में 'मैं कुछ हूँ', मूल आत्मा की बजाय अन्य कुछ हूँ, उसे 'अहम्' की, 'मैं' की शुरुआत कहते हैं। जब तक 'अहम्' वाली स्टेज है, तब तक मात्र अन्य में अस्तित्व का भान है लेकिन अभी तक यहाँ पर कर्तृत्व का भान नहीं हुआ है। मात्र मान्यता तक ही, बिलीफ तक ही यानी कि जो ज्ञान-दर्शन है, वह दर्शन भाग ही बदला है, फिर जब 'मैं' पद से आगे बढ़ता है और मानता है कि 'मैं चंदू हूँ', जब ऐसा होता है तब 'अहम्' में से अहंकार। अर्थात् यहाँ अहम् का प्रस्ताव होता है (अहम् व्यक्त होता है, अहम् की शुरुआत होती है), मात्र इतने से ही रुक नहीं जाता। उसके बाद आगे बढ़ता है। वस्तु में उसका कुछ भी नहीं है फिर भी मानता है कि यह वस्तु मेरी है, वह मान है। 'मैं प्रेसिडेन्ट हूँ, डॉक्टर हूँ', ऐसा मानना, वह मान है। अर्थात् उसे जो मालिकीपन आ जाता है, वह मान है लेकिन यदि मालिकीपने के बिना सिर्फ प्रस्ताव करे, शोर मचाए, ज़रूरत से ज़्यादा 'मैं पन' करे तो वह अहंकार कहलाता है। जब मालिकीपन आए, तभी मान आता है। उसके बाद उससे आगे बढ़कर मालिकीपने में ममता मिल जाती है और तब दूसरों को दिखाता है कि 'यह मेरा बंगला है, मेरी गाड़ी है, मेरे बीवी-बच्चे', वह अभिमान है। जहाँ से प्रस्ताव करके आगे मान में जाता है, उसे (विभाविक) ज्ञान में आना कहते हैं। जब तक अहंकार की स्टेज है, तब तक बिलीफ में,

(विभाविक) दर्शन में ही है। जब 'मैं' पद आ जाए तो वह मान है, तब वह (विभाविक) ज्ञान में आता है।

'मैं ऊपर से नीचे आया' उसमें 'मैं' तो आता ही नहीं है, शरीर नीचे आता है। फिर भी कहता है, 'मैं नीचे आया', उस मान्यता को अहंकार कहा गया है और उससे भी आगे बढ़कर वह कहता है कि 'मैं आया', उसे मान कहते हैं, बिलीफ में से ज्ञान में आया, ऐसा कहा जाता है।

पोतापन और अहम्पन में क्या फर्क है?

'अहम्' मात्र मान्यता में ही है यानी कि (मिथ्या) दर्शन में ही है जबकि पोतापन वर्तन में आ जाता है यानी कि (मिथ्या) ज्ञान से भी आगे (मिथ्या) चारित्र में आ गया, ऐसा कहा जाएगा। स्वरूप ज्ञान मिलने के बाद में मान्यता में से 'मैं' पन चला जाता है लेकिन वर्तन में पोतापन रहता है इसीलिए तो अपने 'महात्माओं' में ज़बरदस्त पोतापन है। जो भोला होता है, उसमें कम होता है।

'मैं' एवरीव्हेर एडजस्टेबल है। 'मैं' में से 'मैं' चंदू बनता है, आगे जाकर किसी का जमाई बनता है, भानजा बनता है, डॉक्टर बनता है और ज्ञान मिलते ही दो घंटों में, 'मैं' शुद्धात्मा बन जाता है! 'मैं' में एक भी स्पेयर पार्ट नहीं है। वह अनंत जन्मों से कभी भी बदला ही नहीं है। जबकि पोतापन, पोतापन के अलावा और कहीं भी एडजस्ट नहीं हो सकता। इस प्रकार 'मैं' और पोतापन बिल्कुल अलग ही चीज़ें हैं।

'मैं', वह पोतापन नहीं है लेकिन खुद ऐसा सब जो मान लेता है, वही पोतापन है।

'मैं' क्या है, उस 'वस्तु' को नहीं समझने से, 'मैं' ने दूसरी चीज़ों का आरोपण किया, उससे विकल्प उत्पन्न हो गए। विकल्पों के उस पूरे गोले को पोतापन कहा गया है। उसमें विकल्प जितने कम किए जाएँ, उतने ही कम हो सकते हैं और जितने बढ़ाए जाएँ, उतने बढ़ेंगे।

'मैं' में से विकल्प होता है, लेकिन 'मैं' तो साफ (शुद्ध) ही

रहता है। पोतापन उत्पन्न होता है लेकिन उससे 'मैं' को कोई लेना-देना नहीं है, पोतापन को लेना-देना है।

वास्तव में 'मैं' पोतापन नहीं करता है लेकिन जब 'मैं' का दूसरी जगह पर आरोपण होता है तो उस आरोपण करने वाले में पोतापन उत्पन्न हो जाता है। और ऐसा आरोपण करने वाला है अज्ञान। अज्ञान से 'मैं चंदूभाई हूँ' का आरोपण होता है, वही अहंकार है और 'मैं शुद्धात्मा हूँ' हो जाए तो अहंकार चला जाता है और फिर जागृति उत्पन्न होती है।

ज्ञान के बाद में तन्मयाकार कौन होता है? अहंकार (सूक्ष्मतर), और जो नहीं होने देता, वह है जागृति, जो अलग ही रखती है। मूल आत्मा तन्मयाकार होता ही नहीं है।

'आप' तन्मयाकार हो जाते हो, तो उसमें 'आप' कौन हो? 'मैं' तो पहले से रहा हुआ है ही। जो 'मैं' पहले प्रतिष्ठित आत्मा के रूप में बरतता (रहता) था, वह 'मैं' ज्ञान के बाद में जागृति के रूप में बरतता है, वही जागृत आत्मा है। फिर वह तन्मयाकार नहीं होता।

ज्ञान के बाद प्रतिष्ठित आत्मा ज्ञेय के रूप में, निश्चेतन चेतन के रूप में, डिस्चार्ज के रूप में रहता है और जागृति उसे जानती है। ज्ञान से पहले प्रतिष्ठित आत्मा ही ज्ञाता माना जाता था। जहाँ संपूर्ण जागृति बर्तती है वहाँ पर 'मैं' मूल आत्मा में एकाकार हो जाता है, परमात्मा बन जाता है। वर्ना तब तक अलग बरतता है। अंतरात्मा की तरह रहता है, अलग रहकर।

पूरे शरीर में 'मैं' का स्थान कहाँ पर है? सुई चुभोने पर 'मैं' अ... करता है न? जहाँ-जहाँ लगती है, वहाँ पर 'मैं' है। बड़ी बस के ड्राइवर का 'मैं' कहाँ पर है? पूरी बस में! 'मैं' पन का उतना अधिक विस्तार करता है।

प्रकृति में आत्मा की जानपने की शक्ति उतरी है। उसे पावर चेतन कहते हैं। उसमें पावर किस तरह भरता है? विशेष भाव से 'मैं' उत्पन्न होता है। 'मैं कर रहा हूँ' माना कि पावर भर जाता है। 'मैं जानता हूँ'

माना कि पावर भर जाता है। वह चलता ही रहता है... मात्र मान्यता से ही कर्तापन आ गया है।

'मैं शुद्धात्मा हूँ', इसे जानने वाला कौन है?

'मैं' ही उसे जानता है। 'मैं चंदूभाई हूँ' उस 'मैं' का ज्ञान बदला और 'मैं शुद्धात्मा हूँ' हो गया इसलिए वह 'मैं', जिसे अहंकार कहा गया है, वह जानता है और वह अहंकार बुद्धि सहित ही है, उसे जानने में बुद्धि अकेली नहीं है।

ज्ञान के बाद में जो बचता है, वह डिस्चार्ज अहंकार है, चार्ज वाला बंद हो जाता है। जब ज्ञान मिलता है, तब अहंकार बुद्धि सहित खुद ही समझ जाता है कि मेरा अस्तित्व ही गलत है और शुद्धात्मा ही मूल स्वभाव है इसलिए उसे सबकुछ सौंप देता है। ज्ञान में अहंकार स्तब्ध हो जाता है कि इसमें मैं कहाँ पर हूँ? मेरा मालिकीपन या मेरा स्कोप कहाँ है? तभी वह आत्मा की और खुद की भेदरेखा को समझ जाता है और गद्दी मूल पुरुष (आत्मा) को सौंप देता है।

इस प्रकार से समझकर ऐसा कहा जा सकता है कि अहंकार आत्मा को जानता है! बाहर यह बात उल्टी तरह से समझ ली जाती है कि अहंकार किस तरह आत्मा को जान सकता है? लेकिन ज्ञान के समय ही यह प्रक्रिया होती है। यानी कि पहले ज्ञान नहीं हो जाता लेकिन पहले अहंकार जाता है और वह भी ज्ञानविधि के समय विराट स्वरूप के प्रताप से!!!

ज्ञान मिलने के बाद, जो पहले मिथ्या दृष्टि वाला था, वह 'खुद' सम्यक् दृष्टि वाला बन जाता है। दोनों दृष्टियाँ 'मैं' की ही अर्थात् अहंकार की ही हैं। जो दृष्टि पहले दृश्य को देखती थी, ज्ञान के बाद वह दृष्टा को देखती है। मूल आत्मा में दृष्टि नहीं होती। आत्मा में तो सहज स्वभाव से ज्ञेय झलकते हैं, उसके ज्ञान में ही! आत्मज्ञान को जानने वाला अहंकार है, जिसकी दृष्टि आत्मा में पड़ती है और वहीं पर वह शुद्ध हो जाता है और शुद्धात्मा में विलीन हो जाता है। जैसे शक्कर की पुतली पानी में गिरते ही विलीन हो जाती है, उस तरह से!

क्या अहंकार ही यह कहता है कि 'मैं शुद्धात्मा हूँ'? नहीं, अहंकार नहीं कहता लेकिन 'मैं', 'मैं' ऐसा कहता है। अहंकार जुदा रहता है, उसे इससे कोई लेना-देना नहीं रहता। यहाँ पर अहम्, जो कि अहंकार से पहले वाली स्टेज है, उसके बारे में बात हो रही है। अब 'मैं शुद्धात्मा हूँ', वह सिर्फ शब्द के रूप में नहीं है लेकिन उस तरफ के रुख वाली क्रिया है। जैसे-जैसे श्रद्धा और बिलीफ बदलते हैं, वैसे-वैसे आवरण टूटते जाते हैं। उसके बाद जो अहंकार बचता है, वह डिस्चार्ज अहंकार है। भटका हुआ अहंकार चार्ज, सजीव अहंकार है। उल्टे में से वापस मुड़ने के लिए जिस अहंकार की ज़रूरत है, वह निर्जीव अहंकार है। उसके बिना वापस कैसे मुड़ सकते हैं?

ज्ञान मिलने के बाद अहंकार शुद्ध हो जाता है (रोंग बिलीफ फ्रेक्चर होने से) लेकिन क्रोध-मान-माया-लोभ के परमाणु खाली करने बाकी रहते हैं। वे जब संपूर्ण रूप से खाली हो जाएँगे तो वह अहंकार संपूर्ण शुद्ध हो जाएगा। फिर वह आत्मा के स्वभाव में एक हो जाएगा। ('मैं' शुद्ध होकर शुद्धात्मा में एक हो जाएगा)! तब तक जुदा रहता है।

'मैं' में यदि ज़रा से भी दूसरे परमाणु होंगे तो वह बाहर बैठेगा। सभी परमाणुओं का *गलन* होने के बाद में जब 'मैं' शुद्धात्मा में चला जाता है उसी को मोक्ष कहते हैं, उसी को चरम शरीरी कहते हैं। क्रमिक मार्ग में यह अंत में शुद्ध होता है।

प्रकृति के डिस्चार्ज होने में 'मैं' की ज़रूरत मात्र डिस्चार्ज स्वरूप से रहती है। उसकी सहमति की ज़रूरत नहीं है, उपस्थिति ही काफी है। कर्ताभाव से जो नाटक किया था, उसे भोक्ताभाव से करना पड़ेगा, तभी साफ होगा। भोक्ताभाव को डिस्चार्ज अहंकार कहा गया है।

यदि अहंकार को पहचान जाए तो वह भगवान बना देगा। 'मैं' कहने वाले को अच्छी तरह से पहचानना है अर्थात् पूरे *पुद्गल* (जो पूरण और गलन होता है) को पहचानना है, तो फिर भगवान ही बन जाएगा।

अहंकार शुद्ध की *भजना* (उस रूप होना, भक्ति) करते-करते,

शुद्ध होते-होते संपूर्ण शुद्ध हो जाता है। जैसा चिंतन करता है, वैसा बन जाता है। शुद्ध हो जाने पर भगवान के साथ एकाकार हो जाता है।

जैसा व्यवहार करता है, वैसी ही *भजना* होती है। आखिर में अंतिम अवतार में सिर्फ निश्चय ही काम का है और *निकाली* व्यवहार की *भजना* होती है, तब मुक्त हो पाता है।

(खंड-२)

द्रव्य - गुण - पर्याय

ब्रह्मांड में जो छ: शाश्वत तत्त्व हैं, वे सभी अपने खुद के स्वतंत्र द्रव्य, गुण और पर्याय सहित ही हैं। इन छ: तत्त्वों में एक तत्त्व आत्मा है, जो रियल में हम खुद ही हैं। यहाँ इस खंड में केवल आत्मा के ही द्रव्य, गुण व पर्यायों के बारे में विशेष स्पष्टता की गई है।

आत्मार्थीजन को प्रस्तुत खंड की आराधना करने से पहले अति-अति आवश्यक है कि दो सिद्धांतों को स्पष्ट रूप से समझकर आगे स्टडी (अध्ययन) करें।

मूल दरअसल आत्मा (निश्चय आत्मा) तीनों ही काल में द्रव्य-गुण-पर्याय से सिद्ध भगवान जैसा ही शुद्ध है। जिसके बारे में इससे अधिक समझने की अभी इस स्तर पर ज़रूरत नहीं है।

विभाविक आत्मा ('मैं', व्यवहार आत्मा) की विभाविक दशा वाले व्यतिरेक गुणों से उत्पन्न हुए जो पर्याय हैं, जो कि अशुद्ध माने जाते हैं, स्वरूप जागृति के बाद उन्हीं को शुद्ध करना होता है। पाँच आज्ञा, शुद्ध उपयोग वगैरह की निरंतर जागृति से तमाम अशुद्ध पर्याय शुद्ध हो जाते हैं और संपूर्ण स्वभाव दशा उत्पन्न होती है। मूल आत्मा जैसी ही दशा हो जाने पर पर्याय की विभाविक दशा का संपूर्ण नाश (क्षय) होता है। और खुद दरअसल आत्म स्वरूप, केवलज्ञान स्वरूप बन जाता है और अंत में तो केवल द्रव्य रूप आत्मा ही रहता है, केवलज्ञान प्रकाशक ही! आत्मार्थियों को ऐसा समझकर अध्ययन करना है कि यहाँ पर अशुद्ध

विभाविक पर्यायों को शुद्ध करते-करते केवलज्ञान तक पहुँचने की मंज़िल के बारे में समझाया गया है। अध्ययन करते-करते जैसे-जैसे स्पष्टता होती जाएगी, वैसे-वैसे स्वाभाविक रूप से अहो! अहो! होता जाएगा और सहज रूप से ही आवरण हटते जाएँगे। अक्रम विज्ञानी परम पूज्य दादाश्री के समक्ष हर पल कोटि-कोटि सलाम करते हुए हृदय व मस्तक झुक जाते हैं। धन्य है इन ज्ञानी को और धन्य है, इस केवलज्ञान तक को स्पष्ट रूप से समझाने वाली वाणी को!

प्रस्तुत ग्रंथ में जहाँ-जहाँ आत्मा के पर्यायों की अशुद्धि का उल्लेख आता है, वहाँ-वहाँ पर विभाव दशा के अशुद्ध पर्यायों के बारे में बात है, पुरुषार्थी (पाठक) को ऐसा समझना है।

(१) परिभाषा द्रव्य-गुण व पर्याय की

द्रव्य अर्थात् अविनाशी शाश्वत द्रव्य, यानी कि तत्त्व। द्रव्य हमेशा ही खुद के स्वतंत्र द्रव्य-गुण व पर्याय सहित होता है। द्रव्य में वस्तु अर्थात् वस्तु का स्वभाव और उसके गुण, ये दोनों आते हैं। बाकी सब पर्याय में जाता है।

एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में बिल्कुल भी दखलंदाज़ी नहीं कर सकता। एक मूल द्रव्य को दूसरे मूल द्रव्य से कोई भी लेना-देना नहीं है। उनके द्रव्य-गुण-पर्याय अलग-अलग हैं और दूसरे द्रव्यों के साथ अन्यत्व (भिन्नता) है, अर्थात् नो कनेक्शन।

सूर्यनारायण को द्रव्य यानी कि वस्तु कहा जाएगा। प्रकाश उनका गुण कहलाता है और जो किरणें बाहर आती हैं, वे पर्याय कहलाती हैं। द्रव्य-गुण अविनाशी हैं, पर्याय विनाशी हैं। पर्याय उत्पन्न होते हैं, टिकते हैं और उनका नाश हो जाता है। 'टिकना' और 'ध्रुव', दोनों में बहुत फर्क है। जो हमेशा रहे उसे 'ध्रुव' कहा जाता है लेकिन जब 'टिकता' है, तब भी उसमें हर पल परिवर्तन तो होता ही रहता है, जो अति-अति सूक्ष्म होने के कारण दिखाई नहीं देता लेकिन सूक्ष्म रूप से नाश होने का प्रोसेस (प्रक्रिया) तो चलता ही रहता है। जैसे लकड़ी कट रही हो

और अंत में दो टुकड़े हो जाते हैं लेकिन बीच में जब वह कट रहा था तब क्या हर पल वह अलग नहीं हो रहा था? कालवर्ती को 'टिकता है' कहते हैं और त्रिकालवर्ती वस्तु को ध्रुव कहा जाता है। अनंत काल से अनंत पर्यायों के बदलते रहने के बावजूद भी उत्पन्न-विनाश होता है, फिर भी मूल आत्मा तो सदा ध्रुव ही है। उसमें कोई भी बदलाव नहीं आता।

मूल द्रव्य के गुण भी अविनाशी हैं, शाश्वत हैं। उन्हें अन्वय गुण कहते हैं, जो सिद्ध क्षेत्र में भी वैसे ही रहते हैं। दो द्रव्यों के मिलने के बाद जो विभाविक गुण उत्पन्न होते हैं, जिन्हें व्यतिरेक गुण कहा जाता है, जो कि क्रोध-मान-माया-लोभ हैं, वे विनाशी हैं, टेम्परेरी हैं।

पर्याय बहुत सूक्ष्म होते हैं, जो दिखाई देती हैं, वे सभी अवस्थाएँ हैं। जब वह स्थूल रूप में आ जाए, तब जाकर अवस्था कहलाती है। उदाहरण के तौर पर घंटे को अवस्था कहते हैं और पल, पर्याय कहलाता है। हालांकि पर्याय में पल जितनी स्थूलता नहीं है। जो इन्द्रियगम्य हैं, वे सभी अवस्थाएँ हैं और जो अतिन्द्रियगम्य हैं, वे पर्याय हैं। ज्ञानी पुरुष या केवलज्ञानी के अलावा कोई भी पर्यायों को नहीं देख सकता।

ज्ञान आत्मा का गुण है और वह भी सिर्फ केवलज्ञान ही, दूसरा शुभ-अशुभ का ज्ञान नहीं। शुद्ध प्रकाश, वही आत्मा है, वही ज्ञान है! जब केवलज्ञान रूपी ज्ञान होता है, तब वह द्रव्य रूपी (ज्ञान) कहलाता है और जब तक केवल (ज्ञान) नहीं हो जाता, तब तक ज्ञानरूपी कहलाता है। द्रव्य ऐसी चीज़ है जो कि शुद्ध ज्ञान-दर्शन-सुख-शक्ति वगैरह गुणों से भरपूर है। उसमें इसका जो विशेष स्वभाव है, वह ज्ञायक स्वभाव है। ज्ञायक स्वभाव अर्थात् मात्र जानने का स्वभाव। ज्ञान और आत्मा द्रव्य के रूप में अविनाभाव संबंध वाले हैं। जब तक ज्ञान संपूर्ण शुद्ध नहीं हो जाता, तब तक वह ज्ञान, गुण के रूप में रहता है। ज्ञान अलग है और संपूर्ण केवलज्ञान होने पर द्रव्य और ज्ञान एक ही हो जाते हैं।

आत्मा के गुण और *पुद्गल* के गुण बिल्कुल अलग ही हैं और अनंत हैं। संख्या की दृष्टि से भी एक सरीखे नहीं हैं।

विभाविक आत्मा के आठ गुण कहे गए हैं, ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय... वगैरह वगैरह जो कि आवरण की वजह से हैं। उनकी शुद्धि हो जाने पर शुद्ध ज्ञान, दर्शन, सुख वगैरह उत्पन्न होते हैं। जो कि बाद में स्वाभाविक गुणों में आ जाते हैं।

ज्ञान, दर्शन, शक्ति व सुख, जो आत्मा के गुण हैं, उन पर जो आवरण लाते हैं, वे विभाविक दशा के गुण हैं। वे घातीकर्म हैं। उसी प्रकार नाम, गोत्र, वेदनीय, आयुष्य, जो अघातीकर्म कहलाते हैं, वे सभी पर्यायों के कारण हैं।

सिद्धात्मा पूरे जगत् के जीव मात्र के ज्ञाता-दृष्टा रहते हैं, जो कि उनका गुण है। ज्ञान-दर्शन। लेकिन वे बाहर नहीं देखते, सभी ज्ञेय उनके अंदर ही झलकते हैं, दिखाई देते हैं। जिस प्रकार से दर्पण में दिखाई देते हैं, उसी प्रकार खुद के द्रव्य में दिखाई देते हैं।

आत्मदर्शन किसे होता है? पर्यायों को? नहीं। 'दर्शन' विभाविक 'मैं' को होता है। 'मैं चंदू हूँ' की बजाय 'मैं शुद्धात्मा हूँ' ऐसा भान होने पर अशुद्ध पर्याय शुद्ध हो जाते हैं इसलिए 'मैं' को एक साथ मूल द्रव्य-गुण और पर्याय का अनुभव होता है।

जब तक अशुद्ध पर्याय हैं, तब तक चित्त और प्रज्ञा अलग माने जाते हैं। जब सभी पर्याय संपूर्ण रूप से शुद्ध हो जाते हैं तो उसे केवलज्ञान कहा गया है, उसके बाद में यह अलग नहीं रहता।

जब तमाम डिस्चार्ज कर्म ज्ञानी की आज्ञा में या शुद्ध उपयोग में रहकर खपाए जाते हैं, तब गुण शुद्धात्मा फलित होता है, वर्ना नहीं।

शुद्ध चित्त पर्याय रूपी है और शुद्धात्मा द्रव्य गुण रूपी है लेकिन अंत में सब एक ही वस्तु है।

पर्याय आत्मा का गुण नहीं है, वह आत्मा के गुण की अवस्था है। द्रव्य या गुण नहीं बदलते, पर्याय बदलते हैं।

शुभाशुभ पर्याय नहीं हैं। वे उदय कहलाते हैं।

स्थूल अवस्थाओं को, जैसे कि बचपन, जवानी, बुढ़ापा को अवस्था कहा जाता है, पर्याय नहीं कहा जाता।

मूल वस्तु के पर्याय नहीं होते, मूल वस्तु के गुणों के पर्याय होते हैं। ज्ञान-दर्शन व गुण नहीं बदलते, पर्याय बदलते हैं।

अभी 'आप' खुद पर्याय स्वरूपी हो। ('मैं चंदूभाई' मानता है इसलिए।)

मनुष्य मिश्र चेतन के भाग के रूप में नहीं है। यदि ऐसा होता तो वह मूल रूप में ही होता लेकिन मनुष्य पर्याय के रूप में है। 'उसकी' ('मैं' की) मान्यता रोंग है कि 'मैं चंदू हूँ', जब तक उसका ज्ञान रोंग है, उसका वर्तन रोंग है, तब तक वह पर्याय रूपी है। यदि सबकुछ राइट हो जाए तो मूल स्वरूप ही कहलाएगा। जैसे चंद्र के फेज़िज़ खत्म होने पर पूनम हो जाती है, उसी प्रकार आत्मा के फेज़िज़ अर्थात् पर्याय खत्म होने पर केवलज्ञान हो जाता है।

तत्त्व से शून्य और पर्याय से पूर्ण कहते हैं, उसका क्या मतलब है?

पौद्गलिक पर्याय जो कि ज्ञेय में ज्ञेयाकार के रूप में परिणामित होते हैं, उससे पूर्ण हैं और तत्त्व से शून्य हैं, ऐसा कहा गया है।

वास्तव में तो व्यवहार आत्मा यानी रिलेटिव आत्मा पर्याय से परिपूर्ण है और द्रव्य से शून्य है और मूल दरअसल आत्मा तो शून्य भी नहीं है और पूर्ण भी नहीं है।

आत्मा के पर्याय अर्थात् यहाँ व्यवहार आत्मा के पर्यायों की बात है। रियल आत्मा में भी पर्याय हैं लेकिन वे शुद्ध होते हैं जबकि व्यवहार आत्मा के पर्याय अशुद्ध हैं।

पौद्गलिक पर्यायों और आत्मा के पर्यायों में फर्क है।

पौद्गलिक पर्याय जड़ के और आत्मा के चेतन पर्याय हैं। पौद्गलिक पर्याय ज्ञेय के रूप में हैं और आत्मा के पर्याय ज्ञाता के रूप में हैं।

जैसे-जैसे दृश्य बदलते जाते हैं, वैसे-वैसे आत्मा का देखनापन बदलता जाता है। दूसरा दृश्य आए तो उसे देखता है। जैसे-जैसे ज्ञेय और दृश्य बदलते रहते हैं, वैसे-वैसे ज्ञाता-दृष्टा बदलता रहता है।

एब्सल्यूट वस्तु भी पर्याय सहित है। उसके पर्याय शुद्ध हैं और विभाविक पर्याय अलग हैं, जो कि अशुद्ध हैं। जिसे संगदोष पर्याय कहा गया है। संग के अलग होते ही वह शुद्ध हो जाता है। यह सब नियति के आधार पर प्रवाह की तरह बह रहा है, अनादि काल से।

कहने को कहना पड़ता है कि यह जगत् संगदोष से उत्पन्न हुआ है लेकिन वास्तव में उत्पन्न नहीं हुआ है। लोग ऐसा कहते हैं न, कि यह सूर्य उगा और अस्त हुआ? लेकिन क्या सूर्य को खुद का उगना या अस्त होना दिखाई देता होगा? ऐसा है यह जगत्!

(२) गुण व पर्याय के कनेक्शन, दृश्यों से

ज्ञान प्राप्त महात्माओं को बार-बार अंदर प्रश्न उठता है कि 'मैं यह जो देखने का प्रयत्न कर रहा हूँ, वह ज्ञाता-दृष्टापन बुद्धि से है या आत्मा से? उसे कैसे डिमार्केट (सीमांकित) किया जा सकता है? ज़्यादातर तो ऐसा लगता है कि बुद्धि से देख रहे हैं'। अब उसके समाधान के लिए समझना है कि 'मैं देखने का प्रयत्न कर रहा हूँ', प्रयत्न अर्थात् वह बुद्धि से हो गया। आत्मा द्वारा सहज रूप से देखना-जानना होता है। और जब खुद के अंदर ऐसा लगता है कि बुद्धि से देख रहे हैं। 'बुद्धि देख रही है', ऐसा देखा उसे, 'दृष्टा की तरह देखा, ऐसा कहा जाएगा, ज्ञाता की तरह नहीं'। ऐसा 'लग रहा है' नहीं लेकिन जब ऐसा 'जाना जाए' तभी उसे 'ज्ञाता' की तरह देखना कहा जाएगा।

बुद्धि का ज्ञाता-दृष्टा आत्मा (शुद्धात्मा) है, वही प्रज्ञा है। मूल आत्मा, भगवान, वह तो इन सब से न्यारा ही रहता है!

बुद्धि से देखना-जानना मात्र वही है, जो इन्द्रियों के माध्यम से होता है। जबकि आत्मा का देखना-जानना अर्थात् द्रव्य को, द्रव्य के गुणों को और उसके पर्यायों को देखना-जानना जबकि बुद्धि तो कुछ हद तक

ही मन के पर्यायों को जान सकती है जबकि आत्मा मन के सभी पर्यायों को, बुद्धि के और अहंकार के सभी पर्यायों को जानता है। ऐसी बातें जानता है जो बुद्धि से परे हैं।

जो चंदूभाई (मंगलदास) को देखता है, वह बुद्धि है और बुद्धि को जो देखता है, वह आत्मा है और आत्मा से आगे परमात्मा पद है। पहले शुद्धात्मा पद आता है, आगे जाकर वह परमात्मा पद की ओर जाता है। जो परमात्मा बन जाता है, उसे केवलज्ञान हो जाता है। इसकी प्राप्ति के लिए निरंतर देखने-जानने का उपयोग रहना चाहिए। (अधिक विस्तृत सत्संग के लिए आप्तवाणी-१३ (पू.) चेप्टर-७, देखने वाला-जानने वाला और उसे भी जानने वाला, पेज-४९३ को पढ़ना है।)

जो देह और आत्मा को अलग-अलग हैं, ऐसा देखती है, वह प्रज्ञा है। दो चीज़ें देखती हैं, एक है प्रज्ञा और दूसरा, प्रज्ञा का कार्य पूर्ण होने के बाद आत्मा! उसके बाद वह बन जाता है 'ज्ञायक'! फिर वह बाकी सभी तत्त्वों को, उनके गुणधर्म क्या-क्या हैं, उन्हें जानता है।

जो ज्ञान खुद के दोष दिखाए, वह ज्ञान नहीं है लेकिन ज्ञान का पर्याय है।

प्रज्ञा आत्मा का पर्याय नहीं है।

आत्मा बाहर जो भी देखता है, वे सभी पर्याय हैं। पर्याय टेम्परेरी हैं। आत्मा के एक नहीं, अनेक नहीं, असंख्य नहीं लेकिन अनंत पर्याय होते हैं।

आत्मा के पर्याय दो प्रकार के हैं।

(१) आत्मा के स्वभाव के पर्याय - शुद्ध होते हैं

-मान्यताएँ नहीं होतीं,

-संकल्प-विकल्प नहीं होते,

-विनाशी होते हैं।

(२) आत्मा के विभाव के पर्याय -अशुद्ध होते हैं

– रोंग बिलीफ

–संकल्प–विकल्प

–दो तत्त्वों के संगदोष से उत्पन्न हुए आत्मा के व्यतिरेक गुणों में से ('मैं' में से) पर्याय उत्पन्न होते हैं।

– विनाशी हैं।

आत्मा का गुण ज्ञान है और ज्ञान से 'जानना', वह आत्मा का पर्याय कहलाता है। जैसे–जैसे ज्ञेय बदलते हैं, वैसे–वैसे ज्ञान पर्याय बदलते हैं। ज्ञान के पर्याय से ही ज्ञेय को जो कि पौद्‌गलिक हैं, उन्हें 'आप' जान सकते हो। उसके बाद पर्यायों का नाश हो जाता है।

क्या आत्मा के ऐसे स्वतंत्र पर्याय भी हैं, जो कहीं भी *पुद्‌गल* के संबंध में नहीं आते! सिद्ध क्षेत्र में भी पर्याय हैं। जहाँ पर आत्मा है, वहाँ पर्याय होते ही हैं। गुण, पर्याय और द्रव्य, सभी साथ में रहते हैं।

दो भाग दृष्टा और दो भाग दृश्य, इस प्रकार कुल चार भाग हैं।

दो प्रकार के दृष्टा :- (१) प्रज्ञा या शुद्धात्मा।

(२) विभाविक आत्मा के पर्याय यानी कि विभाविक 'मैं' के पर्याय, वह बुद्धि है।

दो प्रकार के दृश्य :- (१) प्रतिष्ठित आत्मा (चंदू)।

(२) प्रतिष्ठित आत्मा के कार्य (चंदू क्या कर रहा है, वह)।

ज्ञेय और दृश्य, दोनों एक ही चीज़ हैं लेकिन जब ऐसा लगता है कि 'कुछ है', तब दृष्टा है और जब जानता है कि 'क्या है', तब ज्ञातापद में है। मूल आत्मा यानी भगवान खुद तो वीतराग रहते हैं, वे प्रतिष्ठित आत्मा के पर्यायों को नहीं देखते, वे तो अविनाशी तत्त्व को ही, उसके गुण व पर्यायों को ही देखते और जानते हैं।

आत्मा के पर्याय भी वीतराग हैं जो कि यह जानते हैं कि 'यह राग है', 'यह द्वेष है'। अर्थात् मात्र राग–द्वेष को जानते हैं लेकिन उनमें

सजीव अहंकार नहीं है, (इस ज्ञान के मिलने के बाद सजीव अहंकार खत्म हो जाता है) यानी कि यह बुद्धि 'देखती' है लेकिन उसे राग-द्वेष नहीं होते और वह दृष्टा के रूप में ही रहती है और 'भगवान' यानी कि मूल आत्मा, इन सब में वीतराग रहते हैं। उन्हें राग भी नहीं है और द्वेष भी नहीं है।

मूल आत्मा का ज्ञान शुद्ध है और पर्याय शुद्ध हैं जबकि विभाविक आत्मा का ज्ञान शुद्ध है और पर्याय अशुद्ध हैं।

विभाविक आत्मा के अशुद्ध पर्यायों में जो बुद्धि है, वह जीवित अहंकार से रहित है इसलिए उसे राग-द्वेष नहीं हैं लेकिन उससे निम्न स्टेज में जो (जीवित) अहंकार सहित बुद्धि है, उसे राग-द्वेष है। यदि अहंकार एकाकार नहीं होगा तो बुद्धि ऐसा देखेगी कि 'यह राग है', ऐसा देखेगी कि 'यह द्वेष है', लेकिन उसे खुद को राग-द्वेष नहीं होंगे।

इसलिए यहाँ पर बुद्धि, जो कि विभाविक पर्याय है, वह दो प्रकार की हुई।

(१) अहंकार रहित बुद्धि :- 'यह राग है, यह द्वेष है' ऐसा देखती है-जानती है लेकिन उसे राग-द्वेष नहीं होते।

(२) अहंकार सहित बुद्धि :- 'यह अच्छा है, यह बुरा है', ऐसा देखती-जानती है और राग-द्वेष होते हैं।

यदि ज्ञेयों को लेकर शुद्धता आ जाए तो पूरा ही शुद्ध हो जाएगा, पर्यायों और ज्ञेयों को लेकर। (ज्ञेयों में तन्मयता छूटे, वीतरागता से ज्ञेयों का ज्ञाता रहे तो ज्ञेयों को लेकर खुद में शुद्धता आती जाती है।)

बुद्धि कहाँ से उत्पन्न हुई? वह विभाविक आत्मा के पर्यायों से निकलती है। जब पर्यायों में भी 'आपको' शुद्ध दिखाई देने लगेगा, तब ऐसा कहा जाएगा कि मूल शुद्धात्मा बन गया।

दादाश्री खुद के पर्यायों के लिए कहते हैं कि 'हमारी जितनी कमियाँ हैं, उतने ही पर्याय बिगड़े हुए हैं। वे सभी जब शुद्ध हो जाएँगे तो ज्ञान एकदम शुद्ध हो जाएगा। उसके बाद पूर्णाहुति होगी'।

पर्यायों में वीतरागता कब आती है? संपूर्ण शुद्ध हो जाने पर। सभी कर्मों का *निकाल* (निपटारा) हो जाने पर। पहले अंदर शुद्ध हो जाता है, उसके बहुत समय बाद बाहर शुद्ध होता है।

आत्मद्रव्य का स्वरूप, ज्ञान (गुण) और पर्याय होते हैं।

अवस्था स्वरूप को देखते हैं पर्याय। जितने भाग में ज्ञान ढका हुआ है, उतने ही भाग में पर्याय से देखता है और जब 'खुद' ज्ञान में देखता है, तब पूरा केवलज्ञान स्वरूप ही दिखाई देता है।

केवलज्ञान कभी भी पर्याय रूपी नहीं होता। ज्ञान गुण तो संसार के संदर्भ में कहा गया है। आत्मा का मूल गुण तो विज्ञान तक जा सकता है।

क्या बुद्धि को मतिज्ञान कहते हैं? नहीं। ज्ञान में बुद्धि हो ही नहीं सकती न!

बुद्धि अर्थात् अहंकारी ज्ञान और आत्मा के विभाविक पर्याय अर्थात् अहंकारी ज्ञान।

संक्षेप में विभाविक आत्मा (यानी 'खुद') पर्याय के रूप में विनाशी है और ज्ञान के रूप में अविनाशी है। केवलज्ञान के बाद खुद पर्याय रूपी नहीं रहता।

''मैं' पर्याय से भी संपूर्ण शुद्ध और सर्वांग शुद्ध हूँ', यहाँ पर आत्मा के स्वाभाविक पर्यायों की बात है और मूल आत्मा में तो विभाविक पर्याय हैं ही नहीं। विभाविक पर्याय ही अशुद्ध हैं, उन्हें शुद्ध करना है, केवल तक पहुँचने के लिए।

दादाश्री कहते हैं कि हमारी भी चार डिग्री तक की बुद्धि खत्म होनी बाकी है, उतने ही अशुद्ध पर्याय बचे हैं। वे पर्याय जब शुद्ध हो जाएँगे तो हमें केवलज्ञान हो जाएगा।

केवलज्ञान होने के बाद में देह व वाणी बाकी रहते हैं, लेकिन वे

खुद के स्वभाव में ही रहते हैं इसलिए बाहर का उसे 'नो टच', जबकि विभाव दशा में सौ प्रतिशत 'टच'।

केवलज्ञान सबकुछ देखता है, *पुद्गल* के तमाम पर्यायों को देखता है लेकिन उसे राग-द्वेष नहीं हैं, बस वीतरागता!

स्वरूप ज्ञान मिलने के बाद में शुद्धात्मा तो बन गए लेकिन पर्याय शुद्ध होने बाकी हैं। जब से 'मैं' की मान्यता अशुद्ध हुई तभी से व्यवहार आत्मा की शुरुआत हुई। केवलज्ञान होने तक वह पर्याय स्वरूपी ही रहता है। ज्ञान, दर्शन व पर्याय स्वरूपी और तब तक कषाय रहते हैं। केवलज्ञान होते ही अकषाय दशा आ जाती है। उसके बाद वह पर्याय स्वरूपी नहीं रहता। उसके बाद तो केवलज्ञान स्वरूपी रहता है। केवलज्ञान होने तक कषाय-अकषाय वाले पर्याय रहते हैं। जितने पर्याय शुद्ध हो जाते हैं, जितनों में वीतराग हो जाता है, उतना ही उसका उपादान माना जाता है, वही पुरुषार्थ है।

सिद्धात्मा में भी द्रव्य-गुण व पर्याय होते हैं। विभाविक ज्ञान के पर्याय 'बाहर' देखते हैं जबकि ज्ञान, गुण व द्रव्य को नहीं छोड़ता। सिद्धात्मा के शुद्ध पर्याय 'अंदर' देखते हैं, 'बाहर' नहीं देखते, खुद के द्रव्य में सबकुछ झलकता है (दिखाई देता है)।

आत्मा की अवस्था उसकी बाउन्ड्री में रहकर बदलती है, और तब *पुद्गल* उसके सामीप्य भाव में रहने के कारण उसकी नकल करता है। *पुद्गल* की अवस्था भी स्वाभाविक रूप से बदलती रहती है, उससे उसे ऐसी मान्यता हो जाती है कि 'मैं बदल रहा हूँ'। सामीप्य भाव से जो व्यतिरेक गुण उत्पन्न होते हैं, उनकी वजह से *पुद्गल* की अवस्था बदलती रहती है।

जड़ के दबाव से चेतन विभाव दशा में आता है, वहीं पर 'मैं' खड़ा हो जाता है, उसी को भ्रांत भाव का अहंकार कहा गया है। फिर आगे बढ़कर 'मैं' को 'मैं चंदू हूँ', ऐसी मान्यता हो जाती है, उसे पौद्गलिक भाव का अहंकार कहा गया है।

पुद्गल परिणाम यानी कि पौद्गलिक पर्याय किसे कहेंगे?

पुद्गल में से *पुद्गल* परिणाम ही उत्पन्न होते हैं और चेतन में से चेतन परिणाम ही उत्पन्न होते हैं। पूरा जगत् अचेतन पर्याय से ही चल रहा है। ज्ञानी पर उसका असर नहीं होता, अज्ञानी पर असर होता है।

सभी के सार के रूप में अंत में परम पूज्य दादाश्री कहते हैं, पर्याय समझ में नहीं आएँगे तो क्या मोक्ष में नहीं जा सकेंगे? जा सकेंगे क्योंकि मोक्ष तो ज्ञानी की पाँच आज्ञा के पालन से होगा।

ये पर्याय बहुत सूक्ष्म चीज़ हैं। उनमें बहुत गहरे नहीं उतरना है। हमें स्पिनिंग करना (मोटा कातना) है, बाद में वीवींग (बुनाई) करते समय देखा जाएगा।

हमें ऐसा कहना है कि 'द्रव्य-गुण-पर्याय से मैं संपूर्ण शुद्ध हूँ'। बाकी, उसमें से कुछ भी समझ में नहीं आएगा, और अगर समझ में आ गया तो वह केवलज्ञान स्वरूप में आ गया।

(३) अवस्था के उदय-अस्त

आत्मा के पर्याय उसके खुद के प्रदेश में रहकर बदलते हैं। स्वाभाविक आत्मा तो वही का वही है, टंकोत्कीर्ण है।

पुद्गल की अवस्थाएँ हैं और (विभाविक) आत्मा की भी अवस्थाएँ हैं। वह उन दोनों को मिलाकर 'खुद' सिरफोड़ी करता है।

वास्तव में कर्मरज किसे और किस प्रकार से चिपकती है? वास्तव में कर्मरज आत्मा के द्रव्य पर, गुण पर या पर्याय पर नहीं चिपकती। यदि चिपक जाए तो फिर उखड़ेगी ही नहीं न! इसलिए वास्तव में तो भ्रांतिरस से खुद ऐसा कहता है कि, 'मैंने यह किया' और 'यह मेरा है'। अत: *पुद्गल* (जो पूरण और गलन होता है) और आत्मा के बीच में भ्रांतिरस टपकता है। उसी से यह चिपका हुआ है, बस। ज्ञानी द्वारा भ्रांतिरस विलय करने के बाद ऐसा हो जाता है कि 'यह मैंने नहीं किया और यह मेरा नहीं है' और उसके बाद द्रव्य अलग हो जाता है।

अवस्था उदयास्त वाली होती हैं। मनुष्य, स्त्री, पुरुष, गधा, गाय, भैंस, ये सभी आत्मा के फेज़िज़ हैं, जैसे कि बीज, तीज... चंद्र के फेज़ हैं! मनुष्यपने में जो गुण अधिक अनुपात में डेवेलप होता है, उस अनुसार गति मिलती है।

इसमें आत्मा तो वही का वही है।

हिन्दुओं में पंच महाभूत और छठवाँ तत्त्व आत्मा, ऐसा वर्णन है और महावीर भगवान ने छ: अलग तत्त्व बताए हैं।

(१) हिन्दू धर्म :- पंच महाभूत में पृथ्वी, वायु, आकाश, जल, अग्नि (इसमें आत्मा नहीं है।)

(२) महावीर भगवान :- छ: सनातन तत्त्व जिनमें चेतन, जड़, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश व काल हैं।

पंच महाभूतों में पृथ्वी, वायु, अग्नि व जल, ये चार मूल तत्त्व नहीं हैं, वे तो एक ही सनातन, मूल जड़ तत्त्व के अणुओं की अवस्थाएँ ही हैं। जबकि आकाश अलग है, वह अलग ही सनातन माना जाता है।

यदि पंच महाभूतों से ही शरीर बना है तो फिर इसमें गति किस तरह से होती है? वह कौन से तत्त्वों से है? अत: समझ में कोई फर्क है। देह में क्या-क्या है? पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, आकाश, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, काल और नौवाँ खुद चेतन।

यह शरीर, मन, अहंकार, इन सब में, आकाश और बाकी के चार महाभूतों में से (जो जड़ तत्त्व की अवस्थाएँ हैं), और काल, गति सहायक और स्थिति सहायक इन सब से बना हुआ है। अहंकार का विनाश हो जाता है। अहंकार में चेतन एकाकार नहीं है लेकिन उस पर उसका प्रभाव है।

मनुष्य में पंच महाभूतों का इम्बैलेन्स हो गया है। कर्म के उदय के अनुसार कम या ज़्यादा भोजन ले पाता है इसलिए इम्बैलेन्स हो जाता है!

मृत्यु के बाद शरीर को अग्नि को क्यों समर्पित किया जाता है?

इसलिए क्योंकि अग्नि ही उसे सब से स्पीडिली नष्ट करती है। बाकी, मिट्टी व पानी भी उसे धीरे-धीरे नष्ट करते हैं।

अनंत काल से इसी मिट्टी की गंदगी चलती रही है न!

पानी, वायु, पृथ्वी और अग्नि, उनमें मात्र जड़ तत्त्व ही नहीं हैं बल्कि वे सब जीव हैं। अग्नि के जो लाल-भूरे रंग दिखाई देते हैं, वे सभी जीव हैं। उन्हें तेउकाय जीव कहा गया है, जिनका शरीर अग्नि रूपी होता है। उसी प्रकार दूसरे तत्त्व भी (पृथ्वी, पानी व वायु) जीवों के शरीर ही हैं।

जीव व अजीव, दो ही तत्त्वों से कितनी बड़ी रामलीला हो गई!

हर एक चीज़ रूपांतरित होती रहती है। रूपांतरण अर्थात् उत्पाद, ध्रुव और व्यय। उत्पन्न होना और विनाश होना, वह पर्याय से है और स्थिर होना, वह स्वभाव से है।

उदाहरण के तौर पर आप खुद शुद्धात्मा हो, ध्रुव के तौर पर हो और शाश्वत हो, और अवस्थाएँ यानी कि संयोग उत्पन्न होते हैं और उनका वियोग हो जाता है। संयोग-वियोग, दोनों ही अवस्थाएँ हैं और आत्मा हमेशा के लिए स्थिर ही है।

स्थूल व सूक्ष्म अवस्थाएँ स्वभाव से ही जानी जा सकती हैं। आत्मा ज्ञान स्वरूप है। वह खुद के स्वाभाविक ज्ञान प्रकाश से बाहर की अवस्थाओं को देखता रहता है। अवस्था उत्पन्न होती है, टिकती है और विलय हो जाती है। यहाँ पर अवस्थाओं के टिकने का अर्थ ध्रुव नहीं है क्योंकि जब टिकी हुई होती हैं तब सूक्ष्म रूप से नाश होने की प्रक्रिया चलती ही रहती है। ध्रुव का मतलब तो यह है कि हमेशा के लिए उसी स्वरूप में रहे, गीता में ऐसा कहा गया है कि 'सृष्टि का सृजन, पालन और विसर्जन मैं कर रहा हूँ', इसका सूक्ष्म अर्थ यह है कि 'मैं' शब्द आत्मा के लिए है और उसके पर्याय उत्पन्न होते हैं और नष्ट हो जाते हैं जबकि आत्मा खुद ध्रुव रहता है।

आत्मा के गुण या मूल द्रव्य नहीं बदलते लेकिन पर्याय बदलते हैं, उसे धर्म कहा गया है। ज्ञाता-दृष्टापन, वह धर्म है। उसकी शुरुआत कहाँ से होती है ? अनंत भाग वृद्धि सब से कम मात्रा में वृद्धि। असंख्यात भाग वृद्धि अर्थात् बहुत ही कम मात्रा में बढ़ता है। संख्यात भाग उससे अधिक बढ़ता है। उसी प्रकार हानि के लिए रिवर्स समझना है।

हानि व वृद्धि पर्यायों में होती हैं।

जब वृद्धि होती है तब :-

अनंत भाग वृद्धि → असंख्यात भाग वृद्धि → संख्यात भाग वृद्धि → संख्यात गुण वृद्धि → असंख्यात गुण वृद्धि → अनंत गुण वृद्धि

जब हानि होती है तब :-

अनंत गुण हानि → असंख्यात गुण हानि → संख्यात गुण हानि → संख्यात भाग हानि → असंख्यात भाग हानि → अनंत भाग हानि → अनंत भाग वृद्धि...

अभी, पहले लोगों की चहल-पहल की शुरुआत अनंत भाग वृद्धि से होती हैं। वह सिद्ध भगवान के खुद के द्रव्य में झलकता है।

जब वृद्धि होती है तब :-

अनंत भाग वृद्धि - सुबह ३-४ बजे - लाख में से १०-२० लोग चलते-फिरते दिखाई देते हैं।

असंख्यात भाग वृद्धि - सुबह ५-६ बजे - लाख में से ५०-१०० लोग बढ़ते हैं।

संख्यात भाग वृद्धि - सुबह ७-८ बजे - लाख में से ५००-७०० लोग बढ़ते हैं।

संख्यात गुण वृद्धि - सुबह ९-१० बजे - लाख में से २-३ हज़ार लोग बढ़ते हैं।

असंख्यात गुण वृद्धि - सुबह १०-११ बजे - लाख में से १२-१५ हज़ार लोग बढ़ते हैं।

अनंत गुण वृद्धि - सुबह ११-१२ बजे - लाख में से ६०-७० हज़ार लोग बढ़ते हैं। (बढ़-बढ़कर सत्तर-अस्सी हज़ार तक आता है)

जब हानि होती है तब :- (घटने का काल आएगा तब)

अनंत गुण हानि - दोपहर को ५-६ बजे - लाख में से ६०-७० हज़ार लोग कम हो जाते हैं। (ऑफिस से घर जाने लगते हैं इसलिए रास्ते खाली होने लगते हैं।)

असंख्यात गुण हानि - शाम को ६-७ बजे - लाख में से १२-१५ हज़ार लोग कम हो जाते हैं।

संख्यात गुण हानि - शाम को ७-८ बजे - लाख में से २-३ हज़ार लोग कम हो जाते हैं।

संख्यात भाग हानि - रात को ९-१० बजे - लाख में से ५००-७०० लोग कम हो जाते हैं।

असंख्यात भाग हानि - रात को १०-११ बजे - लाख में से ५०-१०० लोग कम हो जाते हैं।

अनंत भाग हानि - रात को १२-१ बजे - लाख में से १०-२० लोग कम हो जाते हैं।

वे कम होते जाते हैं और सुबह ३-४ बजे से वापस बढ़ते जाते हैं। उपरोक्त क्रमानुसार पूरी साइकल रिपीट होती रहती है। (लोगों की संख्या तो हमने यहाँ पर सिर्फ उदाहरण को समझने के लिए दी है।)

आत्मा को 'खुद को' कुछ भी नहीं करना होता। उसके धर्म बदलते रहते हैं। उसके अंदर सबकुछ झलकता है। उससे उसे क्या बोझ? दर्पण के सामने कोई नखरे करे तो उसमें नुकसान किसे है?

[४] अवस्था को देखने वाला 'खुद'

वास्तव में कोई अवस्था 'खुद को' उलझाती ही नहीं है। अवस्था को स्वभाव मनवाने वाली 'खुद की' मान्यता की वजह से ही उलझनें हैं। स्वभाव अर्थात् तत्त्व। अवस्था को 'मैं ही हूँ', ऐसा मानता है इसलिए

संसार बढ़ता है। आत्मा का स्वभाव है 'देखना और जानना'। अवस्थाओं को 'आप' देखते ही रहो।

अवस्था को नित्य मानता है उसी के कारण सभी दुःख हैं। कोहरा आने से क्या घबरा जाना चाहिए? कुछ देर बाद वह बिखर जाएगा? वस्तु नित्य है, अवस्थाएँ अनित्य हैं। ये जो दिखाई देती हैं, वे तमाम मूल तत्त्वों की अवस्थाएँ ही हैं, मूल तत्त्व नहीं हैं। अगर वह दिखाई दे तो काम ही बन जाए।

जगत् में सभी के पास अवस्था दृष्टि है। 'यहाँ' आत्मा का ज्ञान मिलने के (ज्ञानविधि) बाद तत्त्व दृष्टि उत्पन्न हो जाती है। रियल आत्मा रियल तत्त्वों को ही देखता है और जो संसारी आत्मा है, वह अवस्थाओं को देखता है।

ज्ञान मिलने के बाद यदि कहीं भी ज्ञेय में चिपके तो तुरंत ही तत्त्व दृष्टि से समझ में आ जाता है कि यह 'चंदूभाई' का है, मेरा नहीं है।

तत्त्व की अवस्था के *एलिया* (किसी सुराख में से आने वाली सूर्य की किरणें) पड़ते हैं। जैसे कि जब सूर्यनारायण बादल के पीछे होते हैं फिर भी उनकी अवस्थाओं के *एलिया* पड़ते हैं।

अवस्था दृष्टि से देखने पर उसका प्रभाव पड़ता है, आकर्षण-विकर्षण होता है, तत्त्व दृष्टि से नहीं।

अवस्था में 'मैं' पन माना कि तुरंत ही उसमें चुंबकत्व उत्पन्न हो जाता है। तत्त्व दृष्टि से मोक्ष होता है। तत्त्व दृष्टि से देखने वाले को लाभ होता है। सामने वाले में आत्मा दिखाई देता है। जबकि अवस्था दृष्टि से देखने वाला उसमें खो जाता है। तत्त्व दृष्टि वाले को दूध में घी दिखाई देता है, तिल में तेल दिखाई देता है!

तत्त्व दृष्टि हुए बिना 'ज्ञानक्रियाभ्याम् मोक्ष' कभी भी नहीं हो सकता। क्योंकि तत्त्व दृष्टि के बिना अवस्था को ही ज्ञान क्रिया मान लेते हैं, लेकिन वे सब तो अज्ञान क्रियाएँ कहलाती हैं।

जिस अवस्था में आता है, वैसा ही उसका नाम पड़ जाता है। पैर

टूट जाए तो लंगड़ा, टाइप करे तो टाइपिस्ट, ड्राइव करे तो ड्राइवर। सबकुछ रिलेटिव है, रियल में तो दुनिया गड़बड़ घोटाला है।

जन्म होना आदि है और मृत्यु अंत है जबकि आत्मा अनादि अनंत है। जो जीता और मरता है, वह जीव है। जन्म-मरण भ्रांति है। वास्तव में तो यह अवस्था परिवर्तन है।

ज्ञानी की भाषा जगत् से न्यारी है।

आत्मा ज्ञानी नहीं है, ज्ञानी का फेज़ है, उसे देखते रहना है।

कॉज़ेज़ व इफेक्ट अवस्था में होते हैं, तत्त्व में नहीं।

बुद्धि अवस्था को स्वरूप मनवाती है, तब यदि दादा को याद करके कहे कि 'मैं वीतराग हूँ' तो बुद्धि बहन बैठ जाएगी!

ज्ञान के बाद में ज्ञेय-ज्ञाता संबंध को मात्र जानना है। भ्रांति से आत्मा के बारे में जो कुछ भी सोचा हुआ है, वह ज्ञाता-ज्ञेय के संबंध को जानने से ही चला जाता है। उसके बगैर नहीं जा सकता क्योंकि आत्मा की उपस्थिति में तन्मयाकार होने से विचार स्टेम्प वाले हो जाते हैं।

'मैं' में पड़ने से अवस्था में अस्वस्थ और स्व में स्वस्थ हो जाता है अर्थात् परमात्मा।

दर्पण में हिमालय दिखाई दे तो क्या दर्पण को उससे भार महसूस होगा? ज्ञानी को संसार अवस्था स्पर्श ही नहीं करती तो भार कहाँ से?

सभी पर्यायों के, सभी सूक्ष्म संयोगों के शुद्ध होते ही वह अनंत ज्ञानी बन जाता है।

संक्षेप में समझ जाओ कि 'मैं आत्मा हूँ, और बाकी सभी पर्याय हैं', तो जल्दी से अंत आ जाएगा।

आत्मा की विभाविक अवस्था में रहने से राग-द्वेष हैं और स्वाभाविक अवस्था में रहने से वीतराग!

मन-वचन-काया की अवस्था में मुकाम करे तो वहाँ अस्वस्थ,

निरंतर अंतरदाह चलता ही रहता है। अवस्थाओं का तो निरंतर समसरण होता ही रहता है, उसमें मुकाम करने वाले को सु:ख-शांति कहाँ से? पिछली गुनहगारी के फल के रूप में आज ये अवस्थाएँ मिलती हैं!

हे जीव! अवस्था की भक्ति छोड़कर 'स्व' की भक्ति में डूब!

आँखों का झपकना भी अवस्था है, और फिर वह ऑटोमैटिक हो जाता है! अगर खुद करना हो तो क्या उसकी रिदम या काउन्ट का ठिकाना रहेगा?

इन्सिडेन्ट में अवस्था का समावेश हो जाता है, क्योंकि अवस्था एक संयोग है। लेकिन अवस्था में इन्सिडेन्ट का समावेश नहीं हो सकता।

जो-जो अवस्था अच्छी लगी, वैसा संयोग मिलेगा ही।

तत्त्वों के मिलने से 'अहम्' उत्पन्न होता है, क्या वह बदल सकता है? अहम् का नाश केवलज्ञान होने पर ही हो सकता है। बाकी, अवस्थाओं का नाश तो तुरंत ही हो जाता है।

कुदरती नियम के अनुसार कोई भी अवस्था ४८ मिनट से ज़्यादा नहीं टिकती।

दादाश्री कहते हैं कि 'हमने दुनिया की किसी भी अवस्था को चखना बाकी नहीं रखा'।

पसंदीदा में तन्मयाकार तो पसंद वाला बाँधता है और नापसंद में तन्मयाकार नहीं होता तो भी नापसंद का ही बंधन होता है।

यदि अवस्था में *लक्ष* (जागृति) रहे तो वहाँ निशान पड़ता है और नहीं जाए तो अवस्था स्वाहा हो जाती है, जागृति यज्ञ में!

पूर्व जन्म में जिन पर्यायों का विशेष रूप से वेदन किया होगा, वे अभी अधिक आएँगे और घंटों-घंटों तक चित्त वहाँ पर चिपका रहेगा। उसे दखल कहा गया है। अवस्था को 'नहीं है मेरी' करेंगे तभी वह छूटेगी। ज्ञानी किसी भी अवस्था में एक क्षण के लिए भी एकाकार नहीं होते।

वर्तमान में ही बरतते हैं। अवस्थाएँ डिस्चार्ज हैं, वे वापस कभी भी नहीं आतीं।

अवस्थाएँ स्वाहा कब होती हैं? जब ज्ञाता अवस्थाओं को ज्ञेय के रूप में अलग 'जाने', मन बिगड़े तो अनेक बार प्रतिक्रमण करके उसे साफ कर ले, तब आत्मा चिपके हुए पर्यायों से मुक्त हो जाता है!

यदि अवस्थाओं को पकड़ा नहीं जाए तब भी चली जाएँगी और पकड़कर रखा जाए तब भी चली जाएँगी इसलिए उन्हें बाय-बाय कर देना।

अज्ञानी अवस्थाओं में पोतापना मानता है, मानता है कि 'मैं ही हूँ'। ज्ञानी उन्हें मात्र 'देखते' और 'जानते' हैं!

जिस दवाई से रोग मिटे, वही दवाई सही है। जिस ज्ञान से संसार छूटे वास्तव में वही आत्मज्ञान है। जब ज्ञान का उपयोग हो तब उसे प्रज्ञा कहते हैं।

जे पद श्री सर्वज्ञे दीठुं ज्ञानमां,
कही शक्या नहीं ते पद श्री वीतराग जो.
तेह स्वरूपने अन्य वाणी ते शुं कहे?
अनुभव गोचर मात्र रह्युं ए ज्ञान जो.
अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे?

-श्रीमद् राजचंद्र

दादाश्री बहुत ज़ोर देकर कहते हैं, 'काम निकाल लो, काम निकाल लो, काम निकाल लो, यह बुलबुला फूटे उससे पहले!!!'

-डॉ. नीरू बहन अमीन

अनुक्रमणिका

[खंड-१] विभाव - विशेषभाव - व्यतिरेक गुण

[१] विभाव की वैज्ञानिक समझ

[२] क्रोध-मान-माया-लोभ, किसके गुण?

[३] विभाव अर्थात् विरुद्ध भाव?

[४] प्रथम फँसाव आत्मा का

[५] अन्वय गुण-व्यतिरेक गुण

[६] विशेष भाव - विशेष ज्ञान - अज्ञान

[७] छः तत्त्वों के समसरण से विभाव

[८] क्रोध-मान से 'मैं', माया लोभ से 'मेरा'

[९] स्वभाव और विभाव के स्वरूप

[१०] विभाव में चेतन कौन? पुद्गल कौन?

[११] जब विशेष परिणाम का अंत आता है तब...

[१२] 'मैं' के सामने जागृति

[खंड-२]

द्रव्य-गुण-पर्याय

[१] परिभाषा, द्रव्य-गुण-पर्याय की

[२] गुण व पर्याय के संधि स्थल, दृश्य सहित

[३] अवस्था के उदय व अस्त

[४] अवस्थाओं को देखने वाला 'खुद'

आप्तवाणी

श्रेणी-१४ भाग-१

खंड-१

विभाव - विशेषभाव - व्यतिरेक गुण

[१]

विभाव की वैज्ञानिक समझ

विश्व की उत्पत्ति का मूल कारण

प्रश्नकर्ता : परमात्मा को विश्व की उत्पत्ति का मूल कारण भी कहते हैं न?

दादाश्री : परमात्मा को मूल कारण कहते हैं। मूल कारण तो हैं ही न! लेकिन मूल कारण संयोगी संबंधों की वजह से हैं, स्वतंत्र संबंध से नहीं।

प्रश्नकर्ता : वह समझाइए।

दादाश्री : भगवान स्वतंत्र कारण नहीं हैं। कहना हो तो, यदि खोजेंगे तो कारण मिलेगा तो सही लेकिन उसमें वे खुद स्वतंत्र कारण नहीं बने हैं। अब यदि वे स्वतंत्र (कारण) होते तो मूल कारण कहलाते और यदि किसी के दबाव से बने हों तो?

अन्य कोई कारण नहीं है लेकिन कहना तो पड़ेगा न! अभी कोई पूछे कि 'भाई, इसमें इसका कोई मूल कारण है?' तो वह यह है। इसलिए मूल कारण के तौर पर कारण कहना पड़ता है।

जगत् का मूल कारण तो, वास्तव में यह भी विशेष भाव की वजह से हो गया है। आज के साइन्टिस्ट यह समझ सकते हैं। दो चीज़ों की, जड़ और चेतन की उपस्थिति से तीसरा विशेष भाव-विशेष गुण उत्पन्न हो जाता है। इसलिए यह जगत् खड़ा हो गया है।

यह जगत् विज्ञान से उत्पन्न हुआ है और विज्ञान ही इसका कर्ता है। इसीलिए साइन्टिफिक सरकमस्टेन्शियल एविडेन्स कहता हूँ और यह देखकर कह रहा हूँ। यह पुस्तक की बात नहीं है, यह गप्प नहीं है, बिल्कुल न्यू (नवीन) और खुल्ली बात है।

प्रश्नकर्ता : पहला कॉज़ कौन सा है? सब से बड़ा कारण कौन सा है?

दादाश्री : दो तत्त्व साथ में रहे न, वही कॉज़ है। ये सभी तत्त्व साथ में रहकर परिवर्तित होते हैं, परिवर्तनशील स्वभाव वाले हैं। इसलिए वही कॉज़ है, इसमें अन्य कोई कॉज़ नहीं है।

बाकी, आत्मा तो वैसे का वैसा ही है। उसे कुछ भी स्पर्श नहीं कर सकता। वस्तु निर्लेप ही है, असंग ही है। सिर्फ इन दो वस्तुओं के साथ में रहने से यह व्यतिरेक गुण उत्पन्न हो गया है। वहाँ से फिर उसमें से कॉज़ेज़ एन्ड इफेक्ट, कॉज़ेज़ एन्ड इफेक्ट चलता ही रहता है।

इस जगत् में छः इटर्नल (शाश्वत) वस्तुएँ हैं। छः तत्त्व हैं, वे सनातन तत्त्व हैं। वे सभी तत्त्व समसरण करते हैं। समसरण अर्थात् एक तत्त्व दूसरे तत्त्व के साथ आता है, उसमें जड़ और चेतन तत्त्व के समीप आने से व्यतिरेक गुण (विशेष गुण) उत्पन्न होता है, उसमें 'मैं पन' मानता है कि, 'मैं हूँ, मैं कर रहा हूँ'।

इस जगत् में दो चीज़ें हैं; 'आप' और 'संयोग'। 'आत्मा' बंधा

हुआ नहीं है लेकिन संयोगों से घिरा हुआ है परंतु वे निकट संयोग हैं इसलिए 'आपको' भ्रांति हो जाती है।

भ्रांति की भवाई, सामीप्य भाव से

प्रश्नकर्ता : अब, दादाजी इस 'सामीप्य भाव को लेकर भ्रांति उत्पन्न होती है', वह ठीक से समझाइए।

दादाश्री : इस शरीर में *पुद्‌गल* (जो पूरण और गलन होता है) और आत्मा दोनों के एकदम नज़दीक होने के कारण अर्थात् इसके दबाव को लेकर भ्रांति उत्पन्न हो जाती है कि 'मैं यह हूँ या वह हूँ?' इसके दबाव के कारण ऐसा होता है। कोई क्रिया हो जाए तो कहता है 'मैंने की या किसी और ने की? और कौन है करने वाला?' यानी यह भ्रांति उत्पन्न होती है। खुद ने कुछ भी नहीं किया है। आत्मा कर्ता है ही नहीं लेकिन 'उसे' ऐसा लगता है कि, 'करने वाला अन्य और कौन है? मैं ही हूँ, मैंने ही किया है'। वह नज़दीक है न, इसलिए उसे भ्रांति उत्पन्न हो जाती है। दूसरा कोई करने वाला है नहीं और खुद कर्ता नहीं है फिर भी कहता है 'मैंने किया', वही भ्रांति है। वह बंधन का समीकरण है, तो हम इन दोनों को अलग कर देते हैं कि 'यह आप नहीं हो', तो अलग हो गया।

प्रश्नकर्ता : *पुद्‌गल* परमाणुओं की चंचलता हैं, क्या इसी वजह से आत्म तत्त्व को भ्रांति हो जाती होगी?

दादाश्री : नहीं, तब तो फिर यह सामने वाले का गुनाह हुआ। हम पर क्या असर हो सकता है? यह तो, दो वस्तुओं के साथ में रहने से विशेष गुण उत्पन्न हो जाता है।

प्रश्नकर्ता : वह तो ठीक है लेकिन दो वस्तुएँ साथ में क्यों आती हैं?

दादाश्री : छः शाश्वत वस्तुएँ पहले से ही साथ में हैं लेकिन ये दो वस्तुएँ, जड़ और चेतन ऐसी हैं कि विशेष गुण उत्पन्न हो जाता

है। दूसरी सभी वस्तुएँ साथ में हों तो विशेष गुण उत्पन्न नहीं होता। जड़ और चेतन दोनों के मिलने से प्रथम विभाव में 'मैं' उत्पन्न होता है।

प्रश्नकर्ता : सिर्फ इन्हीं में होता है?

दादाश्री : सिर्फ ये दो ही वस्तुएँ ऐसी हैं।

प्रश्नकर्ता : ये इन दोनों तत्त्वों के मूलभूत गुण ही होंगे न? एक-दूसरे के गुणों के हिसाब से ही ऐसा होता होगा न?

दादाश्री : नहीं, नहीं, विशेष भाव यानी कि जो गुण खुद के नहीं हैं, वैसे गुण उत्पन्न हो जाते हैं, दो वस्तुओं को साथ में रखने से।

प्रश्नकर्ता : हाँ, वह ठीक है लेकिन मूलभूत तो, आत्मा में जो गुण हैं और *पुद्गल* परमाणुओं (जड़) में जो गुण हैं, उनकी वजह से दूसरा गुण उत्पन्न होता है?

दादाश्री : मूल गुण हैं न उनके पास, *पुद्गल* परमाणुओं का गुण है सक्रियता। इसलिए यह विभाविक *पुद्गल* बन जाता है और इस चेतन को खुद को कुछ भी नहीं है, यह पराई *उपाधि* (बाहर से आने वाला दु:ख, परेशानी) है इसलिए ऐसा (विभाव) हो गया है। आत्मा की इच्छापूर्वक नहीं है। दो वस्तुएँ साथ में रखी हों तो दोनों में विशेष भाव उत्पन्न होते हैं। फिर यदि दोनों वस्तुएँ असर वाली हों तो पकड़ लेती हैं और असर रहित हों तो नहीं पकड़तीं लेकिन विशेष भाव तो उत्पन्न होता ही है और इनमें (*पुद्गल* परमाणुओं में) सक्रियता है इसलिए तुरंत ही पकड़ लेते हैं।

प्रश्नकर्ता : *पुद्गल* पकड़ लेता है, इसलिए ऐसा दिखाई देता है कि यह तूफान *पुद्गल* का है।

दादाश्री : *पुद्गल* की गलती दिखाई देती है लेकिन सिर्फ *पुद्गल* का ही गुनाह नहीं है। ये दोनों साथ में हैं, तभी ऐसा है। यदि ये दोनों अलग हो जाएँ तो वहाँ पर असर रहेगा ही नहीं।

प्रश्नकर्ता : विभाव तो स्वभाव से अलग चीज़ है न?

दादाश्री : नहीं, विभाव तो, जड़ और चेतन तत्त्व के पास-पास आने से जो तीसरा विशेष परिणाम उत्पन्न होता है, उसे कहा गया है।

प्रश्नकर्ता : लेकिन आत्मा में विभाव नहीं है, द्रव्य दृष्टि में विभाव नहीं है, लेकिन जब वह पर्याय दृष्टि में आता है तब विभाव उत्पन्न होता है, वह बात तो सही है न?

दादाश्री : विभाव के बिना तो पर्याय दृष्टि हो ही नहीं सकती। पर्याय दृष्टि बाद में होती है, विभाव होने के बाद में। अत: मूल कारण विभाव है। उसे विभाविक पर्याय कहा गया है। मूल तत्त्व के स्वाभाविक पर्याय तो इससे अलग ही हैं। (पर्याय स्वाभाविक हैं। पर्याय दृष्टि ही रोंग बिलीफ है।)*

उस विशेष भाव को वीतरागों ने विभाव कहा है। जबकि लोग क्या समझे कि आत्मा की दृष्टि सांसारिक हो गई है। अरे भाई, यह दृष्टि नहीं बदली है। ऐसा हो ही नहीं सकता।

खुद के द्रव्य, गुण व पर्याय तो शुद्ध ही हैं। जैसे भगवान महावीर के थे, वैसे ही शुद्ध हैं। ज्ञानी वह सब देखने के बाद आपको ज्ञान देते हैं।

आत्मा का स्वभाव है। खुद का स्वभाव अर्थात् खुद के गुणधर्म और वह खुद की बाउन्ड्री में ही रहता है। आत्मा गुणधर्म और बाउन्ड्री से बाहर जाता ही नहीं है और वह उसका स्वभाव है और फिर स्वभाव में रहते हुए यह विशेष भाव है।

प्रश्नकर्ता : दादा! स्वभाव और विभाव दोनों विरुद्ध हैं?

दादाश्री : नहीं, विभाव को विशेष भाव कहा जाता है। विशेष भाव 'मैं' के रूप में उत्पन्न हुआ। 'मैं कुछ हूँ और यह मैंने ही किया है, मेरे अलावा और कौन है करने वाला?' यह विशेष भाव है। यह विरुद्ध भाव नहीं है। यदि आत्मा में स्वाभाविक और विरुद्ध भाव दशा, दोनों साथ में होंगे तो वह आत्मा कहलाएगा ही नहीं न!

---

*विभाव होने के बाद पर्याय से संबंधित और अधिक विवरण के लिए-खंड-२ में

प्रश्नकर्ता : दोनों में विशेष भाव उत्पन्न होता है?

दादाश्री : दोनों में। *पुद्गल* परमाणुओं (जड़) में भी विशेष भाव होता है और आत्मा में भी विशेष भाव होता है।

यह ऐसा है न, कि *पुद्गल* जीवंत वस्तु नहीं है। वहाँ पर भाव नहीं होता लेकिन वह इस तरह का हो जाता है कि विशेष भाव को ग्रहण कर लेता है इसलिए उसमें भी परिवर्तन होता है और आत्मा में भी परिवर्तन होता है। अब इसमें आत्मा कुछ करता नहीं है, *पुद्गल* भी कुछ नहीं करता, विशेष भाव उत्पन्न हो जाता है।

प्रश्नकर्ता : दोनों का संयोग आसपास में होने के कारण?

दादाश्री : दोनों का संयोग हुआ कि तुरंत विशेष भाव उत्पन्न हो जाता है।

प्रश्नकर्ता : मात्र संयोगों के कारण है या अन्य किसी कारण से है?

दादाश्री : संयोगों के कारण है और दूसरा कारण है अज्ञानता, वह बात तो हमें अंदर मान ही लेनी है क्योंकि हम जो बात कर रहे हैं न, वह अज्ञानता के अंदर की बात कर रहे हैं, वह बाउन्ड्री है। ज्ञान की बाउन्ड्री की बात नहीं कर रहे हैं हम। अत: वहाँ पर अज्ञान दशा में (व्यवहार) आत्मा को यह विशेष भाव उत्पन्न हो जाता है।

फिर (बाज़ी) *पुद्गल* के हाथ में आ जाती है। आत्मा फिर कैद हो जाता है जेल में। उसके बाद सारी *पुद्गल* सत्ता। फिर भी यदि कॉज़ेज़ बंद कर दिए जाएँ तो *पुद्गल* सत्ता बंद हो जाएगी। हम जब ज्ञान देते हैं तब कॉज़ेज़ बंद हो जाते हैं। विशेष भाव होना बंद हो जाता है, जो कि रूट कॉज़ है। कॉज़ बंद हुए कि खत्म हो गया, खुद को खुद की जागृति आ जाती है। अजागृति से खड़ा हो गया है यह। शुद्ध गुजराती में कहना हो तो अजागृति को '*बेभानपणुं*' (बेहोशी) कहते हैं।

प्रश्नकर्ता : दोनों के अलग-अलग विशेष भाव उत्पन्न होते हैं या दोनों को एक साथ एक ही होता है?

दादाश्री : पहले मूल आत्मा विशेष भावी हुआ क्योंकि उसमें चेतन है न! उन सब में चेतन नहीं है इसलिए पहले विशेष भाव उत्पन्न नहीं होता। खुद का स्वरूप जैसा है, उसे वैसा ही रखकर विशेष भावी बना है। खुद के स्वरूप में बदलाव नहीं हुआ इसीलिए विशेष भाव कहते हैं न! यदि स्वरूप में परिवर्तन हुआ होता तो विरुद्ध भाव कहलाता। यह तो विशेष भाव उत्पन्न हो गया है इसलिए आत्मा मूल भाव को चूक जाता है। यह (जड़) भी मूल भाव को चूक जाता है। विशेष भाव दोनों के मिलने से ही होता है। कोई करता नहीं है इसलिए दोनों मूल भाव को चूक जाते हैं और संसार की शुरुआत हो जाती है। फिर जब आत्मा मूल भाव में आता है, खुद जान जाता है कि 'मैं कौन हूँ', तब वह मुक्त होता है। उसके बाद में *पुद्गल* भी मुक्त हो जाता है।

ज्ञान नहीं, बदली है मात्र बिलीफ

आत्मा की विमुखता से लेकर सम्मुख होने तक की ये सारी क्रियाएँ चलती रहती हैं। तो कितनी ही बातों में आपकी (महात्माओं के लिए) ये मान्यताएँ टूट चुकी हैं और कितनी ही बातों में अभी मान्यताएँ बाकी रही हुई हैं, और संसारियों को जैसे-जैसे अनुभव होते हैं न, वैसे-वैसे कुछ-कुछ मान्यताएँ टूटती जाती हैं। हमारी सभी मान्यताएँ संपूर्ण रूप से छूट चुकी हैं। अर्थात् यदि ये मान्यताएँ छूट जाएँ न, तो खुद मुक्त ही है। इसमें ज्ञान नहीं बदला है, मान्यताएँ बदल गई हैं।

चिड़िया का यदि ज्ञान बदल गया होता न, तो वह चोंच मार-मारकर मर ही जाती। लेकिन ज्ञान नहीं बदला है, उसकी बिलीफ बदली है फिर वहाँ से उड़ने के बाद कुछ भी नहीं। जब वापस आती है तब वापस बिलीफ खड़ी हो जाती है कि 'यह वही है'। लेकिन अगर वापस उड़ जाए तो कुछ भी नहीं। उसमें तो उड़ने के बाद अगर यह ज्ञान बदल जाए तो खत्म ही हो जाएगा। लेकिन ज्ञान नहीं बदलता।

अर्थात् दर्शन में भ्रांति है, ज्ञान में भ्रांति नहीं है। दर्शन में भ्रांति यानी कि 'मैं हूँ' उसका भान है लेकिन वह 'मैं' क्या है, उसकी खबर

नहीं है। जैसे कि झूले में बैठने से पहले समझता है कि खुद ठीक है, तबियत अच्छी है लेकिन झूले में बैठने के बाद जब उतरता है तब उल्टी होती है, चक्कर आते हैं और सबकुछ घूमता हुआ दिखाई देता है। तब हम से क्या कहता है, 'अरे! यह सब घूम रहा है, यह सब घूम रहा है'। तब हमें उसे पकड़ लेना पड़ता है। 'यह सबकुछ घूम रहा है' कहता है, वही भ्रांति है। उसके बाद पता चलता है कि पहले तो मैं अच्छा था लेकिन यह जो घूमता हुआ दिखाई दे रहा है, वह मैं नहीं घूम रहा हूँ, भ्रांति के बारे में उतना भान होता है। लेकिन इन सभी को तो ऐसा ही लगता है कि 'मैं ही कर रहा हूँ' अर्थात् भ्रांति है, वह भी पता नहीं है। हिन्दुस्तान में अभी तक ऐसे लोग हैं जिन्हें भ्रांति के बारे में पता है।

प्रश्नकर्ता : इस जगत् में मान्यताओं की वजह से ही ये सारी तकरारें हैं न? द्वंद्व खड़े हो गए हैं न?

दादाश्री : हाँ, सिर्फ बिलीफ ही बिगड़ी है। उसी से संसार खड़ा हो गया है। पूरा संसार बिलीफ बिगड़ने से ही खड़ा है। अब दो वस्तुओं को साथ में रखने से विशेष भाव उत्पन्न हुआ, उसके बाद बिलीफ बिगड़ी। जैसे कि जब चिड़िया चोंच मारती है न, उस समय अहंकार काम करता है। चोंच मारने वाला वह खुद ही है और वह चोंच किसे मारता है? वह ऐसा मानता है कि यह वस्तु मुझसे अलग है। अर्थात् उसकी बिलीफ बदली हुई है।

प्रश्नकर्ता : यह बिलीफ बनने से पहले क्या उसे बहुत सी प्रक्रियाओं में से गुज़रना पड़ता है?

दादाश्री : हाँ! वह तो, प्रक्रिया होने के बाद ही बिलीफ बदलती है न! बिलीफ बंधती (बनती) है। प्रक्रिया तो सभी में अंदर रहस्यमय (गुप्त) रूप से रहती ही है। प्रक्रिया तो बीच में रहती ही है लेकिन क्या बंधता है, वह हमें जानना चाहिए।

अर्थात् मूल में अभी अपना बाकी कुछ भी नहीं बिगड़ा है सिर्फ

अपनी बिलीफ ही बिगड़ी है। अगर सिर्फ बिलीफ राइट हो जाए तो सब राइट हो जाएगा, बाकी कुछ भी नहीं है।

रोंग बिलीफ बैठी है, हमें ऐसा अनुभव तो होता है न कि ऐसे दु:ख क्यों मिल रहे हैं? यदि उस रोंग बिलीफ को निकाल दें तो फिर राइट बिलीफ है ही। अन्य कुछ बिगड़ा ही नहीं है। 'आत्मा' वैसे का वैसा ही है और वही भगवान महावीर हैं और वही तीर्थंकर हैं, जो कहो वह, वही है।

बिलीफ में बदलाव होता है, बाकी द्रव्य यानी वस्तु में बदलाव नहीं होता। कोई ब्राह्मण हो, उसे अदंर बिलीफ बैठ जाए कि माँस खाने में हर्ज नहीं है तो उसका ब्राह्मणपन चला नहीं गया है लेकिन उसकी सिर्फ बिलीफ बदल गई है। यदि ज्ञान बदल गया होता न, तो वापस ठिकाने पर नहीं आता। बिलीफ बदली है इसलिए फिर से मूल स्थान प्राप्त कर लेता है, वर्ना मूल स्थान प्राप्त नहीं कर पाता।

ऐसा है न, मूलत: असल आत्मा को कुछ भी नहीं हुआ है। यह तो लोगों ने अज्ञान का प्रदान किया, इसलिए सभी संस्कार खड़े हो गए हैं। जन्म लेते ही लोग 'उसे' 'चंदू, चंदू' कहते हैं। अब उस बच्चे को तो पता ही नहीं कि ये क्या कर रहे हैं? लेकिन लोग उसे संस्कार देते रहते हैं। फिर 'वह' मान बैठता है कि 'मैं चंदू हूँ'। बाद में जब बड़ा होता है तब कहता है 'ये मेरे मामा हैं और ये मेरे चाचा हैं'। इस प्रकार से यह सारा अज्ञान प्रदान किया जाता है। उससे भ्रांति खड़ी हो जाती है। इसमें होता क्या है कि आत्मा की एक शक्ति आवृत हो जाती है, दर्शन नाम की शक्ति आवृत हो जाती है। उस दर्शन नाम की शक्ति के आवृत होने से यह सब हो गया है। वह दर्शन जब फिर से ठीक हो जाएगा, सम्यक् हो जाएगा, तब वापस 'खुद' अपने 'मूल स्वरूप' में बैठ जाएगा। यह दर्शन मिथ्या हो गया है और इसीलिए वह ऐसा मान बैठा है कि भौतिक में ही सुख है। अगर दर्शन ठीक हो जाएगा तो यह भौतिक सुख की मान्यता भी खत्म हो जाएगी। बाकी कुछ बहुत ज़्यादा बिगड़ा ही नहीं है। दृष्टि ही बिगड़ी है। उस दृष्टि को हम बदल देते हैं।

पहला मिलन परमात्मा से

आत्मा और *पुद्गल* (जो पूरण और गलन होता है) परमाणुओं के सामीप्य भाव से 'विशेष परिणाम' उत्पन्न हुआ, उससे अहंकार उत्पन्न हुआ। जो मूल स्वाभाविक *पुद्गल* था, वह नहीं रहा।

प्रश्नकर्ता : इस तरह से इगोइज़म की उत्पत्ति हुई है?

दादाश्री : उसमें से ही इगोइज़म की उत्पत्ति हुई है। इससे कहीं आत्मा बदला नहीं है। आत्मा वही का वही रहा है। वस्तु खुद के स्वभाव में ही है।

प्रश्नकर्ता : देह के बारे में समझ में आ गया लेकिन यह जगत् बना, उसमें कौन सा जड़ है और कौन सा चेतन?

दादाश्री : चेतन यही का यही है, अभी जो है वही। जड़ यह नहीं है। अभी जो जड़ है न, वह तो विकृत जड़ है। विकृत अर्थात् मूल जो होना चाहिए, वह नहीं है। मूल जड़ अणु-परमाणु के रूप में है। उन परमाणुओं के इकट्ठा होने पर अणु बनते हैं। अणुओं के इकट्ठा होने पर स्कंध बनते हैं लेकिन वह शुद्ध जड़ कहलाता है जबकि यह विकृत कहलाता है। इसमें से खून निकलता है, पीप निकलता है, दुर्गंध आती है। उसमें पीप-वीप, खून-वून कुछ भी नहीं निकलता। अब इस प्रकार ये दो, आत्मा तो यही का यही, जो रियल है, वह है और जड़ परमाणु, दोनों के मिलने से विशेष गुण उत्पन्न हो जाता है। दोनों ही वस्तुएँ खुद के गुणधर्मों को नहीं छोड़तीं। जो विशेष गुण उत्पन्न होते हैं, उन्हें व्यतिरेक गुण कहा जाता है। ये क्रोध-मान-माया-लोभ उत्पन्न होते हैं और तभी से अहंकार की शुरुआत होती है, बिगिनिंग होती है।

अब, आत्मा कुछ भी नहीं करता है इसके बावजूद सिर्फ एक विभाव उत्पन्न हो गया है। खुद का स्वभाव यानी कि खुद के जो भाव हैं, और विभाव को बहिर्भाव कहा जाता है। बहिर्भाव यानी कि सिर्फ यों दृष्टि करने से ही ये मूर्तियाँ बन गई हैं। दृष्टि ऐसे करने से ही, और

कुछ भी नहीं किया है। यदि किया होता तो वह जोखिमदार बन जाता। लेकिन वह अक्रिय स्वभाव वाला है।

विभाव के बाद में व्यतिरेक

प्रश्नकर्ता : पहले विशेष भाव किए हैं, उसी से फिर ये क्रोध-मान-माया-लोभ होते रहते हैं या अपने आप ही? यानी कि किस तरह से उत्पन्न होते हैं?

दादाश्री : आत्मा और *पुद्‌गल,* ये दोनों वस्तुएँ इकट्ठी हुई तभी से अपने आप ही ऐसे भाव उत्पन्न होते रहते हैं, क्रोध-मान-माया-लोभ होते रहते हैं और उसमें से फिर परंपरा शुरू हो जाती है। उसके बाद फिर बीज डालता है और वापस उसमें से फल आता है। उस फल में से वापस बीज डालता है और बीज में से वापस फल आता है, फिर ऐसा चलता ही रहता है।

क्रोध-मान-माया-लोभ आत्मा के व्यतिरेक गुण हैं, वे खुद के नहीं हैं। अन्य कोई है इसलिए ये उत्पन्न होते हैं। ये जड़ के भी नहीं हैं और चेतन के भी नहीं हैं, व्यतिरेक गुण हैं और ज्ञान, दर्शन, शक्ति, आनंद और अक्रियता, ये सभी आत्मा के अन्वय गुण हैं।

स्वाभाविक और विभाविक पुद्‌गल

प्रश्नकर्ता : एक सत्संग में ऐसी बात हुई थी कि 'विशेष भाव से क्या हुआ?' तो वह यह कि 'मिकेनिकल चेतन बन गया, *पुद्‌गल* बन गया, *पूरण-गलन* (चार्ज होना, भरना - डिस्चार्ज होना, खाली होना) वाला। जब तक अपना वह स्वरूप है तब तक मुक्त नहीं हुआ जा सकता'। तो क्या इसमें मिकेनिकल चेतन, *पुद्‌गल* और *पूरण-गलन,* ये तीनों चीज़ें विशेष भाव के बाद में उत्पन्न हुई हैं?

दादाश्री : तीनों एक ही हैं। सभी मिकेनिकल है। *पुद्‌गल* का अर्थ ही मिकेनिकल है। मिकेनिकल का अर्थ क्या है? जो अपने आप ही चलता रहे, चंचल ही रहे, उसे कहते हैं मिकेनिकल। निरंतर चंचल रहे, उसे कहते हैं *पुद्‌गल*।

प्रश्नकर्ता : लेकिन मूल स्वरूप में *पुद्गल* विश्रसा है?

दादाश्री : हाँ, मूल स्वरूप में विश्रसा है।

प्रश्नकर्ता : तो क्या इस तरफ आत्मा में विशेष भाव होने से, उसमें यह *पुद्गल* उत्पन्न हो जाता है?

दादाश्री : आत्मा का विशेष भाव अहम् भाव है और *पुद्गल* का विशेष भाव *पूरण-गलन* है। अहम् चला जाए तो *पूरण-गलन* चला जाएगा। मूल शुद्ध परमाणु बने, वह भी उनका स्वाभाविक *पूरण-गलन* का स्वभाव है।

प्रश्नकर्ता : अर्थात् खुद का जो अहम्कार है, जब वह विलय हो जाता है तब फिर जड़ से जो *पुद्गल* बना है, उस *पुद्गल* के बंध की भी *निर्जरा* (आत्मप्रदेश में से कर्मों का अलग होना) होती जाती है?

दादाश्री : यह विशेष भाव जितना कम होता जाता है उतना ही *पुद्गल* कम होता जाता है, पूरा ही कम हो जाता है। अहंकार कम हो जाए और विलय हो जाए तो बाकी सभी विलय होने लगते हैं। मुख्यत: पहले आत्मा का विशेष भाव उत्पन्न होता है और उसके बाद *पुद्गल* का विशेष भाव उत्पन्न होता है।

प्रश्नकर्ता : अर्थात् इसका अर्थ ऐसा हुआ कि जो शुद्ध परमाणु हैं, वे विश्रसा रूपी हैं, उनमें ऐसा *पुद्गल* नहीं है, *पूरण-गलन* नहीं है?

दादाश्री : उनमें ऐसा कुछ भी नहीं है न! फिर भी वह स्वभाव से ही क्रियाकारी है।

प्रश्नकर्ता : अर्थात् सक्रिय है?

दादाश्री : हाँ, सक्रिय है लेकिन उसे *पूरण-गलन* ही कहते हैं। *पुद्गल* तो किसे कहा जाता है? मिश्रचेतन को ही *पुद्गल* कहा जाता है। बाकी सभी को *पुद्गल* नहीं कहा जाता। बाकी सब तो *पूरण-गलन* कहलाता है।

प्रश्नकर्ता : तो क्या फिर परमाणु और *पुद्गल,* इन दोनों में फर्क है?

दादाश्री : हाँ, परमाणु और *पुद्गल* में फर्क है। एक तो शुद्ध *पुद्गल* है और दूसरा, विशेष भावी *पुद्गल* है। शुद्ध *पुद्गल* परमाणुओं के रूप में है, फिर भी वे परमाणु स्वभाव से क्रियाकारी हैं। इसका मतलब यह है कि मान लो यहाँ पर अगर बर्फ गिर रही हो तो उसमें से बड़ा महावीर के पुतले जैसा बन गया। वह वापस पिघल जाता है अर्थात् *पूरण* (चार्ज होना, भरना) होता है और फिर *गलन* (डिस्चार्ज होना, खाली होना) होता है। वह शुद्ध *पुद्गल* कहलाता है। और दूसरा, आत्मा और *पुद्गल* के परमाणुओं के मिलने से उत्पन्न हुआ है, वह विशेष भावी *पुद्गल* है, उसमें रक्त, हड्डी, माँस वगैरह सभी विशेष भावी *पुद्गल* हैं।

प्रश्नकर्ता : इसमें मन-वचन-काया सबकुछ आ जाता है?

दादाश्री : हाँ, मन-वचन-काया और बाकी सब माया-वाया सबकुछ आ जाता है। अहंकार के अलावा बाकी का सबकुछ *पुद्गल* के विशेष भाव हैं। अहंकार गया कि सबकुछ गया यानी कि मूलतः सबकुछ अहंकार पर आधारित है।

आत्मा के विशेष परिणाम में अहंकार उत्पन्न हुआ और *पुद्गल* के विशेष परिणाम में, जो मूल स्वाभाविक *पुद्गल* था न, वह नहीं रहा।

प्रश्नकर्ता : स्वाभाविक *पुद्गल* कैसा था?

दादाश्री : स्वाभाविक *पुद्गल* सदा शुद्ध होता है। उसमें रक्त, पीप, गंदगी वगैरह कुछ भी नहीं होता।

प्रश्नकर्ता : स्वाभाविक *पुद्गल* का अस्तित्व किससे बना है?

दादाश्री : मूलतः वह तो है ही, स्वभाव से अस्तित्व वाला ही है।

अहंकार चिंतन करता है और पुद्गल लेता है रूप...

विश्रसा शुद्ध परमाणु ही हैं और परमाणु स्वरूप कहलाते हैं। लेकिन उनका स्वभाव, पौद्गलिक स्वभाव है, क्रियाकारी स्वभाव है, *पूरण-गलन*

स्वभाव है इसलिए इसके दो अणु इकट्ठे हुए, तीन अणु इकट्ठे हुए फिर सब जॉइन्ट हो जाते हैं। वह बड़ा (पुतले जैसा) बन जाता है। फिर वापस बिखरने लगता है। मिलते हैं और बड़ा पुतला बन जाता है, फिर टाइम आने पर वापस अलग भी होने लगते हैं, *पूरण-गलन, पूरण-गलन*। अर्थात् जिसमें रक्त, पीप वगैरह नहीं निकलता, वह *पूरण-गलन* है, तो वह सारा स्वाभाविक *पूरण-गलन* है। वह जो शुद्ध है, वह विश्रसा है। और यह जो है वह, कौन सा कहते हैं उसे हम?

प्रश्नकर्ता : मिश्रसा?

दादाश्री : मिश्रसा और प्रयोगसा। यानी वे दोनों मिलकर, दोनों जॉइन्ट हुए, उससे अहम् बना, इसलिए यहाँ पर प्रयोगसा उत्पन्न हो जाता है। प्रयोगसा अर्थात् परमाणु यों जॉइन्ट रूप में नहीं होते। फिर जब मिश्रसा होते हैं तब जॉइन्ट हो जाते हैं। प्रयोगसा (का अर्थ) तो है परमाणुओं के इकट्ठे होने की सारी तैयारियाँ। उसके बाद मिश्रसा होते हैं। जो मिश्रसा हुए, वे इन मनुष्यों की, सभी जीवों की बॉडी और फिर विश्रसा, फिर वापस खत्म होने लगते हैं, रस भोग लिए जाने के बाद। अहंकार रस भोगता है। फिर यह (*पुद्गल*) बदलता रहता है।

प्रश्नकर्ता : अहंकार जैसा-जैसा रस भोगता है क्या वैसा-वैसा बदलाव होता है?

दादाश्री : हाँ, बदलाव। वह अहंकार जैसा चिंतन करता है न, वैसा ही यहाँ *पुद्गल* बन जाता है। खुद को कुछ भी नहीं करना होता। चिंतन करते ही यह बन जाता है, इतना क्रियाकारी है यह। *पुद्गल* स्वभाव से ही क्रियाकारी है और ऐसे में जब दोनों कनेक्शन में आए तो दोनों में ही विशेष परिणाम हुए। अब विशेष परिणाम बंद कैसे होंगे? तो वह इस तरह से कि यदि अहंकार खत्म हो जाएगा तो आत्मा का विशेष परिणाम खत्म हो जाएगा तब फिर *पुद्गल* का विशेष परिणाम अपने आप ही खत्म हो जाएगा। जब तक अहंकार है तब तक *पुद्गल* का विशेष परिणाम, अर्थात् अहंकार जैसा चिंतन करता है, *पुद्गल* वैसा ही बन

जाता है। इसलिए यदि खुद के स्वरूप का ही चिंतन हुआ, *पुद्गल* का चिंतन छूट गया, तो सबकुछ छूट जाएगा।

प्रश्नकर्ता : अर्थात् अहंकार *पुद्गल* का चिंतन करता है इसलिए *पुद्गल* रूपी बन जाता है। अहंकार यदि स्वभाव का, खुद के आत्मा का...

दादाश्री : स्वभाव के चिंतन को अहंकार नहीं माना जाता। जब तक अहंकार रहता है न, तब तक वह हमेशा *पुद्गल* का ही चिंतन किया करता है। कोई-कोई अहंकार ऐसा होता है, शुद्ध अहंकार, वह खुद का ही चिंतन करता रहता है, स्वाभाविक रूप से। इसलिए फिर स्वभावमय बन जाता है। जब से खुद के स्वभाव को पहचान लिया, तब से फिर अहंकार रहता ही नहीं है।

व्यतिरेक में मुख्य, अहम्

प्रश्नकर्ता : तो ऐसा नहीं है कि व्यतिरेक गुणों में अहम् भाव उत्पन्न होता है?

दादाश्री : नहीं, अहम् भाव खुद ही व्यतिरेक गुण (मूल फर्स्ट लेवल का) है। जब तक दो वस्तुओं का सामीप्य भाव है और अहम् भाव खड़ा है तब तक सभी व्यतिरेक गुण रहते हैं। मूल अहम् भाव ही व्यतिरेक गुणों का मुख्य स्तंभ है। वह नहीं होगा तो कुछ भी नहीं है। सभी व्यतिरेक भाग जाएँगे, बेचारे!

प्रश्नकर्ता : जिसे हम रोंग बिलीफ कहते हैं, वह और अहम् क्या एक ही हैं?

दादाश्री : वह अहंकार ही है न! रोंग बिलीफ, वही अहंकार है और राइट बिलीफ, वह शुद्धात्मा है।

प्रश्नकर्ता : ये कषाय कौन से गुण के पर्याय हैं?

दादाश्री : *पुद्गल* पर्याय हैं।

प्रश्नकर्ता : हम जो भाव करते हैं, क्या वह *पुद्गल* का परिणाम है?

दादाश्री : यह जो भाव (विशेष भाव) है, वह चेतन की अज्ञानता है और क्रोध-मान-माया-लोभ *पुद्गल* पर्याय हैं।

जब तक अज्ञान है तब तक वह भाव करता है। अज्ञान जाए तो भाव ही नहीं करेगा।

प्रश्नकर्ता : ज्ञानी भाव नहीं करते?

दादाश्री : नहीं, भाव नहीं। उसके बाद फिर स्वाभाविक भाव। तेरे विशेष भाव से यह जगत् खड़ा हो गया है। स्वाभाविक भाव अर्थात् तेरा मोक्ष।

मूल आत्मा तो कभी आरोपण नहीं करता। अज्ञान से विशेष परिणाम उत्पन्न हो गए हैं।

प्रश्नकर्ता : तो क्या आत्मा खुद ऐसा करता है? आत्मा ऐसा आरोपण करता है?

दादाश्री : मूल आत्मा तो आरोपण नहीं करता। यह तो मूल आत्मा का जो एक दर्शन नाम का गुण है, वह इन संयोगों के दबाव की वजह से दर्शन विशेष भाव में आ जाता है और विशेष भाव में आने के कारण ऐसा सब हो गया है। स्वाभाविक भाव में आए तो हर्ज नहीं है लेकिन विशेष भाव में आ जाता है।

[२]

क्रोध-मान-माया-लोभ, किसके गुण ?

वे हैं व्यतिरेक गुण

आपको कुछ समाधान हो रहा है या यों ही ? उलझन हो रही हो तो फिर से पूछना। ऐसा नहीं है कि रुक जाने की ज़रूरत है।

आपमें क्रोध-मान-माया-लोभ हैं या नहीं ?

प्रश्नकर्ता : हैं ही न!

दादाश्री : वे आपके खुद के गुण हैं या जड़ के ? चेतन के गुण हैं या जड़ के ?

अब सभी साधु-सन्यासी ऐसा जानते हैं कि जड़ में नहीं हैं, क्रोध-मान-माया-लोभ चेतन के बगैर हो नहीं सकते, वह सब उलझा हुआ है। उलझन, उलझन! हम कहें, 'चेतन के गुण हैं या जड़ के ?' तो कहते हैं, 'चेतन के'। साफ-साफ कह देते हैं। अब, ये गुण चेतन के नहीं हैं, बेचारे के। अब, उल्टे गुण मानने से क्या होगा ? आत्मा कभी भी प्राप्त नहीं हो सकेगा।

तो बड़े-बड़े पंडित वगैरह कहते हैं कि क्रोध-मान-माया-लोभ तो चेतन का ही धर्म है। मैंने कहा, 'शांति हो गई अब! तब तो वे वहाँ सिद्धगति में भी साथ में आते आराम से। अब, वह चेतन का धर्म नहीं है'। तो पूछते हैं, 'जड़ का धर्म है ?' तब मैंने कहा, 'नहीं, जड़ का भी नहीं है, भाई'। तब पूछते हैं, 'तो क्या वह ऊपर से आ गिरा ?' तब मैंने कहा, 'हाँ! वह, ऊपर से आ गिरा हो, वैसा ही है। इसे पूरा समझो, विज्ञान है यह तो' और विज्ञान के सिवा चाहे कैसी भी माथापच्ची करें

और योग-वोग सबकुछ करें लेकिन कभी भी आत्मा प्राप्त नहीं किया जा सकता। यह पूरा साइन्स अलग है। विज्ञान क्या है, वह लोगों को पता नहीं है।

प्रश्नकर्ता : क्रोध उद्‌भव में आए तो वह किसका गुण है?

दादाश्री : क्रोध *पुद्‌गल* (जो पूरण और गलन होता है) का अन्वय गुण नहीं है, आत्मा का अन्वय गुण नहीं है, वह व्यतिरेक गुण (विशेष गुण) है और अगर दोनों को अलग कर देंगे तो व्यतिरेक गुण बंद हो जाएँगे।

प्रश्नकर्ता : आप विस्तार से समझाइए।

दादाश्री : वस्तु के जितने भी गुणधर्म होते हैं, वे सभी हमेशा उसके अंदर ही रहते हैं। क्रोध-मान-माया-लोभ यदि आत्मा के गुण होते तो हमेशा के लिए आत्मा में रहने चाहिए। यदि *पुद्‌गल* के गुण हैं तो हमेशा के लिए *पुद्‌गल* में रहने चाहिए। वे जड़ के गुण नहीं हैं और न ही चेतन के गुण हैं। दो वस्तुओं को साथ में रखने से वे विशेष गुण उत्पन्न हो गए हैं। फिर भी शास्त्रकारों ने इसे अलग नाम दिया है। शास्त्रकारों ने इन्हें व्यतिरेक गुण कहा है।

व्यतिरेक अर्थात् अन्वय गुण नहीं है। अन्वय गुण अर्थात् खुद के ऐसे गुण जो छूटें नहीं। *पुद्‌गल* के और आत्मा के गुण अन्वय गुण हैं।

व्यतिरेक गुण खुद से (आत्मा से) चिपक पड़ते हैं, यह कैसा आश्चर्य है! खुद के आत्मा के तो अन्वय गुण हैं।

अभी भी आत्मा तो शुद्ध ही है, सिर्फ यह *पुद्‌गल* विकृत हो गया है।

प्रश्नकर्ता : यह विकृत क्यों हो गया?

दादाश्री : हाँ, हमारे (आत्मा) और इसके (जड़), दोनों के मिलने से हम में वह व्यतिरेक गुण उत्पन्न हो गया। व्यतिरेक गुण उत्पन्न होने से *पुद्‌गल* विकृत होने लगा। व्यतिरेक गुण वाला अंदर भाव करता ही

है। आत्मा भाव नहीं करता। अहंकार ही भाव करता है कि मुझे इसे मारना है इसलिए उसे सारे *पुद्‌गल* वैसे ही मिलते हैं। उसने मारने का भाव किया न, इसलिए उसे अगले जन्म में किसी को मारना ही पड़ता है और उसके बाद उसका रिएक्शन आता है, तब फिर वह इसे मारता है। संसार चलता ही रहेगा, ऐसा करते-करते...

इसमें भूल किसकी है? भुगते उसकी। क्या भूल है? तो वह यह कि 'मैं चंदूभाई हूँ', तेरी वह मान्यता तेरी भूल है क्योंकि कोई दोषित है ही नहीं इसलिए यह साबित हो जाता है कि कोई गुनहगार नहीं है। गुनहगार नहीं है इसलिए कोई गुनाह करता ही नहीं है ऐसा साबित हो जाता है न? तब पूछते हैं कि 'क्या है इसके पीछे?' तो वह यह है कि यदि चेतन गुनाह करेगा तो परेशानी होगी। चेतन तो गुनाह करता नहीं है। चेतन, चेतन भाव ही करता है और उसमें से *पुद्‌गल* बन जाता है। यह *पुद्‌गल* बनता है उसमें से ही यह सारी झंझट हो गई हैं। लेकिन वह भी दु:खदायी नहीं है। वह तो सिर्फ संग्रहस्थान में जाने के समान है। आमने-सामने मिलन होता है, ऐसा होता है। 'मैं यह हूँ', वही दु:खदायी है। 'मैं चंदूभाई हूँ', वही दु:खदायी है, वह मान्यता हटी कि खत्म। कोई गुनहगार जैसा है ही नहीं जगत् में।

यदि कोई गुनहगार दिखाई देता है तो, वह तो आपके साथ जो क्रोध-मान-माया-लाभ, जो व्यतिरेक गुण हैं न, वे दिखाते हैं। खुद की दृष्टि से गुनहगार नहीं देखता। क्रोध-मान-माया-लोभ दिखाते हैं। जिसे क्रोध-मान-माया-लोभ नहीं हैं, उसे कोई दिखाने वाला है ही नहीं और दिखाई भी नहीं देता। वास्तव में ऐसा है ही नहीं। क्रोध-मान-माया-लोभ घुस गए हैं और 'मैं चंदूभाई हूँ', ऐसा मानने से घुस गए हैं। वह 'चंदूभाई' वाली मान्यता टूट गई तो चले जाएँगे। घर खाली करने में ज़रा देर लगेगी, बहुत दिनों से घुसे हुए हैं न?

प्रश्नकर्ता : चेतन, चेतन भाव करता है, उससे यह *पुद्‌गल* उत्पन्न होता है या फिर चेतन के विभाव करने से *पुद्‌गल* उत्पन्न होता है?

दादाश्री : चेतन, चेतन भाव ही करता है। चेतन में स्वभाव और

विशेष भाव दोनों ही हैं। विशेष भाव से यह (*पुद्गल*) उत्पन्न होता है। खुद जान-बूझकर विशेष भाव नहीं करता है। साइन्टिफिक सरकमस्टेन्शियल एविडेन्स, संयोगों की वजह से ऐसा होता है। सिर्फ विशेष भाव करने से *पुद्गल* उत्पन्न होता है।

गुनाह किसी का है ही नहीं। 'मैं यह हूँ' अर्थात् 'मैं *पुद्गल* हूँ' ऐसा भान होना, वही दु:खदायी है। अन्य कुछ भी दु:खदायी नहीं है। चेतन, चेतन भाव करता है। *पुद्गल, पुद्गल* भाव करता है। दोनों उनके भाव ही हैं।

प्रश्नकर्ता : चेतन, चेतन भाव करता रहता है और उसमें से *पुद्गल* उत्पन्न होता है?

दादाश्री : हाँ, *पुद्गल* उसके प्रभाव से उत्पन्न होता है।

प्रश्नकर्ता : चेतन के? तो यह शब्द गलत है। 'उसमें से' नहीं, 'उससे'।

दादाश्री : हाँ, चेतन भाव करता है और जैसा भाव करता है उसी रूप होता जाता है। स्त्री भाव करता है तो स्त्री रूपी बनता जाता है। पुरुष भाव करे तो पुरुष रूपी बनता जाता है। अब यों वह स्त्री भाव नहीं करता है लेकिन यदि कपट और मोह बहुत करता है तो फिर स्त्री भाव के परमाणु उत्पन्न हो जाते हैं।

'उसमें से' और 'उससे' दोनों एक जैसा ही माना जाएगा, आशय तो इतना ही है कि मुख्य बात का एक-एक शब्द समझ में आ जाए। खुद को एक्ज़ेक्टनेस में नहीं दिख सकता वह। जिसने वह देखा हो वही देख सकता है और वह ऐसा नहीं है कि शब्दों से बताया जा सके। जितना जिस प्रकार से समझाया जा सके उस प्रकार से समझाते हैं, शब्दों से लेकिन एक्ज़ेक्टनेस नहीं दी जा सकती।

भ्रांति कहता है, वह भी भ्रांति

अब विशेष गुण में कौन-कौन से गुण हुए, कि मैं, अहंकार,

क्रोध-मान-माया-लोभ, राग-द्वेष वगैरह विशेष गुण उत्पन्न हुए हैं। बाकी, आत्मा का मूल स्वभाव वीतराग है। जड़ को राग-द्वेष हैं ही नहीं, वह भी वीतराग ही है। तो ये राग-द्वेष कहाँ से उत्पन्न हुए? तो कहते हैं, 'विशेष गुण उत्पन्न होने से'। क्रोध-मान-माया-लोभ गुरु-लघु स्वभाव वाले हैं। आत्मा अगुरु-लघु स्वभाव वाला है। जड़ भी अगुरु-लघु स्वभाव वाला है। दोनों के गुणधर्मों में फर्क है न! आत्मा कभी भी खुद के गुणधर्मों में से बाहर नहीं निकला है। वह खुद के गुणधर्मों में ही रहता है, उसके स्वाभाविक गुण हैं।

जिस प्रकार स्टेनलेस स्टील पर ज़ंग नहीं लगता, बरसात, कीचड़ का असर नहीं होता, उसी प्रकार कीचड़ (संसार रूपी कीचड़) में रहने के बावजूद भी हम पर ज़ंग नहीं लगता।

यह आत्मा विभाविक (विरुद्ध भावी) नहीं हुआ है, लेकिन यह विशेष परिणाम है। यह कुछ भी नहीं है, मात्र भूत चिपके हैं और वे भी फिर मुद्दत वाले हैं। जिसकी मुद्दत पूरी होने को आई हो उसे मैं छुड़वा देता हूँ। कुछ टाइम कम-ज़्यादा कर देते हैं। लेकिन अगर फॉरेनर्स कहें तो उन्हें नहीं छुड़वाया जा सकता।

इसीलिए यह पज़ल कहलाता है न! और वह किस प्रकार से पज़ल बन गया है, वह मैं देखकर बता रहा हूँ। यह गप्प नहीं है, एक्ज़ेक्ट है, जैसा है वैसा। यह भ्रांति भी नहीं है। यह तो, लोगों ने इसे भ्रांति का नाम दे दिया है। कुछ भी समझ में नहीं आया तब भ्रांति कह दिया।

कहने में फर्क है, ज्ञानी-अज्ञानी के

इन विशेष गुणों को व्यतिरेक गुण कहा जाता है। जो कि इस जड़ में भी नहीं हैं और इस चेतन में भी नहीं हैं। फिर जो अपना माने उसी का। 'यह मुझे हो रहा है', मालिकी माने उसका।

प्रश्नकर्ता : यह व्यतिरेक गुण आत्मा का नहीं है और न ही *पुद्गल* का है, तो फिर ये दोनों, आत्मा और *पुद्गल* साथ में हैं तो तब तक यह किस पर लागू होता है? यह व्यतिरेक गुण किसका कहा जाएगा?

दादाश्री : ओहो! तो तब तक हमें किसका कहना है? हाँ, तो तब तक अगर कहना हो तो आखिर में इसे *पुद्गल* का ही कहना पड़ेगा। हाँ, लेकिन वह कौन कह सकता है? सभी लोग नहीं कह सकते। अज्ञानी को तो ऐसा ही कहना पड़ेगा कि 'यह मेरा ही गुण है'। सिर्फ ज्ञानी ही ऐसा कह सकते हैं कि 'यह *पुद्गल* (जो पूरण और गलन होता है) का गुण है। मेरा नहीं है'।

प्रश्नकर्ता : अर्थात् 'मैं क्रोधी हूँ, मैं लोभी हूँ' ऐसा कहना पड़ेगा?

दादाश्री : हाँ, 'मैं ही लोभी हूँ और मैं ही क्रोधी हूँ' ऐसा कहना पड़ेगा जबकि ज्ञानी कहते हैं कि 'यह *पुद्गल* का स्वभाव है'। दोनों के गुणधर्म अलग हैं। ज्ञानी उनसे मुक्त हो चुके हैं, उस मान्यता से, रोंग बिलीफ से। जबकि अज्ञानी की रोंग बिलीफ नहीं गई है। 'मैं चंदूभाई' इज़ द फर्स्ट रोंग बिलीफ। 'मैं वकील हूँ' सेकन्ड रोंग बिलीफ। 'इसका भाई हूँ, इसका चाचा हूँ, इसका फूफा हूँ', वगैरह कितनी सारी रोंग बिलीफें बैठी हुई हैं!

यह जगत् इस विज्ञान से खड़ा हो गया है। जैसा कृष्ण भगवान ने कहा है उस प्रकार से! यह तो नैमित्तिक हो गया है। यह तो आत्मा का विशेष स्वरूप है, मूल स्वरूप नहीं है यह। वह विशेष स्वरूप तो इस विज्ञान से उत्पन्न हो गया है। जब वह समझ में आ जाएगा तब उसमें खुद में खुद की शक्ति प्रकट हो जाएगी और फिर वह विशेष भाव चला जाएगा। इस 'मैं' को अपने विशेष भाव और स्वभाव दोनों ही ध्यान में हैं इसलिए फिर खुद के स्वरूप का अनुभव हो जाता है।

[३]

विभाव अर्थात् विरुद्ध भाव?

परिभाषा विभाव की

प्रश्नकर्ता : ये कषाय क्या विभाव के कारण उत्पन्न होते हैं? क्या स्वरूप में नहीं रहते हैं और स्वरूप में से च्युत होने पर वे सभी विभाव भाव, कषाय के भाव उत्पन्न होते हैं?

दादाश्री : विभाव भाव किसके हैं? विभाव का मतलब क्या है?

प्रश्नकर्ता : स्वभाव से विपरीत जाना।

दादाश्री : नहीं! वह तो, लोगों ने इसका ऐसा अर्थ निकाला है। विभाव का अर्थ, 'स्वभाव से विपरीत जाना'। उसे यदि आदत या बुरी आदत पड़ जाए न, तब तो मोक्ष में भी बैठे नहीं रह सकेगा। वहाँ से वापस दौड़कर यहाँ आ जाएगा। विभाव का अर्थ यह नहीं है। यदि आत्मा विभावी होता न, तब तो कभी भी कोई आत्मा वहाँ पर मोक्ष में रहता ही नहीं। ऐसी छोटी-छोटी भूलें तो इतनी सारी हुई हैं कि पूरा जगत् उनमें तपकर मर गया है! विभाव को समझना चाहिए या नहीं?

प्रश्नकर्ता : शास्त्र कहते हैं कि 'आत्मा ने विभाव किया है'।

दादाश्री : 'विभाव किया', इससे आप क्या समझे?

प्रश्नकर्ता : ऐसा समझते हैं कि उसने विभाव की वह भावना की।

दादाश्री : अब यदि आत्मा विभाव की भावना करने लगे तब तो वह उसका खुद का स्वभाव हो गया।

प्रश्नकर्ता : तो फिर विभाव किस तरह से हुआ?

दादाश्री : विभाव का रास्ता मैं आपको बताता हूँ। लेकिन इस तरह से यह जो विभाव का अर्थ चला है, उसे विरुद्ध भाव समझ लिया है कि 'जो करना है उससे उल्टा ही कर रहे हैं ये। यह विरुद्ध भाव हमें निकालना ही पड़ेगा'। लेकिन यह (विभाव) विरुद्ध भाव नहीं है, यह विशेष भाव है। विरुद्ध भाव होता तो निकालना पड़ता। यदि स्वभाव के विरुद्ध जाए तब तो वह उसका स्वभाव हो गया, विरुद्ध भाव हो जाए तब तो वह हमेशा का गुण हो गया, तब तो मोक्ष में भी वह उसके साथ ही जाएगा। अत: जिसे विरुद्ध भाव समझे हैं न, वह बिल्कुल ही गलत है, सौ प्रतिशत। आत्मा में विभाव करने की शक्ति है ही नहीं। आत्मा स्वाभाविक ही है और स्वभाव के विरुद्ध जाता ही नहीं है कभी भी। आपको खुद को समझ में आए तो बताना, 'हाँ' कहना।

प्रश्नकर्ता : जब आत्मा के *पुद्गल* के साथ वाले संयोग मिले तभी यह विभाव उत्पन्न हुआ न?

दादाश्री : विशेष भाव हुआ।

प्रश्नकर्ता : हाँ, वह जो विशेष भाव हुआ, उसे स्वभाव नहीं माना जाएगा। अत: वह विभाव, वह आत्मा का ही परिणाम है न?

दादाश्री : मेरी बात सुनो न! यदि आत्मा का परिणाम कहेंगे तब तो फिर अगर हम किसी को बिना बात के कुछ कहें तो कितना बड़ा दोष लगेगा?

प्रश्नकर्ता : आत्मा के स्वभाव में नहीं है लेकिन आत्मा ही परिणाम में परिणामित होता है इसीलिए जकड़ा हुआ है न?

दादाश्री : नहीं, उसी को समझना है। मेरा कहना यह है कि यदि उसे आत्मा का परिणाम कहोगे तो भयंकर दोष लगेगा। यदि *पुद्गल* का कहोगे तो *पुद्गल* का है नहीं। तो फिर क्या है वह? *पुद्गल* कहता है, 'मेरे नहीं हैं ये गुणधर्म'। आत्मा कहता है, 'मेरे नहीं हैं ये'। जबकि धर्मों में अपने साधु-आचार्य क्या कहते हैं? 'ये विभाव, वे आत्मा के गुणधर्म

हैं'। ऐसा मानने से तो महान दोष लगता है, भयंकर अंतराय आ जाते हैं। उसमें ऐसा गुण नहीं है।

क्या मेरा आत्मा पापी है?

लोग तो ऐसा कहते हैं, 'आत्मा ऐसा विभाविक हो गया है इसलिए अब इसे सीधा करो'। अरे, सीधा करने वाला कौन है? विभाव हो गया है ऐसा कहने वाला कौन है? कहने वाला कौन है? और मेरा आत्मा पापी है, ऐसा कहने वाला वह कौन है? उसका पृथक्करण करो। बोलने वाला कौन है?

वह खुद, जो पापी नहीं है वही ऐसा कह सकता है न? कौन कहता है? 'मेरा आत्मा पापी है लेकिन मैं पापी नहीं हूँ', कहता है। वकील तो ऐसा ही पूछेगा न कि 'तो फिर आप?' तब कहता है, 'मेरा आत्मा पापी है, मैं नहीं'। लो, उसका अर्थ यही हुआ। ये वकील ऐसा ढूँढ निकालते हैं! तब कहता है, 'हाँ'। अब आत्मा को पापी तक ले गए हैं लोग। उससे क्या फायदा हुआ? कुछ धर्मों में ऐसा क्यों कहते हैं?

प्रश्नकर्ता : उन्हें अभी तक मिथ्यात्व भान है।

दादाश्री : नहीं, कोई भान ही नहीं है। मिथ्यात्व भान होता तब भी बहुत अच्छा था। तो भी पता चल जाता कि आत्मा किस तरह से पापी हो सकता है? पापी तो मैं हूँ, हम आत्मा को कैसे कह सकते हैं? जिसे मिथ्यात्व भान होगा वह ऐसा कहेगा न, 'पापी तो मैं हूँ, आत्मा क्यों?' अब वह भूल किस वजह से हो गई है?

पहले सद्गुरुओं ने कहा था, भगवान ने कहा था कि 'प्रतिष्ठित आत्मा पापी है', ऐसा कहना। तो वह 'प्रतिष्ठित' गायब हो गया और 'मूल आत्मा' पर आ गया। इसीलिए तो कृपालुदेव ने कहा है कि '*सचोडो आत्मा ज वोसरावी दीधो*' (पूरा आत्मा ही अर्पण कर दिया)। *पुद्गल* अर्पण करना था, उसके बजाय क्या अर्पण कर दिया? आत्मा अर्पण कर दिया। *पुद्गल* रहने दिया अपने पास।

अब कितने ही साधु ऐसा मान बैठे हैं कि आत्मा अशुद्ध हो गया

है। अरे भाई! फिर तू उसे शुद्ध कैसे करेगा? जो अशुद्ध हो चुका है, वह शुद्ध कैसे हो सकेगा?

आत्मा कभी भी अशुद्ध हुआ ही नहीं है, आत्मा एक सेकन्ड के लिए भी अशुद्ध नहीं हुआ है। और यदि हुआ होता तो कोई उसे शुद्ध कर ही नहीं सकता था इस दुनिया में क्योंकि वह स्वाभाविक वस्तु है, स्वाभाविक वस्तु को प्लास्टर-व्लास्टर (गंदगी या कचरा) कुछ भी छू नहीं सकता।

कुछ शास्त्रों में ऐसा लिखा है कि 'आत्मा मूर्छित हो जाता है'। यदि आत्मा मूर्छित हो जाए तो वह आत्मा है ही नहीं। और मूर्छित को कौन ठीक करेगा? क्योंकि उससे बड़ा तो कोई है नहीं।

प्रश्नकर्ता : इसमें आत्मा की प्रेरणा तो है न?

दादाश्री : यदि प्रेरणा है तब तो आत्मा भिखारी हो गया। प्रेरणा देने वाला व्यक्ति गुनहगार है। फिर उसका छुटकारा ही नहीं हो सकेगा, प्रेरणा देने वाले का। आत्मा ने प्रेरणा-ब्रेरणा नहीं दी है। वह भगवान स्वरूप है। कभी भी अशुद्धता उत्पन्न हुई ही नहीं है।

बाकी, यह सब विज्ञान से हो गया है। वह यदि प्रेरणा देता तो फिर हमेशा के लिए उसका स्वभाव बन जाता और उसकी जोखिमदारी आती, प्रेरक की जोखिमदारी है। अत: यह प्रेरक भी, खुद के कर्मों का फल ही प्रेरक है और वह व्यवस्थित शक्ति से होता है।

इन दोनों वस्तुओं के साथ में होने से तीसरा विशेष गुण उत्पन्न हो गया है और वही कर्म ग्रहण करता रहता है। ये दोनों अपने आप खुद की स्थिति में ही रहते हैं। मूल आत्मा उसी स्थिति में रहता है, सिर्फ विभाविक *पुद्गल* विकारी हो जाता है। अत: यह यदि प्रेरणा होती तो यह कभी छूट ही नहीं सकता था। आत्मा संकल्प-विकल्प करता ही नहीं है। यदि संकल्प-विकल्प करे तभी उसे प्रेरणा कहते हैं। अत: वह भावकर्म करता ही नहीं है और वह कर्म को ग्रहण भी नहीं करता। यह सब 'मैं' ही करता है। यदि आत्मा भावकर्म करता तो हमेशा के लिए वह उसका स्वभाव बन जाता।

प्रश्नकर्ता : तो फिर यह भावकर्म किसका काम है?

दादाश्री : ज्ञानावरण, दर्शनावरण, जैसे भी जो भी चश्मे (द्रव्यकर्म) 'उसे' प्राप्त हुए हैं, उनके आधार पर भाव होते हैं।

प्रश्नकर्ता : आत्मा के आधार पर नहीं?

दादाश्री : आत्मा ऐसा करेगा ही नहीं। यह विशेष भाव है, वह आत्मा का स्वभाव भाव नहीं है।

अभी तो मानो कि सभी भाव अहंकार के ही हैं लेकिन मूल शुरुआत कहाँ से हुई थी? विशेष गुण उत्पन्न होता है और उससे भाव उत्पन्न होते हैं, भावकर्म शुरू हो जाते हैं। आत्मा का खुद का स्वभाव अलग चीज़ है। यह विशेष भाव दोनों की उपस्थिति में हुआ है और यह हमारी साइन्टिफिक खोज है और चौबीस तीर्थंकरों की यही मान्यता थी लेकिन यह बदल गया है, इसलिए उसका फल नहीं मिलता। फल नहीं मिलता उसका कारण यही है कि ऐसी कुछ भूलें चलती आ रही हैं न!

प्रश्नकर्ता : जड़ और चेतन के सामीप्य भाव की वजह से इस प्रकार से होता है, ऐसा कह रहे हैं आप?

दादाश्री : हाँ, बस। उससे विशेष भाव उत्पन्न हो गया है। आत्मा खुद के स्वभाव में है लेकिन *पुद्‌गल* विकृत हो गया है। क्योंकि दोनों के विशेष गुणधर्मों को लेकर *पुद्‌गल* विकृत हुआ है और उस विकृति को लेकर यह उठा-पटक चलती रहती है। एक्शन एन्ड रिएक्शन, एक्शन एन्ड रिएक्शन, चार्ज और डिस्चार्ज, चार्ज और डिस्चार्ज चलता ही रहता है।

यह विशेष भाव उत्पन्न हो गया है और यह मैं खुद देखकर बता रहा हूँ इसीलिए मुक्त हुआ जा सकता है, वर्ना नहीं हो सकते थे इस काल में मुक्त। दूषमकाल में मुक्त हो पाते होंगे? एक दिन भी चिंता रहित नहीं बीतता। दूषमकाल में आर्तध्यान-रौद्रध्यान बंद नहीं होते। यह तो अक्रम विज्ञान है इसीलिए ये छूट जाते हैं।

विशेष भाव से क्या होता है कि ये आठ द्रव्यकर्म बंधते हैं, आँखों पर पट्टी होने की वजह से। और आठ द्रव्यकर्म होने की वजह से वापस दूसरे भावकर्म उत्पन्न होते हैं। भावकर्म कौन करवाता है? आँखों पर ये जो पट्टियाँ हैं, वे ही ये भावकर्म करवाते हैं।

प्रश्नकर्ता : वे कर्म तो बाद में हुए, लेकिन शुरुआत में जब विशेष भाव हुआ, तब फिर ये पट्टियाँ कहाँ से आई?

दादाश्री : संयोगों के दबाव से विशेष भाव उत्पन्न हुआ और विशेष भाव की वजह से ही ये पट्टियाँ बंधीं और पट्टियाँ बंधीं इसलिए उल्टा दिखने लगा, उससे उल्टे भाव उत्पन्न हुए। वे (भाव) पट्टियों की वजह से हैं, आत्मा की वजह से नहीं हैं वे।

ये जो आठ द्रव्यकर्म हैं, ज्ञानावरण, दर्शनावरण... आत्मा की उपस्थिति से उनमें पावर आ गया है, आत्मा उनमें नहीं आया है और वह पावर यह काम कर रहा है। और फिर वह पावर भी जड़ है। अत: ये सारी जड़ की क्रियाएँ हैं। आत्मा की कोई क्रिया नहीं है।

प्रश्नकर्ता : सामीप्य भाव के कारण उत्पन्न हुए पावर की ही यह प्रेरणा है?

दादाश्री : हाँ, सही है।

चेतन खुद के अन्वय गुणों से बंधा हुआ है, खुद के स्व गुणों से। उसमें अन्य गुण उत्पन्न नहीं होते। सिर्फ भान में, बिलीफ ही बदली है। 'खुद को' ('मैं' को) ऐसा भान होता है कि 'यह मैं कर रहा हूँ'। उस भान में जो परिवर्तन होता है, वह किसे होता है? पावर चेतन को (अर्थात् 'मैं' को)। अब वह भान टूटेगा कब? ज्ञानी पुरुष प्रकृति और पुरुष दोनों को अलग कर देंगे, तब वह भान टूटेगा, नहीं तो भान टूटेगा ही नहीं न!

अर्थात् यह पावर से भरा हुआ है। जैसे बेटरी में सेल होता है न, उस सेल में पावर भरने के बाद में वह फल देता है, काम देता है। नहीं देता? कब तक? जब तक भरा हुआ माल है, *पूरण* किया है तो *गलन* होने तक वह पावर फल देगा। *गलन* हो जाने के बाद में निकाल देना

है। वह जो *पूरण* हो चुका है, उसी का *गलन* हो रहा है। जो *गलन* है, वह डिस्चार्ज है और *पूरण,* चार्ज है। *पूरण* में से *गलन* होता है और *गलन* में से 'खुद' अहंकार से वापस *पुद्गल* उत्पन्न करता है, *पूरण* करता है इसलिए टंकी खत्म ही नहीं होती। खत्म होने से पहले ही पानी डालता जाता है और फिर कहता है कि 'मुझे मुक्ति पानी है'। अरे भाई! ऐसे मिलती होगी? तूने यह धंधा ही बंधन का लगा रखा है!

अत: यह चेतन समझ में आए ऐसा नहीं है। हमारा आत्मज्ञान बहुत बड़ी चीज़ है। केवलज्ञान में और इसमें फर्क ही नहीं है। चार डिग्री का ही फर्क है। और यह आत्मज्ञान भी कैसा? अनुभव किया हुआ होना चाहिए। आत्मा मुक्त ही बरतना चाहिए, बिल्कुल मुक्त और वह निरालंब आत्मा होना चाहिए। ऐसा आत्मा नहीं चलेगा। इन सभी ने तो पावर आत्मा (पावर चेतन) की बात की है। अब उसे पावर आत्मा कहा तब लोगों को समझ में आया, नहीं तो यों ही चेतन कहेंगे तो कैसे समझ में आएगा? सेल में जैसे पावर भरा हुआ है, उसमें बेटरी और पावर भरने वाली चीज़ें अलग होती हैं और सेल अपना काम करता रहता है। ये सेल ही हैं, मन-वचन-काया तीन सेल हैं। जब तक उनमें पावर भरा हुआ है तभी तक, पावर खत्म होने तक वे सेल चलेंगे और उसके बाद गिर जाएँगे। उसे हम डिस्चार्ज कहते हैं। आपको कुछ भी नहीं करना पड़ता अपने आप ही डिस्चार्ज होता रहता है। आपको देखते ही रहना है कि यह किस तरह से हो रहा है, बस इतना ही, और अगर अक्ल लड़ाने जाओगे तो उँगली जल जाएगी।

यह तो बहुत गहरी करामात है, यह रहस्यमय विज्ञान है पूरा, चौबीस तीर्थंकरों का सम्मिलित विज्ञान है। वर्ना एक घंटे में भेदज्ञान हो जाए ऐसा तो कभी हुआ ही नहीं है और वह भी संसार में रहते हुए। त्यागियों को भी नहीं होता था। लेकिन यह तो संसार में रहते हुए, बच्चे पालता है, सबकुछ करता है, खाता-पीता है, मौज करता है फिर भी कोई परेशानी नहीं आती क्योंकि यह तीर्थंकरों का विज्ञान है, यह अक्रम विज्ञान है।

इसमें तो पावर भरा हुआ है, और कुछ है ही नहीं। इसमें चेतन

है ही नहीं इसलिए हम इसे पावर नहीं कहते लेकिन निश्चेतन चेतन कहते हैं।

प्रेरणा ईश्वर की नहीं है, आत्मा की नहीं है। प्रेरणा करने वाला होता तो वही गुनहगार कहलाता। प्रेरक ही सब से बड़ा गुनहगार है, कर्म उसी को लगते हैं जबकि आत्मा तो साफ, शुद्ध स्वरूपी है और वह ऐसा नहीं है कि उसे कर्म स्पर्श कर सकें। 'कर्म' स्थूल चीज़ है और 'आत्मा' सूक्ष्मतम है, जिसे 'मैंने' देखा है, अनुभव किया है, उसी में बरतता हूँ। निरालंब आत्मा को देखा है।

रागादि भाव नहीं हैं आत्मा के

प्रश्नकर्ता : 'निश्चय दृष्टि से आत्मा के आंतरिक रागादि भाव, बंधन के कारण हैं और कर्म बंधन को संसार का हेतु कहा गया है' वह ज़रा समझाइए।

दादाश्री : अब, रागादि भाव आत्मा के खुद के नहीं हैं। यहाँ ज़रा लोगों (की बात) में स्पष्ट रूप से लिखा नहीं गया है। रागादि भाव खुद के नहीं हैं, वे पराई *उपाधि* (बाहर से आने वाला दु:ख) की तरह हैं। *उपाधि* जैसा है। जैसे किसी व्यक्ति को *उपाधि* हो जाए और इसलिए वह *उपाधि* ग्रस्त लगता है। वह *उपाधि* की वजह से है। *उपाधि* न हो तो कुछ है ही नहीं। अत: रागादि गुण खुद के गुण नहीं हैं। दो वस्तुओं के मिलने से तीसरी चीज़ उत्पन्न हो जाती है। अलग ही गुणधर्म, ये जो राग-द्वेष हैं, वे व्यतिरेक गुण हैं इसलिए यहाँ पर उन लोगों के क्रमिक मार्ग में यह सिस्टम है और तभी उनका चलेगा, नहीं तो चलेगा नहीं न! जबकि अपना 'अक्रम' साफ-साफ बताता है।

प्रश्नकर्ता : अब क्योंकि राग परिणाम खुद के पर्याय में हैं, इसलिए आत्मा उसका कर्ता है। अब क्या यह राग परिणाम आत्मा का पर्याय है?

दादाश्री : नहीं, ऐसा नहीं है। हम जो समझे हैं न, पूरा क्रमिक मार्ग उसे जानता ही नहीं है।

प्रश्नकर्ता : तो बिल्कुल उल्टा ही है?

दादाश्री : जहाँ आत्मा नहीं है, वहीं पर आत्मा मानते हैं।

प्रश्नकर्ता : हं! जहाँ पर नहीं है, वहाँ पर मानते हैं इसलिए ऐसी मुश्किल होती है।

दादाश्री : वहाँ पर बिल्कुल भी आत्मा नहीं है। 'चेतन के बिना चल रहा है', मैंने कहा न! ऐसा मानने में कैसे आएगा?

प्रश्नकर्ता : मैंने पढ़ा है कि *पुद्गल* (जो पूरण और गलन होता है) और आत्मा अवगाहन के रूप में रहे हुए हैं और इसीलिए यह विभाविक भाव उत्पन्न हो जाता है। 'वास्तव में आत्मा कर्ता नहीं है और *पुद्गल* भी कर्ता नहीं है', ऐसा कुंदकुंदाचार्य ने कहा है। वही, जो आपने सरल भाषा में कहा, तब फिर शास्त्र इस प्रकार से उसे कर्ता कैसे कह सकते हैं?

दादाश्री : इसमें किसी की बात को गलत नहीं कह रहे हैं। और फिर साफ-साफ ऐसा लिखते हैं कि 'ज्ञान दशा में खुद के स्वभाव का ही कर्ता है'। अज्ञान दशा में इसका (विभाव का) कर्ता है लेकिन बात एकांतिक रह गई। इसलिए कर्तापन छूटता नहीं है और वह साइन्टिफिक बात समझ में नहीं आती है। दूसरे धर्मों में भी ऐसा कहते हैं कि 'भगवान की इच्छा के बिना यह नहीं हो सकता'। अत: भगवान को भी अंदर लपेट लिया। तब फिर ज्ञान कैसे होगा उन्हें? विरोधाभास लाते हैं। यह तो, अपने अक्रम विज्ञान ने ये सारे भ्रम तोड़ दिए हैं।

कर्तापन से रचा संसार

अब इन लोगों ने क्या कहा है कि आत्मा कर्ता है। अरे, लोगों ने तो यहाँ तक कहा है कि आत्मा भावकर्म का कर्ता है। अत: उसे भावकर्म का कर्ता ठहरा दिया। यदि वह विभाव का कर्ता होता तो वहाँ मोक्ष में भी कर्ता ही रहता। वहाँ पर क्यों नहीं रहा? अत: यह तो, जब ज्ञानी पुरुष आते हैं तब सारा खुलासा कर देते हैं।

''यह भावकर्म 'मुझे' हो रहा है'', यही बंधन है। यही परभाव है। परभाव को स्वभाव मानता है, वही बंधन है। परभाव क्यों? परसत्ता

के अधीन है। शास्त्रों में क्या लिखा हुआ है? स्वभाव से अकर्ता है। यह विभाव से, विशेष भाव से कर्ता है और इसलिए भोक्ता है। अब वह पूरा यहाँ पर (क्रमिक मार्ग में) यों का यों रह गया और व्यवहार में ही चला। व्यवहार को ही आत्मा मान लिया गया।

प्रश्नकर्ता : उस संदर्भ में है न?

दादाश्री : हाँ। व्यवहार के संदर्भ में यदि कर्ता समझोगे न, तब काम होगा। वर्ना संदर्भ शब्द को भूल जाता है न! और काम हो गया, ऐसा दिखाई नहीं देता न आपको? इसका क्या कारण है? मूल में बहुत भूलें हैं, कई भूलें हैं। यह तो बल्कि दिखाई नहीं देता और *उपाधियाँ* बहुत हैं, बेहद कषाय हैं। जहाँ पर हमेशा कषायों को पोषण मिलता है वहाँ पर वीतराग धर्म नहीं है। क्या आपको ऐसा लगता है?

बोलो अब, लाख जन्मों तक भी ऐसे स्वच्छंद विहार से चलेंगे तो कुछ बदलेगा? खुद के स्वच्छंद विहार हैं, और लोगों से क्या कहते हैं कि 'ये सब लोग मूर्ख हैं'। फिर लोगों को मूर्ख कहते हैं।

विशेष भाव अर्थात् आत्मा यह सब केवलज्ञान से जान सकता है और दूसरा विशेष भाव से भी जान सकता है, ऐसा कहते हैं। ऐसे संयोग हों तो विशेष भाव को भी खुद जान सकता है। अत: विशेष भाव, वह संयोग और काल के कारण है। उन संयोगों को अलग कर दिया जाए तो विशेष भाव खत्म हो जाएगा। अत: आत्मा और *पुद्गल,* दोनों जो मिले हुए हैं, उन्हें अलग कर देता हूँ इसलिए उनका विशेष भाव खत्म हो जाता है।

पूरी प्रतिष्ठा सर्जित...

आपको मूलभूत हकीकत बता देता हूँ। दो प्रकार के आत्मा हैं। एक, मूल आत्मा है और दूसरा, जो मूल आत्मा की वजह से उत्पन्न होने वाला यह व्यवहार आत्मा है। मूल आत्मा निश्चय आत्मा है। उसमें कोई बदलाव हुआ ही नहीं है। वह जैसा था, वैसा ही है और उसकी वजह से व्यवहार आत्मा उत्पन्न हो गया है। जिस प्रकार, हम जब दर्पण के सामने जाते हैं तब दो चंदूभाई दिखाई देते हैं या नहीं?

प्रश्नकर्ता : हाँ, दो दिखाई देते हैं।

दादाश्री : उसी प्रकार यह व्यवहार आत्मा उत्पन्न हो गया है। उसे हमने 'प्रतिष्ठित आत्मा' कहा है। उसमें खुद की प्रतिष्ठा की हुई है। इसलिए अभी भी यदि आप प्रतिष्ठा करोगे, 'मैं चंदूभाई हूँ', 'मैं चंदूभाई हूँ' करोगे तो फिर से अगले जन्म के लिए प्रतिष्ठित आत्मा बनेगा। यदि इस व्यवहार को सत्य मानोगे तो फिर से व्यवहार आत्मा उत्पन्न होगा। निश्चय आत्मा तो वैसे का वैसा ही है। यदि उसका स्पर्श हो जाए न, तो कल्याण हो जाएगा! अभी तो व्यवहार आत्मा का ही स्पर्श है।

एक व्यक्ति खजूर का बड़ा एजेन्ट है, सब लोग उसे कहते हैं कि 'ये खजूर वाले सेठ हैं' लेकिन कोर्ट में उन्हें वकील मानते हैं। यदि वे वकालत करें तो वकील माने जाएँगे न? इसी प्रकार यदि आप व्यवहारिक कार्य में मस्त हो तो 'आप' 'व्यवहारिक आत्मा' हो और निश्चय में मस्त हो तो 'आप' 'निश्चय आत्मा' हो। मुख्यत: 'आप' और सिर्फ 'आप' ही हो लेकिन यह इस पर आधारित है कि कौन से कार्य में हो।

व्यवहार आत्मा ही अहंकार है

प्रश्नकर्ता : अब खुद विभाव अवस्था में उपयोग रखता है इसलिए आत्मा को कर्म बंधन होता है। अत: आत्मा का यह उपयोग ही विभाव दशा में जाता है। 'यदि वह स्वभाव में रहे तो उसे कर्म नहीं बंधेगा', वह ठीक है?

दादाश्री : नहीं, गलत बात है। आत्मा निरंतर स्वभाव में ही रहता है, वही मूल आत्मा है। जिसमें ये स्वभाव और विभाव होते रहते हैं, वह व्यवहार आत्मा है। मूल आत्मा तो निरंतर मुक्त ही है, अनादि मुक्त है। अंदर बैठा हुआ है। व्यवहार अर्थात् अभी जो माना हुआ 'आत्मा' है, वह विभाविक है और व्यवहार आत्मा में इतना, एक सेन्ट भी चेतन नहीं है।

प्रश्नकर्ता : यह जो व्यवहार आत्मा है, वही अहंकार है?

दादाश्री : हाँ, वही अहंकार है और उसमें एक सेन्ट भी चेतन

नहीं है। देखो, कैसे यह जगत् चेतन के बिना चलता रहता है! इस वर्ल्ड में पहली बार यह अनावृत कर रहा हूँ कि इसमें चेतन नहीं है।

प्रश्नकर्ता : आपने हमें ज्ञान दिया उससे पहले तो हमारा आत्मा, व्यवहार आत्मा था न?

दादाश्री : हाँ। नहीं तो और क्या था? इस व्यवहार आत्मा में रहकर आपने मूल आत्मा को देखा। उसे देखा तभी से स्तंभित हो गए कि 'ओहोहो! इतना आनंद है!' इसलिए फिर उसी में रमणता चली। पहले रमणता संसार में, भौतिक में चल रही थी।

संसार अनौपचारिक, व्यवहार से...

इस दुनिया में आत्मा का कोई प्रमाण नहीं है लेकिन अनौपचारिक (अनुपचरित) व्यवहार का प्रमाण तो है ही न कि कोई भी उपचार किए बिना यह शरीर बना है, कोई बनाने वाला नहीं है, इसके बावजूद भी। उसके बजाय लोगों ने घुसा दिया कि 'भगवान हैं और भगवान ने ये सारे पुतले बनाए उनके कारखाने में'। अतः आगे सोचने के दरवाज़े ही बंद हो गए न! लेकिन हम क्या कहते हैं, भगवान ने नहीं बनाया है। और इस अनौपचारिक व्यवहार को तो देखो! यह व्यवहार उपचारिक व्यवहार नहीं है। उपचारिक व्यवहार तो हम यों वास्तव में चाय बनाते हैं, वह है। 'मैंने चाय बनाई' कहना वह भी भ्रांति है। यह जगत् भी अनौपचारिक व्यवहार ही है लेकिन उसे ऐसा लगता है कि 'यह मैं कर रहा हूँ', इसलिए संसार खड़ा हो गया है। फिर वह भी अनौपचारिक व्यवहार ही है। यदि इस प्रकार से अनौपचारिक व्यवहार नहीं होता तो मरता ही नहीं न कोई। वह उपचारिक व्यवहार होता तो कोई मरता ही नहीं न! वह भी अनौपचारिक व्यवहार ही है। रात को काम रहे तो वह सोएगा ही नहीं न! वह अनौपचारिक व्यवहार है! लेकिन इतने सब लोगों की बुद्धि कैसे सतर्क हो जाती है इसलिए जब हम यह सब करते हैं तो वहाँ पर 'मैं कर रहा हूँ' ऐसा भान हो जाता है। और वह भान भी किस प्रकार से होता है? व्यतिरेक गुण उत्पन्न होने की वजह से।

अर्थात् आत्मा और अनात्मा की, दोनों की उपस्थिति से व्यतिरेक

गुण उत्पन्न हो गए। सिर्फ आत्मा से नहीं हो सकते और सिर्फ अनात्मा से भी नहीं हो सकते। इसलिए यहाँ से एक को हटा दिया जाए तो फिर उत्पन्न नहीं होंगे।

प्रश्नकर्ता : उपस्थिति में भी उसे मेरा माना इसलिए हुए न?

दादाश्री : मेरा मानने वाला वह कौन है? आत्मा भी 'मेरा' नहीं कहता और *पुद्गल* भी 'मेरा' नहीं कहता।

प्रश्नकर्ता : लेकिन अभी पास-पास तो हैं न?

दादाश्री : वे पास-पास हैं, इसलिए पूरी जागृति खत्म हो गई। जागृति उत्पन्न होने पर अलग हो गए। व्यतिरेक गुण बंद!

प्रश्नकर्ता : अब वही! पास वाली कौन सी जागृति हो गई थी?

दादाश्री : पास में आए तो उन पर आवरण आ गया, जागृति खत्म हो गई। तो फिर जब पास में आने पर आने वाला आवरण तोड़ दिया तो अलग हो गया। आवरण तोड़ने होते हैं न?

प्रश्नकर्ता : अत: दोनों द्रव्य तो भिन्न ही हैं लेकिन इनके पास में आने के कारण यह हो गया था?

दादाश्री : भिन्न ही हैं, किसी ने कुछ किया ही नहीं है। किसी ने किसी की मदद नहीं की। किसी ने किसी का नुकसान नहीं किया। कुछ है ही नहीं। यह सब आपकी ही भूल है। और फिर वे लोग भी कबूल करते हैं कि कोई द्रव्य किसी दूसरे द्रव्य की मदद नहीं कर सकता। कोई नुकसान नहीं करता। तो 'भाई, यह किसने किया, ढूँढ निकाल न? आत्मा ने किया या अनात्मा ने किया?' तब लोग वह जवाब समझते नहीं हैं। वैज्ञानिक बात है यह।

विशेष स्पष्टता, विभाव अवस्था की...

विशेष गुण आपकी समझ में आया न? ये तत्व के विशेष गुण हैं, ये एक्ज़ेक्ट होते हैं लेकिन मैं आपको उसकी सिमिली में दूसरा, यहाँ

का, अवस्था का, विशेष गुण बताता हूँ। तत्व के विशेष गुण आप देख नहीं सकते इसलिए आपको अवस्था से बताता हूँ कि यह किस तरह से उत्पन्न हो गया है!

प्रश्नकर्ता : आप ज़रा दृष्टांत देकर समझाइए न कि ये जो मिल गए हैं, उसका मूल कारण क्या है?

दादाश्री : इसकी सिमिली तत्वों में नहीं मिलती फिर भी यह सिमिली दे रहा हूँ, उसमें से मुझे कारण ढूँढकर दो। जैसे कि हमने बगीचे में संगमरमर डलवाया हो, संगमरमर की रोड बनवाई हो तो सेठ वहाँ पर रोज़ बूट पहनकर आते-जाते हैं। उस समय उन्हें क्या पता चले कि इस पत्थर का स्वभाव क्या है? तो फिर एक दिन दोपहर को दो बजे बच्चा वहाँ पर खेलते-खेलते गिर गया तो ये नंगे पैर वहाँ पर दौड़कर गए, गर्मी के दिनों में! तब संगमरमर हमें क्या फल देगा?

प्रश्नकर्ता : गर्मी, गर्मी।

दादाश्री : नहीं! गर्मी तो ऊपर भी लगती है लेकिन पैर पर क्या असर होता है?

प्रश्नकर्ता : जला देता है।

दादाश्री : हाँ, जल जाते हैं। तब सेठ को ऐसा भ्रम घुस जाता है कि इस कॉन्ट्रैक्टर ने क्या किया? ऐसे गरम पत्थर क्यों लगाए इन लोगों ने? तो वे कॉन्ट्रैक्टर को डाँटते हैं कि 'भाई तूने गरम पत्थर लगाए इसलिए तेरे पैसे काट लूँगा'। तब कॉन्ट्रैक्टर खुलासा करता है कि 'साहब, मैंने गरम पत्थर नहीं लगाए हैं। पत्थर तो ठंडे ही लगाए थे लेकिन इस सूर्यनारायण के संयोग से ये गरम हो गए हैं। अभी जब सूर्यनारायण अस्त हो जाएँगे तो तुरंत ये अपने स्वभाव में आ जाएँगे'। यानी कि इन सूर्यनारायण की उपस्थिति से ये गरम हो गए हैं। इससे विशेष गुण उत्पन्न हुआ और जब सूर्यनारायण चले जाएँगे तब विशेष गुण खत्म हो जाएगा।

उसी प्रकार से यह अहंकार खड़ा हो गया है। अब ऐसा स्पष्टीकरण शास्त्र ने दिया हुआ नहीं होता है न! और ऐसे उदाहरण दे भी कौन?

उदाहरण होगा तो समझ में आएगा न! समझा दिया न? तो इस प्रकार तीसरा गुण उत्पन्न हो गया है।

प्रश्नकर्ता : तब तो फिर ऐसा हुआ न, पत्थर ने सूर्य का गुण ग्रहण कर लिया। तीसरा गुण नहीं हुआ न?

दादाश्री : नहीं, पत्थर सूर्य का गुण ग्रहण नहीं करता। उस पर असर होता है, सूर्य का इफेक्ट होता है। उसका खुद का स्वभाव तो ठंडा ही है लेकिन ऐसा असर हो जाता है।

प्रश्नकर्ता : तो यह गर्मी और ठंड, वह वातावरण का असर है?

दादाश्री : साइन्टिफिक सरकमस्टेन्शियल एविडेन्स है। सूर्य की रेज़ (किरणें) के ज़मीन से टच होने पर गर्मी उत्पन्न होती है।

थोड़ा-बहुत बुद्धि में उतर रहा है या नहीं?

प्रेरणा इसमें पावर की

सूर्य की उपस्थिति में यहाँ पर कोई चीज़ रखी हो तो ऊर्जा उत्पन्न होगी या नहीं?

प्रश्नकर्ता : होगी।

दादाश्री : उसमें वह खुद कर्ता नहीं है। इन दोनों चीज़ों के मिलने पर ऊर्जा उत्पन्न होती है। उसी प्रकार यह उत्पन्न हो गया है। अब यह समझ में फिट कैसे होगा? इंसान को किस तरह से सेट होगा? कहेगा, 'किसी के किए बगैर कैसे हो सकता है?' यह समझ में फिट नहीं होगा न?

प्रश्नकर्ता : नहीं होगा।

दादाश्री : और जो प्रेरणा है, वह प्रेरणा किसकी है? पावर की प्रेरणा है। यह चेतन की नहीं है। यदि चेतन की प्रेरणा होती तो चेतन बंध जाता।

अत: इसे समझना बहुत आसान नहीं है, बहुत मुश्किल है। इसीलिए

तो यह सब बार-बार आता रहता है। इसीलिए तो त्याग करने पड़ते हैं, नहीं तो क्या कहीं त्याग करने की ज़रूरत है? यदि आत्मा को समझ लिया है तो त्याग नहीं करना है और नहीं समझा है तो तू अपनी तरह से त्याग करता ही रह, अनंत जन्मों तक त्याग करता रह न! त्यागी और आत्मा, दोनों अलग हैं। त्यागी *पुद्गल* का व्यापारी है।

प्रश्नकर्ता : पावर और चैतन्य दोनों अलग-अलग हैं?

दादाश्री : जितने अलग सूर्य और उससे उत्पन्न होने वाली ऊर्जा हैं, उतने ही अलग हैं। सूर्य की वजह से ऊर्जा उत्पन्न होती है, उतना अलग है। पावर में सूर्य का कोई कर्तापन नहीं है। उसमें दूसरी चीज़ मिल गई इसलिए ऊर्जा उत्पन्न होती है। यदि आप यहाँ पर बड़ा सा मोटा काँच रख दो तो उस काँच की वजह से, दूसरी कोई चीज़ मिल जाए तो बहुत बड़ा वो हो जाता है और उससे नीचे सब जलने लगता है। उसमें सूर्य को कोई लेना-देना नहीं है। दूसरी जो चीज़ आ मिली है, यह उसकी वजह से है। उसे हटा लिया जाए तो फिर कुछ भी नहीं है। अब हटे किस तरह से?

प्रश्नकर्ता : हटाने वाला मिलेगा तो हटा देगा।

दादाश्री : हटा देगा। इसलिए कृपालुदेव ने कहा है कि मोक्षदाता पुरुष के मिलने पर तुम्हारी मुक्ति होगी। वे मोक्ष का दान देने आए होते हैं! वे दान देने वाले कैसे होंगे? कृपालुदेव ने ही यह शब्द लिखा है कि 'मोक्षदाता!' बाकी किसी भी जगह पर मोक्षदाता शब्द नहीं लिखा गया है!

[४]

प्रथम फँसाव आत्मा का

वर्ल्ड, इट सेल्फ पज़ल

इस संसार के स्पर्श से यह विशेष गुण उत्पन्न हो गया है। जब उसका समय परिपक्व होगा तब वह विशेष गुण बंद हो जाएगा। उसकी *अमल* (असर) उतर जाएगा। इस संसार की *अमल* अर्थात् भ्रांति। वह *अमल* चला जाएगा तो ठीक हो जाएगा। जो वह खुद है, वही बनकर रहेगा। अर्थात् जब ऐसा कुछ हुआ ही नहीं है फिर वहाँ पर उत्पन्न करना कहाँ रहा? तो यह जगत् उत्पन्न हुआ ही नहीं है, जगत् सनातन है। कभी भी इसकी आदि थी ही नहीं फिर इसे ढूँढना कहाँ रहा? फिर बनाने वाला है, ऐसा कहने की भी ज़रूरत नहीं है। द वर्ल्ड इज़ द पज़ल इटसेल्फ, इटसेल्फ पज़ल हो गया है यह। गॉड हैज़ नॉट पज़ल्ड दिस वर्ल्ड एट ऑल। (यह दुनिया एक स्वयंभू पहेली है। स्वयंभू पहेली हो चुकी है यह। इस दुनिया को भगवान ने नहीं रचा है।)

नहीं है आदि अज्ञानता की

प्रश्नकर्ता : दादा! तो किस तरह से पहली अज्ञानता पैदा हुई है, पूरी दुनिया में?

दादाश्री : वह तो पहले से थी ही। शुरुआत हुई ही नहीं है। (ज्ञानी से ज्ञान मिलने के बाद) उसका एन्ड आता है।

प्रश्नकर्ता : एन्ड आता है तो बिगिनिंग कहाँ से हुई?

दादाश्री : यह सब था, था और था ही। क्योंकि छः अविनाशी तत्त्व एक साथ थे, उन्हें अलग किया जाए तो तुरंत ही अलग हो जाता

है। वे सभी तत्त्व तो मुक्त ही हैं। सिर्फ यह चेतन ही बंधा हुआ है क्योंकि 'उसे' ऐसा लगा कि 'यह कौन कर रहा है?' लेकिन वह तो, साइन्टिफिक सरकमस्टेन्शियल एविडेन्स से अहंकार उत्पन्न हो गया।

प्रश्नकर्ता : लेकिन शुद्ध आत्मा में व्यतिरेक गुण भी क्यों आना चाहिए?

दादाश्री : वह गुण आत्मा का नहीं है। वह अलग से उत्पन्न हुआ है।

प्रश्नकर्ता : तो अनादि से यह क्रिया शक्ति आत्मा के साथ ही है न?

दादाश्री : नहीं! ऐसा कुछ भी नहीं है।

प्रश्नकर्ता : एक चीज़ यह है कि आत्मा को अकर्ता तो हम मानते हैं।

दादाश्री : अकर्ता तो है ही।

प्रश्नकर्ता : है ही क्योंकि जिस प्रकार से गर्म लोहे पर मारा हुआ हथौड़ा अग्नि को नहीं लगता, उसी प्रकार आत्मा को कुछ भी नहीं होता।

दादाश्री : वही कह रहा हूँ, आत्मा को कुछ भी नहीं होता। यह सब तो अहंकार को ही होता है। अहंकार चला जाए तो फिर कुछ भी नहीं है।

अहंकार ही सबकुछ करता है। अहंकार अंधा है, देख ही नहीं पाता बेचारा और वह बुद्धि की आँखों से चलता है। अब यदि बुद्धि कहे, 'वे तो अपने मामा ससुर लगते हैं', तब अहंकार कहता है, 'अच्छा'!

भ्रमणाएँ सारी बुद्धि की

प्रश्नकर्ता : तो यह सब बुद्धि की ही गड़बड़ है?

दादाश्री : बुद्धि के कारण ही यह संसार खड़ा हो गया है।

प्रश्नकर्ता : तो बिलीफ भी बुद्धि में ही नहीं है?

दादाश्री : नहीं, नहीं, रोंग बिलीफ अहंकार से है। बुद्धि के पास बिलीफ उत्पन्न करने का तरीका ही नहीं है।

अहंकार पूरा ही रोंग बिलीफ है। रोंग बिलीफ रखने वाला खुद भी रोंग बिलीफ है। रोंग बिलीफ में रहकर रोंग बिलीफ रखता है। वह राइट बिलीफ में रहकर रोंग बिलीफ नहीं रखता।

प्रश्नकर्ता : राइट बिलीफ में रहकर रोंग बिलीफ होगी ही नहीं।

दादाश्री : तब तो होगी ही नहीं।

प्रश्नकर्ता : उसका अर्थ ऐसा हुआ कि बुद्धि के संयोग से आत्मा को यह रोंग बिलीफ हो जाती है या फिर आत्मा बुद्धि के आश्रय की वजह से ऐसा करता है।

दादाश्री : नहीं, आत्मा तो ऐसा कुछ करता ही नहीं है न! आत्मा तो अकर्ता है।

प्रश्नकर्ता : बुद्धि किसके आधार पर यह सब करती है?

दादाश्री : अहंकार के आधार पर।

प्रश्नकर्ता : अहंकार भी जड़ है?

दादाश्री : हाँ, जड़ तो पूरा ही है न, लेकिन वह अहंकार बिल्कुल जड़ नहीं है। वह मिश्र चेतन है। बुद्धि मिश्र चेतन है, सिर्फ मन ही जड़ (निश्चेतन चेतन) है। चित्त भी मिश्र चेतन है। माइन्ड इज़ कम्प्लीट फिज़िकल। (मन पूर्णत: जड़ है।)

अर्थात् आत्मा तो परमानंद स्वरूपी है, खुद के स्वभाव में आ जाए तो (यह सब) खत्म हो जाएगा। स्वभाव में नहीं आया है अभी, इस *उपाधि* भाव की वजह से।

प्रश्नकर्ता : यह जो आत्मा है, बुद्धि की वजह से यह भ्रांति हो गई है लेकिन यदि बुद्धि और आत्मा साथ में नहीं होंगे तो यह भ्रम होने का कोई कारण ही नहीं है। यानी कि यह बुद्धि ही सबकुछ करती है

और आत्मा से उसका स्पर्श है, तो आत्मा तो मोक्ष स्वरूप ही है। तो हमारे साथ ये सब घोटाले क्यों होते रहते हैं?

दादाश्री : नहीं, स्पर्श नहीं हुआ है। कुछ भी नहीं हुआ है।

प्रश्नकर्ता : तो फिर उसमें ये जो अशुद्ध कर्म बंध गए हैं, वे किस तरह से बंधे? मुझे वह समझना है।

दादाश्री : उसे समझने के लिए यहाँ पर आते रहना पड़ेगा। यह इतनी बड़ी बात है कि बार-बार यहाँ पर आते रहना पड़ेगा। एक दिन में बता दूँगा तो आपको कुछ भी समझ में नहीं आएगा। थोड़ा-थोड़ा समझते जाओगे तो इसका अंत आएगा। एक दिन में क्या गठरियाँ, सभी पोटलियाँ बाँध सकते हैं क्या? यानी ज़रा सत्संग में आना पड़ेगा। अभी तो हैं दो-चार दिन यहाँ पर, चक्कर लगा जाना न! अच्छा लगा आपको? कुछ पूछोगे तो वह सब ठिकाने पर आ जाएगा।

अंत है लेकिन आदि नहीं कर्म की

प्रश्नकर्ता : कर्म के बंधन का मूल कहाँ से शुरू हुआ है?

दादाश्री : इस कर्म के बंधन की बिगिनिंग नहीं है। कर्म के बंधन का एन्ड आ सकता है शायद, लेकिन बिगिनिंग नहीं है क्योंकि यह तो वैज्ञानिक प्रयोग है। पानी में पहले, यानी कि पहले ऑक्सीजन है या पहले हाइड्रोजन है? पहले कौन आया तो पानी बना? यह सब एट ए टाइम है। साइन्टिफिक सरकमस्टेन्शियल एविडेन्स है यह! इसलिए कोई पहले या कोई बाद में है ही नहीं। शुद्ध चेतन और शुद्ध जड़ दोनों साथ में आए, यह विशेष गुण उत्पन्न हुआ इसलिए विशेष गुणधर्म को *भजता* (उस रूप होना, भक्ति) है। उसमें कर्तापन का गुणधर्म उत्पन्न हुआ और इससे कर्म बंधते हैं। अब वे भी स्थूल हैं जबकि आत्मा सूक्ष्म है। यह विशेष भाव कब तक है? जब तक *पुद्गल* (जो पूरण और गलन होता है) का संयोग है, तब तक। वह संयोग हमेशा का नहीं है।

यह जगत् बदलता है लेकिन भगवान, भगवान के रूप में ही रहे हैं, उनका रूप नहीं बदलता!

आत्मा कभी भी अशुद्ध हुआ ही नहीं है क्योंकि आत्मा स्वाभाविक वस्तु है। स्वाभाविक वस्तु को प्लास्टर-व्लास्टर नहीं किया जा सकता। उसके टुकड़े नहीं किए जा सकते। आत्मा के अंश नहीं हो सकते। अंश तो, आवरण में जितने छेद हो गए उतने ही अंश प्रकट होते हैं।

यात्रा, निगोद से सिद्ध तक की

प्रश्नकर्ता : यह जो मानव है वह भी आत्मा का विशेष भाव है?

दादाश्री : विशेष भाव ही है सारा!

प्रश्नकर्ता : अर्थात् यह सब चेतन और जड़ दोनों एक ही हैं?

दादाश्री : नहीं, कहीं एक होता होगा? यह तो, चेतन पर जड़ का असर हो गया है और जड़ पर चेतन का असर हो गया है। इसलिए जड़ चेतन वाला हो गया है और चेतन जड़ वाला हो गया है।

प्रश्नकर्ता : चेतन जड़ वाला हो सकता है?

दादाश्री : जड़ वाला अर्थात् उस पर सिर्फ उतना असर ही हुआ है, वास्तव में वह वैसा हुआ नहीं है। वास्तव में तो यह जड़ को हुआ है। वास्तव में असर जड़ पर हुआ है, वास्तव में चेतन पर असर नहीं हुआ है लेकिन चेतन की बिलीफ में असर है। सिर्फ बिलीफ ही बदली है, वह रोंग बिलीफ बैठ गई है।

प्रश्नकर्ता : मानव देह को सर्वोत्तम माना गया है, तो फिर जब यह आत्मा पशु या कीटाणु या जीवाणुओं वाली देह धारण करता है तो क्या वह दु:खद घटना नहीं कहलाएगी, आत्मा के लिए?

दादाश्री : इस अग्नि को बर्फ ठंडा कर सकता है क्या? या फिर बर्फ को छूने से कोई व्यक्ति जल सकता है क्या? बर्फ पर अंगारे लगाएँ तो? तो क्या बर्फ जलेगी? नहीं। आत्मा को कभी भी कुछ होता ही नहीं है। वह तो परमानंदी है और यह तो दूसरा ज़ंग लग गया है।

प्रश्नकर्ता : जीव कौन से कर्म की वजह से निगोद में रहता है?

दादाश्री : निगोद में तो भयंकर कर्म हैं, अभी तक उसका कोई कर्म छूटा नहीं है और उसमें से एक भी इन्द्रिय उत्पन्न नहीं हुई है, जब तक प्रकाश या उजाला बाहर नहीं निकलता, तब तक निगोद में ही है। निगोद अर्थात् संपूर्ण रूप से कर्मों से आरोपित।

प्रश्नकर्ता : लेकिन यों निगोद में होने का कारण क्या है?

दादाश्री : वह तो कुदरती नियम के आधार पर निगोद में ही है। उसमें से इस व्यवहार में आता है। आवरण कम होते जाते हैं और फिर मुक्त हो जाता है वहाँ से। और उसका यह जो कारण है, वह साइन्टिफिक सरकमस्टेन्शियल एविडेन्स है। व्यतिरेक गुण उत्पन्न हो गए हैं और उनसे यह निगोद भी उत्पन्न हुआ। निगोद में से फिर धीरे-धीरे-धीरे एकेन्द्रिय (जीव) बनता है, दो इन्द्रिय बनता है, तीन इन्द्रिय बनता है, जैसे-जैसे संयोग बदलते जाते हैं, वैसे-वैसे डेवेलप होता जाता है।

प्रश्नकर्ता : जब जीव व्यवहार में आया तब काल मिला और *पुद्‌गल* के परमाणु भी मिले, उसके बिना तो व्यतिरेक गुण उत्पन्न हो ही नहीं सकता न?

दादाश्री : नहीं, व्यतिरेक तो हो चुका है।

प्रश्नकर्ता : किस तरह से हुआ? तब काल प्रवाह में आया...

दादाश्री : अव्यवहार वाले जो जीव हैं, वे व्यतिरेक गुण वाले ही हैं।

प्रश्नकर्ता : अच्छा दादा, अव्यवहार जीव में पहले से ही वे सभी गुण होते हैं?

दादाश्री : हाँ, सभी में। इस तरफ जीवमात्र व्यतिरेक गुण वाले ही हैं और ये सिद्ध (भगवान), वे व्यतिरेक खत्म होने के बाद सिद्ध में गए।

प्रश्नकर्ता : तो दादा, जिनमें नया (व्यतिरेक) गुण उत्पन्न (चार्ज) नहीं होता, वे ही सिद्ध बन जाते हैं?

दादाश्री : पुराने (व्यतिरेक) गुण के खत्म हो जाने पर वह सिद्ध बन जाता है। व्यतिरेक गुण उत्पन्न होना बंद हो जाएँ तो सिद्ध बन जाता है।

प्रश्नकर्ता : एकेन्द्रिय जीव में वे किस तरह से रहे हुए हैं? क्रोध-मान-माया-लोभ...

दादाश्री : वे मूल भाव में रहे हुए हैं। क्रोध-मान-माया-लोभ के मूल भाव क्या हैं? राग-द्वेष। उस राग-द्वेष में से ये सब अलग हुए, राग में से लोभ और कपट और द्वेष में से मान और क्रोध। इस प्रकार से उसका मूल राग-द्वेष है और राग-द्वेष का मूल क्या है? रुचि-अरुचि। पेड़ों को भी रुचि-अरुचि है, सभी को। एकेन्द्रिय जीवमात्र को रुचि-अरुचि है! अच्छा नहीं लगता लेकिन क्या करें, कोई चारा ही नहीं है न! नापसंदगी का एहसास तो है न? दु:ख होता है, ऐसा भान हुआ न? जहाँ दु:ख होता है वहाँ पर अरुचि, और फिर सुख भी लगता है। अच्छी हवा चले, बरसात आए तब पेड़ भी खुश हो जाते हैं। पौधे भी खुश हो जाते हैं। बहुत गर्मी हो या बहुत बर्फ गिर रही हो तब सभी पेड़ दु:खी हो जाते हैं। अत: जहाँ देखो वहाँ पर यही हैं, क्रोध-मान-माया-लोभ।

प्रश्नकर्ता : यह प्राणी सृष्टि, इनमें चौरासी लाख योनियाँ हैं, ये जो मनुष्य बने, ये सभी व्यतिरेक गुणों से ही उत्पन्न हुए हैं न?

दादाश्री : हाँ, सब व्यतिरेक गुणों में से ही हुआ है।

प्रश्नकर्ता : तो ये आकार, तरह-तरह के आकार, यह सब...

दादाश्री : हाँ, यहाँ पर जब तेज़ बारिश होती है, तब बुलबुले बनते हैं न, तो वे क्या एक ही तरह के होते हैं?

प्रश्नकर्ता : नहीं, अलग-अलग होते हैं, छोटे-बड़े होते हैं।

दादाश्री : कोई इतना बड़ा होता है, कोई इतना बड़ा होता है, इतना बड़ा होता है, इतना बड़ा होता है, ऐसा है यह सब। इसमें कहीं भगवान वहाँ पर आकर ऐसा करने बैठे हैं? यों बुलबुले बनते हैं और फूट जाते हैं, बनते हैं और फूट जाते हैं।

प्रश्नकर्ता : लेकिन इसके साथ ही हर एक प्राणी के अलग-अलग गुण और स्वभाव आते हैं न?

दादाश्री : हाँ! हर एक का अलग-अलग स्पेस होता है, वह अलग-अलग, उसमें भी स्वभाव अलग-अलग होते हैं। जैसे एविडेन्स मिलते हैं वैसा ही हो जाता है। जैसे दूसरे संयोग मिलते हैं वैसा ही हो जाता है। आपका स्वरूप उन संयोगों से बाहर है।

संयोगों के दबाव से सर्जित हुआ संसार

प्रश्नकर्ता : हम ऐसा मानते हैं कि कोई अलौकिक शक्ति है और दूसरी तरफ हम हैं। हम उसके भाग हैं न...

दादाश्री : किसी के भी भाग नहीं हैं, आप भाग नहीं हो।

प्रश्नकर्ता : एक ही हैं?

दादाश्री : नहीं, नहीं! एक भी नहीं। आप अपनी तरह से स्वतंत्र हो। आपका कोई *ऊपरी* (बॉस, वरिष्ठ मालिक) नहीं है। यदि हम उसके भाग होते न, तब तो वह मार-मारकर अपना तेल निकाल देता। ऐसा नहीं है, यह तो बिल्कुल स्वतंत्र है।

प्रश्नकर्ता : यदि सब स्वतंत्र हैं तो ये सब जो, हर एक इकाई अलग-अलग है, तो ये संयोग किस प्रकार से प्रबंधित (अरेन्ज्ड) हैं?

दादाश्री : बिल्कुल! रेग्युलेटर (व्यवस्थित, साइन्टिफिक सरकमस्टेन्शियल एविडेन्स) से प्रबंधित हैं ये।

प्रश्नकर्ता : आपने सार तो बता दिया कि ये इस प्रकार से प्रबंधित हैं लेकिन इसका कारण क्या है?

दादाश्री : इसके कारण में और कोई चीज़ नहीं है। ये जीव निरंतर प्रवाहित होते-होते स्वाभाविक होने की कोशिश कर रहे हैं, स्वाभाविक! जो विशेष भावी हो चुके हैं, वे स्वाभाविक होने की कोशिश कर रहे हैं। यह विशेष भाव क्यों हो गया? तो कहते हैं, *उपाधि* (बाहर से आने

वाला दु:ख, परेशानी) स्वभाव की वजह से क्योंकि हमें ये सभी एविडेन्स मिले इसलिए एविडेन्स के आधार पर हम पर दबाव आता है, और *उपाधि* भाव हो जाता है।

इनमें से जो चेतन है, सिर्फ वही मोक्ष की तरफ जा रहा है। इसमें और कुछ भी नहीं हो रहा है, बाकी का सब तो वैसे का वैसा ही है, निरंतर। लेकिन बुद्धि कैसा ढूँढ निकालती है कि शुरुआत हुए बिना तो कैसे हो सकता है? अरे, शुरुआत करेगा तो एन्ड आएगा। तू ही मूर्ख बनेगा। राउन्ड की कोई शुरुआत होती है क्या? कोई कहेगा कि 'भाई ये सूर्यनारायण उग रहे हैं, इन सूर्यनारायण की शुरुआत कहाँ से हुई?'

और यदि भगवान ने बनाया कहेंगे न, तब तो फिर उसकी कड़ी ही नहीं मिलेगी। जबकि मैं जब विज्ञान से कहता हूँ तभी इसकी कड़ी मिलती है।

तिरछी नज़र और चिपक पड़ा

आत्मा, इसमें स्वाभाविक ज्ञान-दर्शन और विभाविक ज्ञान-दर्शन हैं। अत: ज्यों ही तिरछा देखा कि क्या इतने से ही चिपक पड़ा? तो कहते हैं, 'हाँ इसीलिए चिपक पड़ा है यह पूरा ही जगत्'। 'तिरछा क्यों देखा?' कहते हैं।

हाँ, तो इसी तरह यह जगत् चिपक पड़ा है। संयोगों का बेहिसाब जत्था है और जत्थे में तिरछा देखा तो आ बनी और फिर चला एक में से एक, एक में से एक, और फिर अनंत। यह सब बढ़ता ही चला गया। अब यह जो चेतन है न, उसे अंदर से मुक्त होना है फिर भी नहीं हो पाता। तो भाई, *पुद्गल* का ज़ोर ज़्यादा है या चेतन का? तो अभी तो *पुद्गल* में ही 'मैं फँसा हुआ हूँ', कहता है। नहीं? यदि यह पूरी बाज़ी लोहे की होती न, तब तो कभी का ही वेल्डिंग लगाकर काट देते लेकिन अंदर क्या यह पूरा लोहे का है? एक कँगूरा भी नहीं टूटता। मायाजाल! अत: यह तो, जो मन-बुद्धि-चित्त और अहंकार हैं न, वे 'मैं कर रहा हूँ, मैं कर रहा हूँ' कहते हैं, वे सब तो हथियार हैं। ये हथियार क्यों

चलने लगे? मिथ्यात्व दर्शन से। सम्यक् दर्शन हो जाए तो ये हथियार वापस सीधे हो जाएँगे।

ऐसा है, यह दृष्टि तो कैसी है कि हमेशा ही, यों बैठे हों तो हमें एक लाइट के बदले दो लाइट दिखाई देती हैं। आँख ज़रा यों हो जाए (दबाव आ जाए) तो दो दिखाई देता है या नहीं दिखाई देता? अब वास्तव में तो एक ही है फिर भी दो दिखाई देते हैं। हम प्लेट से चाय पीते हैं तब कई बार प्लेट के अंदर जो सर्कल होता है न, वह दो-दो दिखाई देते हैं। इसका क्या कारण है? कि दो आँखें हैं इसलिए सबकुछ डबल दिखाई देता है। ये आँखें भी देखती हैं और वे अंदर वाली आँखें भी देखती हैं लेकिन वह मिथ्या दृष्टि है। अत: यह सब उल्टा दिखाती है। यदि सीधा दिखाए तो सभी दु:खों से रहित हो जाएगा, सर्व *उपाधि* रहित हो जाएगा।

आत्मा ने कर्म नहीं भोगा है। अहंकार ने कर्म नहीं भोगा है। अहंकार ने विषय भोगा ही नहीं है, फिर भी अहंकार सिर्फ मानता ही है कि 'मैंने भोगा'। कृष्ण भगवान कहते हैं, 'विषय विषयों में बर्तते हैं, वह सब स्वाभाविक है'। उसमें अहंकार कहता है, 'मैं कर रहा हूँ' इसलिए फिर भुगतना पड़ रहा है। अहंकार गलत आरोपित भाव है, इसलिए कर्म बंधन होता है। 'मैं कर रहा हूँ' कहा, इसलिए कर्म बंधन होता है। 'मैं कर रहा हूँ' ऐसा भान चला जाए तो कर्म छूट जाएँगे। उसके बाद *संवरपूर्वक निर्जरा* (नया कर्म बीज नहीं डलें, बिना कर्मफल पूरा हो जाना) होगी।

प्रश्नकर्ता : कर्तापन की मान्यता किस तरह से उत्पन्न हुई?

दादाश्री : रोंग बिलीफ हुई, उससे अहंकार उत्पन्न हुआ कि 'मैं कर रहा हूँ'। इसमें अहंकार कोई चीज़ है ही नहीं, फिर भी ऐसा है कि शरीर पर अहंकार का फोटो पड़ता (असर दिखाई देता) है। पौद्गलिक रूप से शरीर पर फोटो पड़े, ऐसा है। वास्तव में अहंकार कुछ भी नहीं करता फिर भी वह अहंकार ऐसा मानता है कि 'मैं कर रहा हूँ', बस इतना ही है। सिर्फ बिलीफ रोंग है। बिलीफ सुधारे तो सबकुछ बदल

जाएगा। (व्यवहार) आत्मा नहीं बिगड़ा है, कुछ भी नहीं बिगड़ा है, ज़रा सी बिलीफ बिगड़ी है।

प्रश्नकर्ता : अहंकार के लय हो जाने के बाद जीव किस आधार पर रहेगा?

दादाश्री : इस बिलीफ को हटा दिया जाए न, तो अहंकार का लय हो जाएगा। आपकी दृष्टि यों (संसार की तरफ) है तब तक अहंकार है और दृष्टि बदल जाए तो अहंकार का पूर्णत: लय हो जाएगा। खुद के स्वरूप की ओर दृष्टि हुई कि अहंकार लय हो जाएगा। फिर मूल आत्मा को किसी भी आधार की ज़रूरत नहीं रहेगी। निरालंब है!

क्या मुखड़ा नहीं दिखाता दर्पण कभी?

प्रश्नकर्ता : अज्ञानता तो मेरे आत्मा पर बाद में चढ़ी, तो क्या मूलत: मेरा आत्मा ज्ञानी था?

दादाश्री : वही मैं आपको बता रहा हूँ। मूलत: तो यह आत्मा संपूर्ण प्रकाश वाला है। दर्पण में कभी हम न दिखाई दे ऐसा तो कभी हो ही नहीं सकता न! लेकिन अगर बाहर की हवा खराब हो जाए, वातावरण खराब हो जाए तो फिर हम दर्पण में दिखाई नहीं देंगे, ऐसा होता है न! होता है या नहीं होता?

प्रश्नकर्ता : कोहरा हो या वैसा कुछ तो कभी ऐसा हो सकता है।

दादाश्री : तो वातावरण का असर हो गया है।

प्रश्नकर्ता : लेकिन यदि आत्मा ही खुद परमात्मा है तो उसे ऐसा सब क्यों होता है? वह मोह में क्यों पड़ता है?

दादाश्री : कुछ भी नहीं हुआ है, मोह में नहीं पड़ा है, फँस गया है। खुद अपने आप तो कोई पड़ेगा ही नहीं।

पूरा व्यवहार संयोगों से भरा हुआ है। जब यहाँ से उसे सिद्ध पद

में जाना हो जहाँ पर कि कोई भी संयोग नहीं हैं, तब उसे ऐसे साधन मिल जाते हैं। शास्त्र, ज्ञानी पुरुष, सभी साधन मिल जाते हैं, तब खुद के स्वरूप को समझता है और तभी से वह मुक्त होने लगता है। एक जन्म, दो जन्म, पंद्रह जन्मों में भी, निबेड़ा आ जाता है उसका।

'कोटि वर्षनुं स्वप्न पण, जाग्रत थतां शमाय,
तेम विभाव अनादिनो, ज्ञान थतां दूर थाय.'

–श्रीमद् राजचंद्र

'कोटि वर्षों का स्वप्न भी', लोगों को स्वप्न आते हैं। स्वप्न में वे ऐसा देखते हैं कि सात-सात जन्म हो चुके हैं! सपना तो चाहे करोड़ों साल का आए लेकिन जागृत होते ही बंद हो जाता है। जागते ही खत्म हो जाता है न?

प्रश्नकर्ता : हाँ।

दादाश्री : फिर कोई लेना-देना रहता है? उसी प्रकार यह 'कोटि वर्षों का स्वप्न भी जागृत होते ही बंद हो जाता है उसी प्रकार से यह अनादि का विभाव है', कृपालुदेव ऐसा कहते हैं कि अनादि से जो विशेष भाव है, वह ज्ञान होते ही दूर हो जाता है।

किसी भी काल में न सुना हो, ऐसा है यह अक्रम विज्ञान। इसलिए यदि बात को समझ ले तो निबेड़ा आ जाएगा।

[५]

अन्वय गुण-व्यतिरेक गुण

'गुणधर्मों' से हुआ विशेष भाव

प्रश्नकर्ता : यह जो विभावावस्था उत्पन्न हुई, लेकिन स्वभाव में से विभाव होने का पहला कारण क्या होगा?

दादाश्री : पहला कारण कोई है ही नहीं। दुनिया में नियम ऐसा है कि जब दो चीज़ें मिलती हैं... जब तक वे अलग हैं तब गुणधर्म अलग होते हैं और जब वे दोनों मिलती हैं तब 'गुणधर्म' में 'विशेष भाव' उत्पन्न हो जाता है। दो चीज़ें मिली हैं इसलिए। यदि न मिलें तो विशेष भाव नहीं होगा।

प्रश्नकर्ता : दो चीज़ों के गुणधर्म जो हैं वे, और सामीप्य भाव की वजह से जो विशेष भाव उत्पन्न हुआ है, उनके गुणधर्म अलग हैं?

दादाश्री : अलग हैं।

कोई भी प्रकाश, चाहे सूर्य का हो या लाइट का हो लेकिन जब कोई व्यक्ति उसमें खड़ा रहता है तो परछाई उसके साथ ही खड़ी हो जाती है। दो चीज़ों में से तीसरी चीज़ उपस्थित हो जाती है।

यदि सिर्फ दर्पण देखे तो भी सब अपने जैसा ही दिखाई देता है और उसी प्रकार से यह उत्पन्न हुआ है।

यह आत्मा का विशेष भाव है, विशेष स्वरूप है, विभाव स्वरूप जो कि उसमें हमेशा के लिए नहीं रहता। दूसरों के संयोग से यह उत्पन्न हुआ है जबकि खुद तो स्वभाव में ही है। यह विशेष भाव उससे चिपक

गया है, भूत लग गया हो, उस तरह से। भूत लग जाए तो इसका मतलब इंसान मर नहीं गया है। बस इतना ही असर रहता है, और कुछ नहीं है। उसी तरह यह संसार भूत की तरह चिपका है, और कुछ नहीं है।

चावल स्वाभाविक चीज़ कहलाते हैं और खिचड़ी विशेष भाव कहलाती है और डांगर (छिलके वाले चावल), वह स्वाभाविक कहलाता है, जैसा कुदरती रूप से जन्म हुआ, वैसा। खिचड़ी बनाने पर फिर विशेष भाव हो गया। खिचड़ी विशेष भाव वाली है और आत्मा सहज भाव वाला है।

वे कहलाते हैं अन्वय गुण

बाकी, इस पज़ल को मैंने खुद देखा है कि यह पज़ल कैसे बनी है। क्रोध-मान-माया-लोभ व्यतिरेक गुण हैं, अन्वय गुण नहीं हैं।

प्रश्नकर्ता : अन्वय गुण का मतलब?

दादाश्री : अन्वय गुण अर्थात् स्वाभाविक गुण। मोक्ष में भी रहते हैं और यहाँ पर भी रहते हैं। जहाँ हो, वहाँ पर हमेशा साथ ही रहते हैं और व्यतिरेक अर्थात् जब तक कुछ संयोग साथ में हैं तभी तक रहेंगे। अर्थात् टेम्परेरी हैं, कालवर्ती हैं। और जैसे ही अलग हुए कि बिखर जाएगा।

प्रश्नकर्ता : आत्मा के अन्वय गुण कौन-कौन से हैं? उन्हें अन्वय गुण क्यों कहा गया हैं?

दादाश्री : जो उसके खुद के गुण हैं, वे अन्वय गुण हैं।

प्रश्नकर्ता : उसके लिए अन्वय शब्द का उपयोग क्यों किया?

दादाश्री : उसके खुद के हैं। अन्वय अर्थात् उसके अंदर गुथे हुए हैं, आत्मा के गुण। व्यतिरेक अर्थात् क्रोध-मान-माया-लोभ, वे अलग हैं। 'हमें' उनसे कोई लेना-देना नहीं है। अन्वय गुण आत्मा के खुद के गुण हैं। वह तो अनंत गुणों का धाम है। अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतशक्ति, अनंतसुख, कितने सारे गुण हैं आत्मा के!

प्रश्नकर्ता : लेकिन दादाश्री, इसे ज़रा और अधिक स्पष्ट रूप से समझाने की ज़रूरत है। ये अन्वय संबंध, उनसे क्या होता है?

दादाश्री : वह खुद की मालिकी का है। ज्ञान-दर्शन, वह सब खुद की मालिकी का है, सिर्फ खुद का ही। बाकी सब यह जो *पूरण-गलन* होता है, वह अन्वय संबंध नहीं है। वे तो चले जाएँगे कुछ देर बाद। पूरा जगत् इसी में फँसा हुआ है।

अब व्यतिरेक पर शास्त्रों में जो कहा गया है, वह क्या लोगों को दिखाई देता होगा?

प्रश्नकर्ता : इतने आत्मा के गुण हैं और इतने व्यतिरेक गुण हैं उन्हें रट-रटकर ज़ुबानी कर लिया है लेकिन कुछ समझ में ही नहीं आता न!

दादाश्री : ऐसा चलेगा ही नहीं न! रट-रटकर ज़ुबानी करने से क्या होगा? अन्वय गुण, अन्वय गुण, लेकिन भाई! अन्वय गुण का मतलब क्या है? उसका विरोधी गुण कौन सा है? तो वह है व्यतिरेक। तो व्यतिरेक का मतलब क्या है? सिर्फ शब्द गाते रहने से ही क्या कुछ बदल जाएगा? बोलते ही समझ में आना चाहिए कि कौन सा? बोलते ही व्यू पोइन्ट तो पहुँचना चाहिए, दृष्टि पहुँचनी चाहिए।

प्रश्नकर्ता : भाव और गुण में क्या फर्क है? आत्मा के ये भाव और आत्मा के ये गुण, इन दोनों में क्या फर्क है?

दादाश्री : भाव दो प्रकार के होते हैं, एक स्वभाव होता है और दूसरा विभाव। स्वभाव के गुण कहलाते हैं सारे, वे आत्मा के गुण कहलाते हैं और दूसरा, जिनमें विशेष भाव हो तो वे व्यतिरेक गुण हैं अर्थात् आत्मा के नहीं हैं।

प्रश्नकर्ता : आत्मा का अन्य पदार्थ के साथ मिक्स्चर होने से उत्पन्न हुए हैं?

दादाश्री : हाँ! कल यदि सूर्य, चंद्र, पृथ्वी सब एक साथ आ गए

थे तब अन्य कितनी तरह के भाव उत्पन्न हुए होंगे? उन तीनों के इकट्ठे होने से कितनी ही तरह के ग्रहण जैसे परिवर्तन हो गए हैं! वह विशेष भाव कहलाता है। यदि वह सूर्य का गुणधर्म होता तो वैसा ही ग्रहण रोज़ होता। यदि वह चंद्र का गुणधर्म होता तो वैसा ही ग्रहण रोज़ होता। लेकिन इन दोनों के मिलने से यह एक नई ही प्रकार का हुआ। बस! इसी प्रकार से इन जड़ और चेतन के मिलने से ही नई तरह का उत्पन्न होता है।

सद्‌गुणों की कीमत नहीं है वहाँ

हमें अपने टट्टू को रेस में नहीं उतारना है। हमें तो अपने टट्टू से मोक्ष में जाने का काम लेना है। तो उसे इस दुनिया के रेसकोर्स में मत उतारना।

मोक्षमार्ग में लोग सद्‌गुण ढूँढते हैं लेकिन वे गुण व्यतिरेक हैं। वे आत्मा के गुण नहीं हैं, वे पौद्‌गलिक गुण हैं। लोग सद्‌गुणों को आत्मा के गुण मानते हैं। क्रोध-मान-माया-लोभ को भी आत्मा के गुण मानते हैं।

वह तो दृढ़प्रहारी था न!* दृढ़प्रहारी कहते थे न? उसने गाय को मार दिया, तो अब वह तो भयंकर निर्दयी था। ब्राह्मण को मार दिया और फिर गर्भवती ब्राह्मणी को मार दिया। ऐसा करते ही व्यतिरेक गुण उत्पन्न होते हैं। दया, इतनी ज़बरदस्त दया, बच्चे को तड़पता हुआ देखा, वह देखते ही दया आई। वह व्यतिरेक गुण कहलाता है। दोनों के मिलने से, तो यह व्यतिरेक गुण कोई सिखाने नहीं गया था वर्ना भयंकर निर्दयी व्यक्ति था। किसी जगह पर दया ही नहीं आती थी।

प्रश्नकर्ता : तो फिर व्यतिरेक गुणों के उत्पन्न होने से इतने सारे लोग दु:खी हो गए?

दादाश्री : हुए ही हैं न! स्वभाव में कोई दु:ख है ही नहीं, विभाव में ही निरे दु:ख हैं।

---

*शास्त्रों में उदाहरण है।

जैसे यदि स्टीम कोल (कोयला) शोर मचाए, 'देखो मुझे ठंड लग रही है, देखो ठंड लग रही है!' तो हम क्या कहेंगे? 'अरे भाई, तेरी वजह से तो बल्कि सब की ठंड गायब हो जाती है! तुझे कैसे ठंड लग सकती है?' यदि ये सूर्यनारायण शोर मचाएँ कि 'मुझे ठंड लग रही हैं, ठंड लग रही हैं!' तब वे तो सिर्फ एक सूर्यनारायण हैं लेकिन यह आत्मा तो हज़ारों सूर्यनारायण हैं, वहाँ पर यदि वे खुद कहें कि 'मुझे ठंड लग रही है! ओढ़ाओ, ओढ़ाओ।' क्या ऐसा नहीं कहते हो सर्दी की ठंड में? और फिर कहता है कि कडाकेदार ठंड पड़ी! अरे भाई, ठंड तेरे ऊपर कैसे पड़ सकती है? ठंड तो गरम चीज़ पर पड़ती है या ठंडी चीज़ पर? तू न तो गरम है, न ही ठंडा, तुझ पर ठंड कैसे पड़ सकती है? लेकिन देखो मान बैठे हैं, देखो मान बैठे हैं! इतनी रोंग बिलीफें भरी हुई हैं कि इनका अंत ही नहीं आता!

यह जो विभाविक है, यह तो व्यवहार ही है। प्रतिक्षण उदय बदलते रहते हैं। अब, फिर उसमें भी विरोधाभास रहता है। स्वभाव में विरोधाभास नहीं है, अविरोधाभासी है। उसे कोई दु:ख स्पर्श नहीं करता। एटमबम गिरे तो भी छू नहीं सकता, ऐसा है यह स्वाभाविक निश्चय। या फिर वह एटमबम कोई नुकसान नहीं पहुँचाता।

अंत में तो अलग रखना है, जीतना नहीं है

प्रश्नकर्ता : दादा, यहाँ पर (इस पुस्तक में) शब्द 'जीत संगदोषा' कहा हुआ है। जीतने को कहा है?

दादाश्री : हाँ।

प्रश्नकर्ता : आप जो कहते हैं, उसमें अलग रखना है?

दादाश्री : हाँ, जीतना तो निम्न स्तर का है, जब तक निम्न स्टेज में है तब तक जीतना है। निम्न स्टैन्डर्ड में भी अंत में तो अलग ही होना पड़ेगा। यह जो संगदोष हुआ, वह किसके अधीन है? संगदोष का छूटना किसके अधीन है? बहुत समय बाद संगदोष छूटता है। संगदोष होने के बाद में चौरासी लाख योनियों में तो जन्म होता ही है लेकिन कितनी ही

बार अंदर योनियों में घूमता रहता है, तो वह किसके अधीन है? वह नियति के अधीन है।

'व्यतिरेकी गुण टाढा, निज सत्संग में।'

जो व्यतिरेक गुण हैं, क्रोध-मान-माया-लोभ, वे सब निज सत्संग में अर्थात् आत्मा के सत्संग में सब बिल्कुल शांत हो जाते हैं।

यहाँ पर वे व्यतिरेक गुण कब छूटेंगे, जब खुद की दृष्टि खुद के स्वभाव की ओर हो जाएगी, तब छूटेंगे। अभी जो दृष्टि है, वह विशेष परिणाम में है इसलिए क्रोध-मान-माया-लोभ उत्पन्न हो जाते हैं। ज्ञानी उस दृष्टि को बदल देते हैं और जब से दृष्टि स्वाभाविक हुई तभी से मुक्त हो जाएगा!

अब व्यतिरेक दोषों के उत्पन्न होने से इस शरीर की रचना हो जाती है। उन्हें खुद को उसमें रहना पड़ता है, कोई चारा ही नहीं है न! और व्यतिरेक दोष किस तरह से बंद हो सकते हैं? जब हम ज्ञान देते हैं तब दोनों अलग हो जाते हैं, तो व्यतिरेक दोष चले जाते हैं। फिर (नया) शरीर नहीं मिलता।

प्रश्नकर्ता : यह जो जड़ और चेतन से व्यतिरेक गुण उत्पन्न होते हैं, वे व्यवस्थित शक्ति की वजह से ही हैं न?

दादाश्री : व्यवस्थित शक्ति, वह तो बाद में उत्पन्न हुई चीज़ है। हम तो उसकी डिज़ाइन को ऐसा कहते हैं कि यह व्यवस्थित है, बाकी यह तो दोनों की उपस्थिति से अपने आप उत्पन्न हो ही जाता है, नियम से हो ही जाता है।

प्रश्नकर्ता : जड़ और चेतन के संयोगों से जो व्यतिरेक गुण उत्पन्न होते हैं, वे व्यतिरेक गुण उत्पन्न नहीं हों, दोनों अलग रहें, उसके लिए हमें क्या कंट्रोल करना चाहिए? किस तरह से करना चाहिए?

दादाश्री : वैसा कुछ करने का नहीं रहा। अलग हुए, दोनों दूर हो गए। जिसका संयोग छूट गया, इसका मतलब अलग हो गया। वह

अपने आप अलग नहीं हो सकता, मुक्त पुरुष छुड़वा देते हैं। जो इनसे मुक्त हो चुके हैं, वे छुड़वा देते हैं। यही नियम है इसका।

अमल, वही है मोहनीय

जैसे कि यहाँ पर नगीनदास नाम का कोई व्यक्ति है, वह पूरे गाँव का सेठ है और पूरा गाँव उसकी तारीफ करता है कि, 'नगीनदास सेठ की तो बात ही अलग है। सभी की हेल्प करते हैं, सब काम करते हैं', लेकिन रात को साढ़े आठ बजते ही वे इतनी ज़रा सी पीते हैं। उससे कोई तकलीफ नहीं होती, नुकसान नहीं होता, ज़रा सी पीते हैं। लेकिन एक दिन उनका फ्रेन्ड आ गया। उसने कहा, 'दूसरी प्याली लेनी पड़ेगी', तो उन्होंने दूसरी प्याली ली तो चढ़ गई। अब चढ़ेगी या नहीं चढ़ेगी? तब फिर वे नगीनदास रहेंगे या कुछ बदलाव हो जाएगा?

प्रश्नकर्ता : वह परेशानी है।

दादाश्री : फिर वे क्या कहते हैं, 'मैं तो प्रधानमंत्री हूँ'। तब क्या हम नहीं समझ जाएँगे कि, 'इन पर कुछ असर हो गया है'। इन्हें कुछ हो गया हैं। किसका असर है? प्याली का। इसी प्रकार से इस *पुद्गल* (जो पूरण और गलन होता है) के दबाव का असर हो गया है यह सारा। उससे व्यतिरेक गुण उत्पन्न हो गए। जो आत्मा के भी नहीं हैं और जड़ के भी नहीं हैं। क्रोध-मान-माया-लोभ और उसे कम शब्दों में कहने जाएँ तो 'मैं' और 'मेरापन' उत्पन्न हुआ। यह जो पूरी गाड़ी चल रही है, आत्मा उसका भी ज्ञाता-दृष्टा है। अभी भी है लेकिन अपनी मान्यता बदलती नहीं है न! मान्यता जब बदलती है तब यह जो *उपाधि* (परेशानी) है, वह *उपाधि* छूट जाती है, जैसे कि जब शराब का नशा उतर जाता है न, उसके बाद नगीनदास वापस जैसे थे वैसे ही हो जाते हैं। उतर जाए तो हो जाएँगे या नहीं हो जाएँगे? तब तक 'प्रधानमंत्री हूँ' वगैरह उल्टा-सुल्टा बोलते रहते हैं। यह *उपाधि* (बाहर से आने वाला दु:ख) है, पराई *उपाधि* है यह। देखी है ऐसी *उपाधि*?

प्रश्नकर्ता : देखी है, अनुभव की है।

दादाश्री : ऐसा? जब *अमल* (असर) उतारने के संयोग मिलेंगे तब *अमल* उतर जाएगा। यह भी *अमल* ही है न! वह शराब का *अमल* चढ़ा है और यह जो खाता है, पीता है, रोज़ उसका *अमल* चढ़ता रहता है, *अमल* में ही घूमता रहता है। वैसा ही *अमल* है यह, लेकिन भ्रांति है यह, वह भी भ्रांति कहलाती है। सेठ उल्टा बोलते हैं न?

प्रश्नकर्ता : उल्टा ही बोलते हैं।

दादाश्री : और फिर उतर जाने के बाद?

प्रश्नकर्ता : सीधा बोलते हैं।

दादाश्री : हम कहें कि 'आपने ऐसा कहा था साहब?' तब वे कहेंगे, 'साली ये पी ली थी इसलिए, नहीं तो क्या मैं कभी ऐसा करूँगा! मैं ऐसा नहीं बोल सकता'। आत्मा की वही दशा हुई है। आत्मा का कुछ भी नहीं बिगड़ा है। आत्मा तो वैसा ही है। सेठ का भी कुछ नहीं बिगड़ा था। सेठ भी वैसे ही थे। यह ज्ञान बिगड़ गया था उनका। इसमें ज्ञान बिगड़ता है और उसमें दर्शन बिगड़ता है। वह उल्टा ही दिखाता है। जैसा दिखाई देता है, वैसा ही बोलता है न फिर।

प्रश्नकर्ता : अर्थात् पुरुष और प्रकृति का संयोग हो गया न?

दादाश्री : खुद है पुरुष, आत्मारूपी है, भगवान ही है खुद लेकिन दबाव से यह प्रकृति बन गई। जैसे कि वे सेठ, 'मैं प्रधानमंत्री हूँ', ऐसा कह रहे थे, आसपास वाले सभी चौंक जाते हैं कि, 'सेठ ऐसा कह रहे हैं!' इसी प्रकार से (व्यवहार) आत्मा बहुत दबाव की वजह से विशेष भाव में आ जाता है। विशेष भाव अर्थात् 'यह सब किसने किया? मैं ही हूँ करने वाला', ऐसा सब भान उत्पन्न होता है और उसी से अपने आप ही प्रकृति बन जाती है। किसी को बनाने की ज़रूरत नहीं है। प्रकृति अपने आप ही किस तरह से बन जाती है, वह मैंने देखा है। मैं देखकर बता रहा हूँ इस प्रकृति के बारे में। इसीलिए इस विज्ञान का खुलासा हो रहा है न, नहीं तो खुलासा होगा ही नहीं न? कोई भी किसी चीज़ का कर्ता नहीं है।

प्रश्नकर्ता : यह जो भ्रांति खड़ी हो गई है, यह जो माया उत्पन्न हो गई है, क्या यही वह विशेष भाव है?

दादाश्री : माया अर्थात् एक प्रकार की अज्ञानता, 'खुद कौन हूँ', उसकी अज्ञानता। उस विशेष भाव में से उत्पन्न हुआ, 'मैं' और 'मैं कर रहा हूँ'।

प्रश्नकर्ता : अहंकार और मोहनीय कर्म, इन दोनों का ज़रा विश्लेषण करके समझाइए।

दादाश्री : मोहनीय कर्म और अहंकार दोनों अलग हैं। वह जो शराब पी, उससे मोहनीय उत्पन्न हुआ। अर्थात् जो अहंकार था, वह मोहनीय की वजह से ही, 'मैं राजा हूँ', और ऐसा सब कहता है। पहले, 'मैं नगीनदास सेठ हूँ', थे और अब यह उल्टा-सीधा बोल रहे हैं, उन्होंने शराब पी ली है इसलिए। उसी प्रकार से यह *पुद्गल* की शराब है।

प्रश्नकर्ता : शराब का असर होने से ऐसे संयोग खड़े हो गए, तो जन्म-मरण वाले वे संयोग कैसे होते हैं? वह ज़रा विशेष रूप से समझाइए।

दादाश्री : आत्मा को घूमना ही नहीं पड़ता। आत्मा तो अपने स्वभाव में ही है। यह तो घनचक्कर (अहंकार) घूमता है। कौन घूमता है? 'साहब, मुझे पाप लगा, मुझे पुण्य मिला', वह घूमता रहता है। 'मैंने किया, मैंने भोगा', वह कौन है, उसे पहचानते हो आप?

सिर्फ इगोइज़म ही है। जिसके इगोइज़म का नाश हो गया कि, उसे आत्मा प्राप्त हो गया। यह इगोइज़म तो एक लफड़ा है, जो खड़ा हो गया है।

नहीं है आत्मा की कोई वंशावली

प्रश्नकर्ता : आप कहते हैं कि, 'आप चंदूभाई, इनके हज़बेन्ड हो, इनके फादर हो, इनके मौसा हो', ये सब एक शुद्धात्मा की ही वंशावली है न? बहुत सारे आत्माओं ने इकट्ठे होकर उलझन में डाल

दिया है। यों तो एक ही शुद्धात्मा है, फिर ये अंतर आत्मा और बहिर्आत्मा और प्रतिष्ठित आत्मा और फलाना ऐसे कन्फ्यूज़न बढ़ता जा रहा है।

दादाश्री : यह तो आपको समझाने के लिए कहा है कि यह कौन सा आत्मा है? तो जो बहिर्मुखी है, वह मूढ़ात्मा है। जब तक उसे इस संसार का कोई सुख चाहिए तब तक मूढ़ात्मा है, जीवात्मा है।

प्रश्नकर्ता : लेकिन मूल आत्मा की ही वंशावली है न यह सब?

दादाश्री : वंशावली है ही नहीं। वहाँ पर तो कोई किसी का बेटा नहीं है।

प्रश्नकर्ता : शुद्धात्मा को तो कुछ भी स्पर्श नहीं करता?

दादाश्री : नहीं।

प्रश्नकर्ता : तो यह सारा मुझे जंजाल जैसा लगता है। यह मूढ़ात्मा और फलाना आत्मा, ढीकना आत्मा, एक ही मूल वस्तु है, शुद्धात्मा।

दादाश्री : हाँ! लेकिन जब से वह जानने लगता है कि शुद्धात्मा (मूल आत्मा) को कुछ स्पर्श ही नहीं करता, तभी से 'वह' ('मैं') 'शुद्धात्मा' होने लगता है। लेकिन जब तक ऐसा समझता है कि शुद्धात्मा को स्पर्श करता है, तब तक जीवात्मा रहता है। अब शुद्धात्मा होने के बाद में शुद्धात्मा तो निरंतर शुद्ध ही रहता है, हमेशा के लिए। वह पद हम अपने आसपास के माहौल के आधार पर देख सकते हैं कि, ओहोहो! किसी को दुःख नहीं होता, किसी को ऐसा नहीं होता इसलिए हम शुद्ध हो गए हैं। जितनी अशुद्धि, उतनी ही सामने वाले को अड़चन और खुद को अड़चन। खुद की अड़चन कब मिटती है? जब 'यह' ज्ञान मिलता है तब। और जब खुद से सामने वाले की अड़चन मिट जाए तब अपना पूर्ण हो जाएगा।

अज्ञान तो खड़ा हो गया

वस्तुओं का स्वभाव ऐसा है कि उनके अपने-अपने परिणाम अलग

हैं और दो वस्तुओं को नज़दीक लाने से तीसरा ही परिणाम उत्पन्न हो जाता है।

प्रश्नकर्ता : दादा, इसका अर्थ ऐसा हुआ न कि, ज्ञान था, अज्ञान था, ये दोनों पास-पास आए इसलिए...

दादाश्री : (मूल आत्मा में) अज्ञान तो था ही नहीं। अज्ञान जैसी चीज़ ही नहीं थी। यह अज्ञान तो खड़ा हो गया है। जैसे कि वे सेठ जब शराब पीते हैं न, तो शराब पीने से पहले कुछ था?

प्रश्नकर्ता : नहीं था।

दादाश्री : वैसा ही है। उसका असर हो गया है। 'उस पर' संयोगों का असर हो गया है।

प्रश्नकर्ता : अकारण तो कुछ होता ही नहीं है न?

दादाश्री : नहीं! कारण में, उसे संयोग मिले इसलिए हो गया। अब संयोगों से मुक्त हो जाएगा तो छूट जाएगा।

प्रश्नकर्ता : अर्थात् ज्ञान के सामने संयोग आ गया?

दादाश्री : हाँ! आत्मा और दूसरे संयोग। (स्वाभाविक) ज्ञान, वह (मूल) आत्मा है और दूसरे संयोग मिल गए इसलिए भ्रांति उत्पन्न हुई।

प्रश्नकर्ता : अत: उसे संयोगों का स्पर्श हुआ?

दादाश्री : संयोगों का दबाव आया। (इसलिए विशेष भाव, 'मैं', व्यवहार आत्मा, उत्पन्न हो गया।)

प्रश्नकर्ता : क्योंकि आत्मा पर तो कोई असर नहीं होता फिर भी असर क्यों हुआ?

दादाश्री : हुआ न असर। (व्यवहार आत्मा पर) असर हुए बगैर रहेगा ही नहीं न! फिर भी (मूल) आत्मा जैसा था वैसा ही है। सिर्फ बिलीफ ही बदली है।

प्रश्नकर्ता : किसकी बिलीफ बदली है? ज्ञान की बिलीफ?

दादाश्री : हाँ, (दबाव की वजह से विभाव होने से उसका ज्ञान विभाविक हो गया) ज्ञान की सिर्फ बिलीफ ही बदली है। जैसे कि वे सेठ थे न, वे ऐसा कहते हैं कि, 'मैं नगीनदास सेठ हूँ', फिर वापस 'सयाजीराव महाराज हूँ', ऐसा कहते हैं, शराब पीने के बाद। यह उदाहरण तो यहाँ पर दिखाई देता है लेकिन वहाँ पर क्या होता है, वह समझ में नहीं आता। वे संयोग जब छूट जाएँगे तब मुक्त होगा।

प्रश्नकर्ता : लेकिन ज्ञान ऐसी चीज़ है कि उसे कोई भी चीज़ स्पर्श नहीं करती, उस पर कोई असर नहीं होता।

दादाश्री : (स्वाभाविक ज्ञान और मूल आत्मा पर) उस पर असर नहीं हुआ है। यह तो आपकी अपनी मान्यता में आप (व्यवहार आत्मा अर्थात् 'मैं') खुद अलग हो गए हो।

प्रश्नकर्ता : लेकिन वह मान्यता किसकी है फिर?

दादाश्री : 'आपकी' मान्यता, रोंग बिलीफ ही है यह सिर्फ। बाकी कुछ नहीं है। आत्मा को कुछ भी नहीं हुआ है। यह बिलीफ ही रोंग हो गई है। वह रोंग बिलीफ निकल जाएगी तो हो जाएगा।

प्रश्नकर्ता : तो ऐसी रोंग बिलीफ रखने वाला कौन है?

दादाश्री : रखने वाला कोई नहीं है, यह दबाव है। दो वस्तुएँ अपना-अपना स्वभाव ही बताती हैं। दो वस्तुओं को साथ में रखने से तीसरा ही परिणाम उत्पन्न हो जाता है। साइन्टिस्ट इस बात को समझ सकते हैं।

रोंग बिलीफ उत्पन्न हो गई, विशेष परिणाम से

प्रश्नकर्ता : यदि आत्मा के गुण स्वतंत्र ही हैं तो फिर ये दुःखों का संयोजन किसे हो रहा है? और यदि इस प्रकार से आत्मा में यह जो 'देखना' है तो फिर उसने अपना यह 'देखने' का गुण कैसे खो दिया?

दादाश्री : आपको कुछ हुआ ही नहीं है, लेकिन आपने मान

लिया है। इतना अधिक मान लिया है, इतना साइकोलॉजिकल इफेक्ट हो गया है कि उसी रूप हो गए हो।

प्रश्नकर्ता : यह माना किसने है? आत्म तत्त्व ने ऐसा माना है?

दादाश्री : नहीं, आत्म तत्त्व नहीं है।

प्रश्नकर्ता : तो फिर आप जो 'मुझे' कह रहे हैं, वह कौन है?

दादाश्री : यह विशेष गुण उत्पन्न हुआ है न, वही मान रहा है। और 'आप' विशेष गुण में हो। 'आप' अपने स्वभाव में से अलग हो गए हो।

प्रश्नकर्ता : अर्थात् आत्मा के स्वभाव में 'हटने का गुण' है? उसमें से वह हट सकता है?

दादाश्री : हट ही गया है न यह सब। फिर भी आत्मा का दोष नहीं है। आत्मा तो वैसे का वैसा ही है।

प्रश्नकर्ता : यह रोंग बिलीफ किसे हो गई है?

दादाश्री : जो भोग रहा है उसे। जो रोंग बिलीफ भोगता है, उसे हुई है।

प्रश्नकर्ता : अभी तो हम भोग रहे हैं।

दादाश्री : 'उसे' इन्टरेस्ट है इसलिए यह सब भोग रहा है। रोंग बिलीफ में 'यह मेरी वाइफ है, मैं इसका ससुर हूँ, मैं मामा हूँ, चाचा हूँ', और इस प्रकार से जो इन्टरेस्ट आता है न, उस बिलीफ की वजह से ही यह जगत् बना है और राइट बिलीफ से जगत् अस्त हो जाएगा। रोंग बिलीफ से ही शादी करता है, विधुर होता है, घर बसाता है, बेटे का बाप बनता है, दादा बनता है, यह सब रोंग बिलीफ से है।

प्रश्नकर्ता : यह रोंग बिलीफ ही विशेष परिणाम है या विशेष परिणाम के कारण रोंग बिलीफ हो गई है।

दादाश्री : विशेष परिणाम के कारण ही रोंग बिलीफ उत्पन्न हो गई है।

प्रश्नकर्ता : या फिर यह विशेष परिणाम ही रोंग बिलीफ है?

दादाश्री : नहीं, वह रोंग बिलीफ नहीं है।

प्रश्नकर्ता : अर्थात् विशेष परिणाम से उत्पन्न हो गई है।

दादाश्री : हाँ।

प्रश्नकर्ता : अर्थात् इसका अर्थ ऐसा हुआ कि, पहले जब विशेष परिणाम होता है उस समय रोंग बिलीफ नहीं होती लेकिन फिर रोंग बिलीफ हो जाती है?

दादाश्री : जो विशेष परिणाम उत्पन्न होता है, उसे रोंग बिलीफ से लेना-देना नहीं है लेकिन 'उसे' बहुत दबाव महसूस होता है इसलिए ('मैं' को) रोंग बिलीफ हो जाती है कि, 'अरे, यह सब कौन कर रहा है?' कहता है 'मैं ही कर रहा हूँ'। ऐसी भ्रांति हो जाती है इसलिए बिलीफ बिगड़ जाती है। बिलीफ बिगड़ने की वजह से संसार कायम है और बिलीफ सुधर जाए तो संसार बंद हो जाएगा।

प्रश्नकर्ता : अर्थात् जो विशेष परिणाम उत्पन्न होता है, वह दो वस्तुओं के नज़दीक आने से, वह भी स्वाभाविक रूप से हो ही जाता है न, ऐसा हुआ न?

दादाश्री : स्वाभाविक रूप से हो जाता है।

प्रश्नकर्ता : अत: उसमें रोंग बिलीफ का कोई सवाल ही नहीं आता।

दादाश्री : अंधेरे में पानी के ग्लास के बदले शराब का ग्लास पी लिया, फिर विशेष परिणाम उत्पन्न हो जाएगा या नहीं?

प्रश्नकर्ता : हो जाएगा, उसका असर होगा न! उसका असर छोड़ेगा नहीं।

दादाश्री : इस तरह यह सारा विशेष परिणाम उत्पन्न हो जाता है।

प्रश्नकर्ता : तो इसमें यह जो तात्त्विक विज्ञान है, इसमें ऐसा क्या होता है? आपने यह जो उदाहरण दिया न कि, पानी के बजाय शराब का ग्लास पी लिया, उसी प्रकार से इन छः तत्त्वों की बात में ऐसा क्या होता है?

दादाश्री : दूसरे पाँच तत्त्वों के परिवर्तन से उस पर दबाव आता है। उस दबाव को लेकर ऐसा लगता है कि, 'यह मैं कर रहा हूँ या फिर कौन कर रहा है?' वह स्वाभाविक गुण नहीं है उसका।

प्रश्नकर्ता : लेकिन शुरुआत में आत्मा जो कि शुद्ध स्वरूप में था, वह ऐसे असर में क्यों आ गया?

दादाश्री : अभी भी शुद्ध ही है। उस दिन भी शुद्ध ही था, आज भी शुद्ध है और जब देखो तब शुद्ध ही रहेगा।

प्रश्नकर्ता : लेकिन अज्ञान से मुक्त था, शुरुआत की स्थिति में...

दादाश्री : वह अभी भी अज्ञान से मुक्त ही है। वह कभी भी अज्ञान वाला हुआ ही नहीं।

प्रश्नकर्ता : अत: यह जो विभाव है, वह वैज्ञानिक है। अब सब क्लियर हो गया।

दादाश्री : वह क्लियर हुए बगैर तो मन का समाधान ही नहीं होगा न! सेट होना चाहिए न!

[६]

विशेष भाव - विशेष ज्ञान - अज्ञान

अज्ञान भी ज्ञान ही है

विभाव अर्थात् मूल ज्ञान, खुद का ज्ञान तो है ही लेकिन यह विशेष ज्ञान उत्पन्न हो गया है।

प्रश्नकर्ता : तो उस पर आपत्ति क्यों उठानी है, विशेष ज्ञान पर?

दादाश्री : आपत्ति कैसी?

प्रश्नकर्ता : ज्ञान है और उसमें वृद्धि हुई है, विशेष ज्ञान।

दादाश्री : नहीं-नहीं! वृद्धि नहीं! विशेष ज्ञान यानी कि जो नहीं जानना था, वैसा ज्ञान उत्पन्न हो गया है। जिसकी ज़रूरत नहीं है, वैसा ज्ञान उत्पन्न हो गया है।

अशुद्ध किसलिए हो गया है? तो वह, 'विशेष ज्ञान में फँस गया है इसलिए अशुद्ध होता गया और स्वाभाविक ज्ञान में आया तभी से शुद्ध होता चला गया'। विशेष ज्ञान को विभाव ज्ञान कहते हैं।

प्रश्नकर्ता : विशेष भाव से हो सकता है?

दादाश्री : हाँ, विशेष ज्ञान अर्थात् अज्ञान को भी ज्ञान कहा जाता है। अर्थात् सांसारिक भाव उत्पन्न हो जाता है। शादी करता है, ससुर बनता है, सास बनता है, दादी सास बनता है, बुआ सास बनता है। और सिर्फ भेद डालने के लिए उसे अज्ञान कहते हैं, बाकी यह विशेष ज्ञान है।

हम समझते हैं कि 'भाई! यह अज्ञान है और यह ज्ञान'। बाकी, अज्ञान हमेशा अंधकारमय होता है लेकिन यह अज्ञान तो प्रकाश है, क्षयोपशम प्रकाश है। पूर्ण प्रकाश नहीं है, यह क्षयोपशम है! अत: यह विशेष भाव है। अब यहाँ से कब छूटेगा? तो कहते हैं कि, जब खुद के निज स्वरूप का भान हो जाएगा तब वापस मूल गुण में आ जाएगा। तब यह सारा वापस खत्म हो जाएगा।

यदि यह स्वभाव में परिणामित नहीं होता तो फिर वह वस्तु ही नहीं है। हमेशा के लिए परभाव में नहीं रहता। परभाव सिर्फ आत्मा के लिए ही होता है और वह अज्ञान परिणाम है। उसे हम विशेष परिणाम कहते हैं। एक व्यक्ति की आँखें तो बहुत अच्छी हैं, वह अंधा तो नहीं है लेकिन जाते-जाते एकदम से कोहरा छा जाए न, तो पाँच फुट आगे चलने वाला व्यक्ति भी दिखाई नहीं देता। ऐसा होता है या नहीं? ये सब परिणाम ऐसे ही हैं। साइन्टिफिक सरकमस्टेन्शियल एविडेन्स हैं ये। हमने इस जगत् को जैसा है वैसा देखकर बताया।

इन सभी संयोगों का दबाव है। उसमें जब आत्मा पर ज़रा सा भी दबाव आ जाए तब उसका असर होता है, इफेक्ट होता है। अन्इफेक्टिव होने के बावजूद भी इफेक्ट होता है। जबकि आत्मा तो स्वाभाविक ज्ञान से बाहर कभी गया ही नहीं, क्रिया में तो गया ही नहीं कभी भी। लेकिन खुद का जो ज्ञान-दर्शन स्वभाव है, वह दर्शन विभाविक हो गया।

अपने साथ कई बार क्या ऐसा नहीं होता कि चक्कर आते हैं और बेहोश हो जाते हैं? आँखें खुली हों फिर भी अगर कोई हम से पूछे कि, 'आपका नाम क्या है? आपका नाम क्या है?' तो कुछ भी पता नहीं चलता। तब लोग कहते हैं न कि 'इसे होश नहीं है'। तो उससे जब इतना असर हो जाता है तो यह तो कितना बड़ा असर हो चुका है! आत्मा पर कैसा दबाव आया है। जो भयंकर आवरण ला दें ऐसे सब संयोगों का दबाव और फिर वे सारे संयोग कैसे हैं? जैसा भगवान का (विभाविक) ज्ञान होता है, वहाँ पर वैसा ही आकार बन जाता है।

मात्र दृष्टि को ही बदलने से इतना बड़ा संसार खड़ा हो गया तो अन्य तो कितनी सारी शक्तियाँ हैं!

यह सांसारिक ज्ञान है लेकिन विशेष ज्ञान है और यह विशेष ज्ञान, यही बुद्धि है।

यह अज्ञान की आराधना नहीं करता। यह एक प्रकार का विशेष ज्ञान है। इस संसार में यह जो ज्ञान है, वह बिल्कुल अज्ञान है। हम लोगों से पूछें कि 'आप सभी यह अज्ञान कर रहे हो?' तो वह किस दृष्टि से अज्ञान है? कि भाई, अध्यात्म की दृष्टि से अज्ञान है, वर्ना यह ज्ञान है या अज्ञान?

प्रश्नकर्ता : ज्ञान है।

दादाश्री : अब ये अध्यात्म वाले इसे 'अज्ञान' कहते हैं। मैं नहीं कहता कि, 'भाई, क्यों बेकार ही कर्म बाँध रहा है?' यह अज्ञान ही कहलाता है। यह ज्ञान और यह अज्ञान। अब भाई! पूरी दुनिया इसे खुले तौर पर ज्ञान कहती है, और तू उसे अज्ञान कह रहा है? यह विशेष ज्ञान है। आत्मा का ही ज्ञान है लेकिन विशेष ज्ञान है। यानी कि संयोगों के अधीन नया विशेष गुण उत्पन्न हो जाता है। फिर आगे जाकर वह सब आता है, यह संसार दिखने लगता है हमें। यह सांसारिक ज्ञान भी ज्ञान है, अज्ञान नहीं है लेकिन यदि मोक्ष में जाना हो तो यह अज्ञान है। और इस ज्ञान को समझना चाहिए।

प्रश्नकर्ता : अर्थात् यह इस संदर्भ में ऐसा है?

दादाश्री : हाँ, इस संदर्भ में ही तो न! और यह विशेष ज्ञान तो उत्पन्न हो गया है।

वास्तव में वह नहीं है भ्रांति

अब, जीव का स्वरूप अज्ञानता से ही बन गया है। जैसे रात को हम अकेले हों और सो जाएँ और अंदर दूसरे रूम में प्याला खड़खड़ाए तो एकदम से मन में ऐसी भ्रांति हो जाती है कि, 'हमने जो भूत के बारे

में सुना है, वह आया है या क्या है?' तो उससे घबराहट हो जाती है या नहीं? तो जब से घबराहट होने लगे तब से लेकर रात भर रहती है। उसी प्रकार इस जीव का उद्‌गम हुआ है। ऐसे भ्रांति से यह गाँठ पड़ गई है कि, 'यह मैं ही हूँ, मैं ही कर रहा हूँ'। तभी से भ्रांति हो गई है तो उसका अंतिम स्थान कौन सा है? मूलत: खुद को जो भ्रांति हो गई है और गाँठ पड़ गई है, तो अंत में जब वह भान में आता है तो छूट जाती है।

केवलज्ञान क्या है? अंदर जो बैठे हैं वे शुद्धात्मा इस प्रकृति को देखते ही रहते हैं। खुद का ज्ञाता-दृष्टापन एक समय के लिए भी नहीं चूके हैं। जब से संसार का आरंभ काल है, तभी से 'देख' और 'जान' रहे हैं लेकिन यह एक भ्रांति उत्पन्न हो गई है कि, 'मैं यह हूँ या वह हूँ?' तभी से यह संसार खड़ा हो गया। हम समझाकर किसी की भ्रांति दूर करते हैं लेकिन फिर से भ्रांति खड़ी ही रहती है क्योंकि पहले का चार्ज किया हुआ है, तो वह उसे वापस उस भँवर में डाल देता है। इसलिए भगवान ने कहा है कि समकित हो जाएगा तो काम हो जाएगा, नहीं तो उसी भँवर में...

प्रश्नकर्ता : आत्मज्ञान का *अफाट* (जो टूटे या फटे नहीं) पिंड है, फिर भी भ्रांति में क्यों पड़ गया?

दादाश्री : *अफाट* पिंड का मतलब क्या है? इसका अर्थ क्या है? अनंतज्ञान। फिर भी भ्रांति में क्यों पड़ गया? तो कहते हैं कि, 'इस दुनिया को बताने के लिए उसे भ्रांति कहना पड़ता है, वास्तव में भ्रांति नहीं है'। यह आत्मा का विभाविक ज्ञान है, यह भी एक ज्ञान है। यह भ्रांति नहीं है लेकिन भ्रांति का मतलब क्या है, वह स्पष्ट करने के लिए मैं आपको समझाता हूँ। यह विभाव में पड़ा हुआ आत्मा है। उसे दुनिया के लोग रिलेटिव भाषा में, भ्रांत भाषा में भ्रांति कहते हैं। वास्तव में भ्रांति अर्थात् अंदर जब दु:ख उत्पन्न होता है न, तब मन में ऐसा लगता है कि, 'इतना सब जानने के बावजूद भी अदंर यह जो है, वह क्या है? अत: यह कुछ अलग है। यह मेरा स्वरूप नहीं है', इसे कहते हैं भ्रांति। कोई गाँठ पड़

गई है। 'यह मेरा स्वरूप नहीं है, यह मैं नहीं हूँ'। अर्थात् भ्रांति हो गई है।

आत्मा नहीं बिगड़ा है। यदि भ्रांति हुई होती तो वापस ठीक भी नहीं हो पाता लेकिन इस दुनिया में ऐसा कहना पड़ता है कि भ्रांति है। दुनिया की भाषा है, लोकभाषा है।

स्टेशन पर खड़े हुए हों और गाड़ी नज़दीक से जाए तब चक्कर आ जाते हैं और कुछ देर बाद वे चक्कर ठीक हो जाते हैं। लेकिन जब तुझे अनुभव हो जाएगा उसके बाद चक्कर नहीं आएँगे। उसी प्रकार ये जो चक्कर चढ़ गए हैं, उसमें कुछ भी हुआ ही नहीं है। उसमें तो, ट्रेन में तो भ्रांति के चक्कर आते हैं और ये सचमुच में चक्कर आ गए हैं। अत: ज्ञानी पुरुष की ज़रूरत है। ट्रेन वाले चक्कर तो प्याज़ सुंघाने से खत्म हो जाते हैं, उसी प्रकार ज्ञानी कुछ सुंघा देते हैं (आत्मज्ञान देते हैं) तब चक्कर खत्म हो जाते हैं। यह तो, आत्मा और संयोग दो ही हैं। वे संयोग आत्मा को गाड़ी के पास खड़ा करते हैं तो चक्कर आ जाते हैं। इसी प्रकार ये संयोग गाड़ी जैसे हैं। ये लोग गाते हैं कि, हमारे कर्मों ने हमें बाँधा है। नहीं! अरे, कुछ भी नहीं हुआ है। मात्र ज़रा चक्कर आए हैं (अज्ञानता हो गई है), वे उतर जाएँगे तो जैसे कुछ भी हुआ ही नहीं है। ये तो झूले (फ्लायव्हील) में बैठकर कहते हैं कि सबकुछ घूम रहा है। नहीं भाई! बाहर कुछ भी नहीं घूम रहा है, तू ही घूम रहा है। ऐसा है! ज्ञानी पुरुष यह सब देखकर बैठे हैं।

फर्क, विशेष भाव और विशेष ज्ञान में

स्थिर भावों को ज्ञान गुण व दर्शन गुण कहा गया है। अस्थिर भावों को पर्याय कहा गया है। आम आए तो आम को देखता और जानता रहता है, खुद के पर्यायों से। अन्य कोई ज्ञेय आए तो उसे देखता रहता है।

प्रश्नकर्ता : विशेष भाव पर्यायरूपी ही हुए न? वे स्थिर भाव नहीं हैं, अत: पर्यायरूपी हुए न?

दादाश्री : नहीं! विशेष भाव, वे पर्याय नहीं हैं। विशेष भाव किसी और के असर से उत्पन्न हुए भाव हैं। अन्य वस्तु के असर से, दूसरी वस्तु के सामीप्य भाव की वजह से उत्पन्न हुए भाव, वे विशेष भाव कहलाते हैं। यदि सामीप्य न हो तो कुछ भी नहीं है।

अभी अपने महात्मा विशेष भाव को नहीं समझते। कई बार बताया ज़रूर है लेकिन समझते नहीं हैं कि विशेष भाव क्या है?

प्रश्नकर्ता : विशेष भाव और विशेष ज्ञान में क्या फर्क है?

दादाश्री : दोनों शब्दों में ही फर्क है, नहीं लगता?

विशेष भाव तो सिर्फ अहंकार है, 'मैं'। विशेष ज्ञान की बात का और इसका, दोनों का कोई लेना-देना ही नहीं है। चचेरे भाई-बहन भी नहीं हैं और दूर के रिश्ते में भी नहीं हैं, कुछ भी नहीं हैं।

प्रश्नकर्ता : क्या ऐसा है कि इस विशेष ज्ञान के उत्पन्न होने से वह व्यतिरेक उत्पन्न होता है?

दादाश्री : व्यतिरेक होने पर ही विशेष ज्ञान उत्पन्न होता है। लेकिन विशेष ज्ञान होने पर व्यतिरेक उत्पन्न नहीं होता। व्यतिरेक बाप (मुख्य) है। विशेष भाव तो उत्पन्न होने वाला व्यतिरेक गुण है जबकि यह तो विशेष ज्ञान है और जिस ज्ञान की ज़रूरत न हो उसे बीच में लाने का क्या अर्थ है? हम विशेष ज्ञान में नहीं उतरते हैं कि यह नीम है या आम है या अमरूद है वगैरह, नहीं तो कब अंत आएगा? और यदि ऐसा कहें कि सब पेड़ हैं, तो वह ज्ञान है। सामान्य ज्ञान अच्छा है न!

सामान्य ज्ञान को दर्शन कहा गया है। और दर्शन की ही कीमत है मोक्ष में। सामान्य भाव से रहना चाहिए। *पुद्गल* में विशेष ज्ञान देखने जाते हैं, 'यह क्या है, यह क्या है?'

प्रश्नकर्ता : जब खुद की, देखने वाले की दृष्टि में भेद रहे तब पक्षपात दिखाई देता है न?

दादाश्री : जब खुद को विशेष ज्ञान देखने की इच्छा होती है न,

तभी उसे भेद दिखाई देता है। विशेष ज्ञान तो कहाँ तक जाता है? कि, यह तो काला है, यह तो गोरा है, यह तो लंबा है, यह तो ठिगना है, यह तो मोटा है, यह तो पतला है। विशेष ज्ञान का तो अंत ही नहीं आता न! अत: दर्शन से देखना है सब, सामान्य भाव से। अत: हमारा दर्शन के अलावा अन्य कहीं उपयोग नहीं रहता, निरंतर उपयोग रहता है। हम घड़ी भर के लिए भी, एक मिनट के लिए भी उपयोग से बाहर नहीं रहते। आत्मा का उपयोग रहता ही है। विधियाँ करते समय भी हमें आत्मा का उपयोग रहता है।

'ज्ञान' एक ही है, उसके भाग अलग-अलग हैं। हम इस 'रूम' को देखें तो 'रूम' और 'आकाश' को देखें तो 'आकाश', लेकिन 'ज्ञान' तो वही का वही है! जब तक यह विशेष ज्ञान देखता है, सांसारिक ज्ञान देखता है, तब तक आत्मा दिखाई ही नहीं देता और आत्मा जानने के बाद में दोनों दिखाई देते हैं। यदि आत्मा को नहीं जाने तो कुछ भी नहीं दिखाई देगा, सभी अंधे!

प्रश्नकर्ता : आत्मा तो ज्ञान वाला ही है न?

दादाश्री : वह खुद ही ज्ञान है। खुद ज्ञान वाला नहीं है, ज्ञान ही है खुद! यदि उसे ज्ञान वाला कहेंगे तो 'ज्ञान' और 'वाला', ये दो अलग कहलाएँगे। यानी कि आत्मा खुद ही ज्ञान है, वह खुद ही प्रकाश है! उस प्रकाश के आधार पर यह सभी दिखाई देता है। उस प्रकाश के आधार पर यह सब 'उसे' समझ में भी आता है और 'वह' जानता भी है। वह जानता भी है और उसे समझ में भी आता है!

विभाव के बाद प्रकृति और पुरुष

जड़ और चेतन, दोनों के साथ में रहने से दोनों के विशेष गुणधर्म उत्पन्न हो गए हैं। उसमें से यह पूरा कारखाना खड़ा हो गया।

प्रश्नकर्ता : इसी को प्रकृति और पुरुष कहा जाता है न?

दादाश्री : नहीं! बाद में इसमें से प्रकृति और पुरुष बने। प्रकृति

जड़ है लेकिन फिर इसका परिणाम आया। विशेष परिणाम का जो रिज़ल्ट आया न, वह प्रकृति है। विशेष परिणाम में सब से पहले 'मैं' बना, फिर उसमें से प्रकृति बनी।

जड़ और चेतन, दोनों फँस गए हैं इसलिए प्रकृति रूप हुआ।

प्रश्नकर्ता : ये पाँचों तत्त्व प्रकृति के अधीन हैं न?

दादाश्री : वह सब, वही प्रकृति है। जो पाँच तत्त्वों से बनी है, वह प्रकृति है। उसमें आत्मा का विशेष भाव उत्पन्न हो गया है। यहाँ उसका वह विशेष भाव हुआ इसलिए प्रकृति बन गई और वह फल देती ही रहती है निरंतर। अब प्रकृति और पुरुष दोनों अलग कर दिए उसके बाद असल पुरुषार्थ शुरू होता है। वर्ना जब तक प्रकृति में रहता है तब तक भ्रांत पुरुषार्थ तो चलता ही रहता है। भ्रांत पुरुषार्थ! यह ज्ञान देने के बाद में उनका सच्चे पुरुष का पुरुषार्थ शुरू हुआ है।

प्रकृति बनी प्रसवधर्मी, परमाणुओं के कारण

यह जगत् निरंतर परिवर्तनशील है। इन छ: तत्त्वों के आमने-सामने समागम में आने से यह सबकुछ हो जाता है। यह जगत् बिना कर्ता के बन गया है। साइन्टिफिक सरकमस्टेन्शियल एविडेन्स से बन गया है। चेतन का ज्ञान-दर्शन स्वाभाविक था, वह अपने समसरण मार्ग में विभाविक हो जाता है और उतना ही भाग सर्जनात्मक जगत् के रूप में दिखाई देता है। उसके अलावा शुद्ध चेतन और शुद्ध *पुद्गल* परमाणु, ये दोनों जैसे हैं वैसे ही हैं। परमाणु प्रसवधर्मी हैं इसलिए चेतन तत्त्व के विभाविक होते ही प्रकृति का सर्जन होता है। यानी कि बाहर जो जगत् दिखाई देता है, उसमें प्रकृति वाला भाग ही अर्थात् सर्जन भाग, विसर्जनात्मक रूप से दिखाई देता है और शुद्ध चेतन और शुद्ध *पुद्गल* परमाणु (जड़), जैसे हैं वैसे ही रहते हैं। इस दुनिया में यह भी भ्रांति का भान है कि 'मैं सर्जन कर रहा हूँ'। सर्जन और विसर्जन, ये दोनों नैचुरल हैं। साइन्टिफिक सरकमस्टेन्शियल एविडेन्स हैं।

इस प्रसवधर्मी प्रकृति की शक्ति भगवान से भी कहीं अधिक है

लेकिन चैतन्य शक्ति नहीं है। इस प्रकृति में ऐसा गुण है कि चेतन का स्पर्श करते ही वह चार्ज हो जाती है। बाकी, आत्मा के गुणधर्म कभी भी नहीं बदलते। ज्ञान विभाविक हो जाने से, प्रकृति प्रसवधर्मी होने की वजह से, वह चार्ज हो जाती है।

विभाव का और अधिक विश्लेषण

प्रश्नकर्ता : आप कहते हैं कि, 'कई बार विशेष भाव के बारे में बताया है लेकिन अभी तक अपने महात्मा समझते नहीं हैं कि विशेष भाव क्या है?' तो विशेष परिणाम के और अधिक उदाहरण देकर समझाइए न, ताकि सभी को समझ में फिट हो जाए।

दादाश्री : हाँ। हम समुद्र के किनारे, मान लो समुद्र से आधा मील दूर हमने एक मकान बनाया हो, हवा का आनंद लेने के लिए और वहाँ उस मकान में दो ट्रक भरकर नया-नया लोहा डाल आएँ। फिर चौकीदार से कहें कि, 'भाई, इस लोहे का ज़रा ठीक से ध्यान रखना'। फिर हम दो साल के लिए फॉरेन चले गए लेकिन दो साल बाद जब वापस वहाँ पर आएँगे तो लोहे में कुछ फर्क दिखाई देगा या नहीं? लोहे पर कोई असर हुआ होता है?

प्रश्नकर्ता : ज़ंग लग जाता है।

दादाश्री : क्यों? बरसात का पानी न आए ऐसी जगह पर रखा हो, ढकी हुई जगह हो फिर भी?

प्रश्नकर्ता : ज़ंग लग जाएगा।

दादाश्री : हं! आपको ऐसा भविष्यज्ञान कैसे हो गया? ज़ंग लगने का? लोहा आने से पहले ही खुद को भविष्यज्ञान रहता है, क्योंकि अनुभव हो चुका है न।

अब तो यह ज़ंग लग गया, तो अब आप मुझे यह बताओ कि यह ज़ंग किसने लगाया? साबित कर दो। यह ज़ंग किसका है और किसकी इच्छा से हुआ? इतना-इतना ज़ंग लग जाता है! हम कहते हैं

कि, 'मेरा यह लोहा ऐसा नहीं था। मेरा लोहा किसने बिगाड़ा? गोडाउन में कौन घुस गया था?' अगर ऐसे शोर मचाएँ तो लोग क्या कहेंगे?

प्रश्नकर्ता : समुद्र की खारी हवा से।

दादाश्री : हाँ, वह तो है लेकिन यह किसने किया बताओ न! समुद्र की हवा ने किया या समुद्र ने किया या लोहे ने किया?

प्रश्नकर्ता : जो उसे वहाँ पर रख आया उसने।

दादाश्री : उसने किया यह?

प्रश्नकर्ता : लोहा वहाँ पर नहीं रखा होता तो नहीं होता।

दादाश्री : दुनिया में लोग उसे पकड़ते हैं, 'अरे भाई, इसे यहाँ पर रखा ही क्यों? इसलिए ज़ंग लग गया'। ऐसा नहीं है। इस दुनिया के लोगों को यदि एक्ज़ेक्ट भ्रांति वाले को ढूँढ निकालना हो कि कौन गुनहगार है, तो?

प्रश्नकर्ता : जो व्यक्ति रखकर आया क्या वह गुनहगार नहीं है?

दादाश्री : वे तो अपने ही लोग हैं। जो आँखों से देखा हो, वह आँखों देखा प्रमाण है। दिखाई दे, ऐसा प्रमाण है। जो दिखाई दे, वैसा प्रमाण नहीं चलेगा। साइन्टिफिक एविडेन्स वास्तव में, एक्ज़ेक्ट होना चाहिए। संसार के लोगों को या कोर्ट को आँखों देखे एविडेन्स की ज़रूरत है, यहाँ पर तो एक्ज़ेक्टनेस की ज़रूरत है। आप तो एकदम से नौकर को निकाल दोगे। वैसा नहीं चलेगा। साइन्टिफिक, वैज्ञानिक तरीके से अच्छी तरह जाँच करनी चाहिए कि भाई, यह किसने किया? किसने ज़ंग लगाया? हू इज़ रिस्पोन्सिबल? बोलो! मैं तो ऐसा जानता भी नहीं था कि समुद्र के किनारे रखने से ज़ंग लगता ही है।

इसलिए तब फिर हम उस चौकीदार को डाँटते हैं कि, 'अरे, यह तूने क्या किया लोहे का? यह लोहा तो बिल्कुल साफ था, हाथ वगैरह नहीं बिगड़ते थे और यह क्या हो गया? ऊपर क्या लगा दिया है तूने?' तब चौकीदार कहता है, 'मैं क्या करूँ साहब, मैंने कुछ भी नहीं किया,

आप मुझे क्यों डाँट रहे हैं? वह तो यहाँ पर रखा तो इसमें ज़ंग लगेगा ही'। 'अरे, लेकिन ज़ंग किसने लगाया?' फिर क्या पता लगाते हैं कि यह किसका गुनाह है? तब हमें आसपास वाले लोग कहेंगे कि समुद्र के किनारे रखा इसलिए ऐसा हुआ।

तब फिर अगर हम इस खारी हवा से कहें कि, 'तूने हमारे लोहे को क्यों बिगाड़ा? हमने तेरा क्या नुकसान किया है?' तब खारी हवा कहेगी, 'मैं कहाँ बिगाड़ती हूँ? मुझ पर क्यों बिना वजह के आक्षेप लगा रहे हो? मुझ में बिगाड़ने का गुण है ही नहीं। मैं तो अपने स्वभाव में रहती हूँ, मुझे क्या लेना-देना? यदि मुझ में बिगाड़ने का गुण होता तो मैं तो हमेशा बहती रहती हूँ लेकिन इन लकड़ों-वकड़ों को कभी कुछ नहीं होता। यह तो, लोहा ऐसा है इस वजह से ऐसा होता है, इसमें हमारा क्या दोष?' उसने भी समुद्र जैसा ही जवाब दिया कि, 'सिर्फ आपका यह लोहा ही ऐसी शिकायत करता है, अन्य कोई ऐसी शिकायत नहीं करता। आपका लोहा ही ऐसा है, तो मैं क्या करूँ? और किसी पर ऐसा असर नहीं होता। आपके लोहे की वजह से ऐसा असर होता है। इसमें हमारा दोष नहीं है। आपके लोहे का दोष होगा। आप बेकार ही हमें क्यों डाँट रहे हो!' तो फिर वह खारी हवा गुनहगार सिद्ध नहीं होती। तब फिर हम कहते हैं कि बाहर वाला कोई गुनहगार नहीं लगता।

अर्थात् साइन्टिफिक सरकमस्टेन्शियल एविडेन्स। यह ज़ंग लोहे ने नहीं लगाया है। बाकी, लोहे में ज़ंग लगने का स्वभाव नहीं है। यदि ज़ंग लगने का स्वभाव होता न, तो आर.सी.सी. के अंदर डाले हुए लोहे को अगर सौ साल बाद भी निकाला जाए तो वे सलिये वैसे के वैसे ही रहते हैं। उसका स्वभाव ऐसा नहीं है। उसे ये दूसरे तत्त्व मिल जाएँ तो? आर. सी.सी. में जो है तोड़ो न! हमने तोड़ा हुआ है। पचास साल पहले डाले हुए सलिये भी तोड़े हैं। एक्ज़ेक्ट, जैसे आज खरीदने जाओ, वैसे। हं... इस पर से आपको समझ में आया कि मैं क्या कहना चाहता हूँ? कोई गुनहगार लगता है?

प्रश्नकर्ता : यों तो कोई गुनहगार नहीं दिखाई देता।

दादाश्री : फिर भी जिस प्रकार से लोहे पर ज़ंग दिखाई देता है, उसी प्रकार से यह संसार खड़ा हो गया है।

ज़ंग ही है अहंकार

यह आत्मा तो परमात्मा है। जिस तरह लोहे पर ज़ंग लग गया, किसी ने लगाया नहीं है, उसी प्रकार इसमें 'मैं कर्ता हूँ' ऐसी भ्रांति उत्पन्न हो गई है। आत्मा तो उसी दशा में है। आपमें जो आत्मा है न, वह तो मुक्त दशा में ही है। उसे कोई अज्ञानता नहीं हुई है। यह विशेष गुण उत्पन्न हो गया है। फिर भी आत्मा में कोई बदलाव नहीं हुआ है।

प्रश्नकर्ता : आपने यह जो उदाहरण दिया है, उसकी तुलना आत्मा के साथ कैसे हो सकती है?

दादाश्री : इस आत्मा के साथ यह जड़ तत्त्व है। ये दोनों इकट्ठे हो गए हैं न, इसलिए अहंकार उत्पन्न हो गया है।

प्रश्नकर्ता : उसी को ज़ंग कहते हैं?

दादाश्री : हाँ, जैसे उसमें ज़ंग लग गया था, उसी प्रकार यहाँ पर अहंकार उत्पन्न हो गया है। हम उस अहंकार को निकाल देते हैं, इसलिए वापस राह पर आ जाता है। हम दवाई लगाकर (आत्मज्ञान देकर) अहंकार निकाल देते हैं तो फिर हो जाता है, कम्प्लीट हो जाता है, फिर चिंता-वरीज़ कुछ नहीं होते।

प्रश्नकर्ता : इस उदाहरण में लोहे को आत्मा का प्रतीक मान रहे हैं न?

दादाश्री : हाँ, अर्थात् यह जो ऊपर लगा है न, वह विशेष भाव उत्पन्न हो गया है।

प्रश्नकर्ता : यदि पूरा संसार विशेष भाव है, तो इतना तो पता चलना चाहिए न कि, 'यह मैं खुद नहीं हूँ। यह विशेष भाव मेरा स्वरूप नहीं है, मेरा स्वरूप तो शुद्ध है'।

दादाश्री : उस पर कुछ असर ही नहीं हुआ है। हम जब आत्मज्ञान देते हैं तो शुद्ध हो जाता है। फिर, 'यह ज़ंग भी मेरा स्वरूप नहीं है और यह संयोग भी मेरा स्वरूप नहीं है। अहंकार ने झंझट करना बंद कर दिया न! अहंकार से यह संसार खड़ा हो गया है और आत्मज्ञान के बाद अहंकार बंद हो जाता है, वह अहंकार चला जाता है। यह तो आपका यह भरा हुआ (डिस्चार्ज) अहंकार बोल रहा है, उसे आप सचमुच का अहंकार मानते हो।

विशेष भाव से अहंकार उत्पन्न हुआ, फिर उसमें से प्रकृति उत्पन्न होती है। लोहा लोहे के भाव में है और प्रकृति, प्रकृति के भाव में है। इन दोनों को अलग कर दिया जाए तो लोहा लोहे की जगह पर है, प्रकृति, प्रकृति में है। जब तक एकाकार हैं तब तक ज़ंग बढ़ता ही रहेगा, दिनोंदिन।

इस मूल पुरुष को कुछ भी नहीं होता। 'खुद' (मैं) खुद के स्वभाव को भूल गया है, खुद का भान भूल गया है। जब तक वह खुद की जागृति में नहीं आ जाता तब तक 'वह' प्रकृति भाव में रहा करता है। प्रकृति अर्थात् खुद के स्वभाव की अजागृति और भ्रांति की जागृति, वह प्रकृति कहलाती है।

भोगने की मात्र मान्यता है

प्रश्नकर्ता : दादा! लोहा तो स्थूल चीज़ है, उसमें कोई शक्ति नहीं है जबकि आत्मा तो सर्व शक्तिशाली है। उसे किस प्रकार से ज़ंग लग सकता है?

दादाश्री : वह सर्व शक्तिमान स्वभाव में नहीं आया है। अन्य संयोगों के दबाव में है न! फिर भी खुद के गुणधर्म खोए नहीं हैं। विशेष गुणधर्म उत्पन्न हो गया है और उसमें से इगोइज़म उत्पन्न हो गया। दुःख कौन भुगतता है? इगोइज़म भुगतता है। सुख कौन भोगता है? इगोइज़म भोगता है। इसमें आत्मा बिल्कुल भी हाथ ही नहीं डालता। सबकुछ यह इगोइज़म ही भोगता है। इगोइज़म बुद्धि की सलाह से चलता है।

अब वास्तव में अहंकार सुख भी नहीं भोगता और दु:ख भी नहीं भुगतता, वह तो अहंकार ही करता रहता है।

प्रश्नकर्ता : जिस प्रकार लोहे पर ज़ंग लग गया उस प्रकार...

दादाश्री : जो ज़ंग लगा, वह तो आत्मा पर। आत्मा से लेना-देना है। यदि आत्मा लोहा है तो यह अहंकार ज़ंग है। लेकिन यह जो अहंकार कहता है कि, 'मैंने भोगा', वह उसने भोगा ही नहीं है। यह तो इन्द्रियों ने भोगा है और खुद अहंकार करता है कि 'मैंने भोगा है'। इसलिए कृष्ण भगवान ने कहा है कि 'इन्द्रिय, इन्द्रिय में बरतती हैं, तू किसलिए अहंकार कर रहा है?' और फिर स्वभाव से बरतती है। यह नहीं समझने की वजह से बेकार ही मार खाता रहता है। न तो कृष्ण भगवान को समझते हैं, न ही महावीर भगवान को समझते हैं। वे सही बताते हैं न! इसलिए सिर्फ बात को समझने की ज़रूरत है।

ज़ंग उत्पन्न होने के बाद लोहा लोहे का काम करता है और ज़ंग, ज़ंग का। लोहा ज़ंग में हाथ नहीं डालता, और वह ज़ंग लोहे में हाथ नहीं डालता। इसी प्रकार इसमें, इसमें कौन सा ज़ंग लगता है? वह अहंकार (मूल अहम्) और मन-बुद्धि-चित्त और अहंकार, अंत:करण रूपी ज़ंग लगता है। तो वे अपना कार्य करते रहते हैं। आत्मा, आत्मा का कार्य करता रहता है। जब तक यह (अंत:करण का) कार्य है तब तक आत्मा आइडल (उदासीन रूप से) प्रकाश ही देता रहता है। जब अंत:करण के सभी काम खत्म हो जाते हैं तब आत्मा का काम शुरू होता है। या फिर अंत:करण चल रहा हो और ज्ञानी मिल जाएँ और वे कहें कि 'अरे, तू यह नहीं है, तू इसे देख', तो देखना शुरू हो जाता है। वह जुदा हो जाता है। आप यदि देखते रहो कि 'चंदूभाई क्या कर रहे हैं' तो वह ज्ञान केवलज्ञान तक पहुँचेगा।

[७]

छः तत्त्वों के समसरण से विभाव

समसरण मार्ग में...

इस जगत् में सिक्स इटर्नल एलिमेन्ट्स हैं। और फिर ये छः तत्त्व समसरण वाले हैं। समसरण अर्थात् निरंतर परिवर्तनशील हैं। परिवर्तन होता है इसलिए ये जो छः तत्त्व हैं, उनके, एक-दूसरे के नज़दीक आने से सभी अवस्थाएँ उत्पन्न हो जाती हैं और उनके पास-पास आने पर (इकट्ठे होने पर) विशेष भाव उत्पन्न होता है। यहाँ से वहाँ बदलता ही रहता है। उसके आधार पर सभी विशेष भाव बदलते रहते हैं और उस वजह से सब नई ही तरह का दिखाई देता है। इस जगत् के जो 'मूल तत्त्व' हैं, वे 'स्वाभाविक' हैं। वे जब 'रिलेटिव' में आते हैं तब 'विभाविक' हो जाते हैं। एक तत्त्व दूसरे तत्त्व में मिलता नहीं है, सब अलग ही रहते हैं।

विधर्मी हुए हैं दो ही

प्रश्नकर्ता : जड़ और चेतन का जो संयोग हुआ और जो विशेष भाव उत्पन्न हुआ, तो उस संयोग के होने से पहले जड़ और चेतन दोनों अलग थे?

दादाश्री : पहले से इकट्ठे ही थे। ऐसा नहीं है कि पहले अलग थे। पहले से ऐसा ही है। जड़ व चेतन का संयोग है ही। ये सभी छः तत्त्व साथ में ही हैं। इनमें से इन्हें अलग किया जाए तो सब अपने-अपने गुणधर्मों में आ जाएँगे, वर्ना गुणधर्मों में नहीं आएँगे। ये छः तत्त्व साथ में ही हैं और सभी छः तत्त्वों में विधर्म आ गया है (विशेष धर्म प्रदर्शित

करते हैं), लेकिन इनमें से चार विधर्मी नहीं हैं। इनके साथ रहने के बावजूद भी स्वधर्म में रह सकते हैं जबकि *पुद्गल* (जो पूरण और गलन होता है) व आत्मा दोनों विधर्मी हो जाते हैं, बाकी के चार तो विधर्मी (विकृत) होते ही नहीं हैं।

प्रश्नकर्ता : तो आत्मा किस प्रकार से विधर्मी है?

दादाश्री : आत्मा विधर्मी अर्थात् उसे भ्रांति उत्पन्न हो गई है कि 'यह मैं कर रहा हूँ'। और *पुद्गल* परमाणु विधर्मी (प्रयोगसा परमाणु) यानी कि *पुद्गल* परमाणुओं में से खून नहीं निकलता, मवाद नहीं बनता। लेकिन *पुद्गल* परमाणुओं के रंग बदलते हैं। लाल-पीला-हरा सभी उसके गुणधर्म हैं। लेकिन इनमें जो गुणधर्म से बाहर हैं, वे (*पुद्गल* परमाणु के) विभाविक गुण (मिश्रसा परमाणु) हैं। जैसे कि मवाद बनता है और पकता है और ऐसा सब होता है। (विधर्मी और विभाविक *पुद्गल* अलग ही है।)

छः द्रव्य, नहीं हैं कम्पाउन्ड के रूप में

प्रश्नकर्ता : एक तत्त्व दूसरे तत्त्वों को कुछ भी नहीं कर सकता, तो यदि वे दो तत्त्व कम्पाउन्ड रूपी बन जाएँ तो दोनों के ओरिजनल गुणधर्म रहते हैं?

दादाश्री : ओरिजनल गुणधर्म रहते हैं, तभी अन्य किसी को कुछ नहीं कर सकते न! और वह कम्पाउन्ड नहीं बनता, मिक्स्चर के रूप में ही रहता है। उनमें से किसी के भी अपने गुणधर्म नहीं बदलते। मिलते हैं, टकराते रहते हैं, मिक्स्चर हो जाता है लेकिन कम्पाउन्ड नहीं बनता। कम्पाउन्ड बन जाए तो मैंने आपसे उधार लिया और आपने मुझसे उधार ले लिया, ऐसा हो जाएगा। किसी का किसी से लेना भी नहीं है और देना भी नहीं है। कोई झंझट नहीं है। सिर्फ मिलते हैं और अलग होते हैं। यदि कम्पाउन्ड बनता तो गुणधर्म बदल जाते। अन्य किसी में तो कम्पाउन्ड बनने का (गुण) है ही नहीं न, सिर्फ विभाविक *पुद्गल* में (उसके खुद के अंदर-अंदर) कम्पाउन्ड बनता है। यदि आप पर किसी

भी चीज़ का असर होता है तो फिर भगवान मिलेंगे ही नहीं न! (यह जो *पुद्‌गल* है, वह तत्त्व नहीं है।)

प्रश्नकर्ता : अनादि अनंत अर्थात् उसकी आदि भी नहीं है और अंत भी नहीं है, इटर्नल?

दादाश्री : हाँ, इटर्नल। वे सब स्वभाव से, सभी स्वाभाविक वस्तुएँ इटर्नल होती हैं और विभाव से, सभी विभाविक चीज़ें टेम्परेरी होती हैं।

संसार का कारण, छः द्रव्य हैं तो संसार बना है, नहीं तो नहीं बनता। छः द्रव्यों में से भी यदि *पुद्‌गल* नहीं बनता तो संसार बनता ही नहीं। संसार में जो कुछ पाँच इन्द्रियों से अनुभव किया जा सकता है, वह सब *पुद्‌गल* प्रभाव है, वर्ना चेतन में कुछ भी नहीं बिगड़ सकता था।

प्रश्नकर्ता : *पुद्‌गल* ने ही यह सब किया है?

दादाश्री : इस *पुद्‌गल* के रूपी भाव के कारण विशेष भाव उत्पन्न हो गया।

पुद्‌गल खुद ही विशेष परिणाम है

प्रश्नकर्ता : अब यदि आत्मा निर्लेप है, आत्मा असंग है तो उस पर जड़ वस्तु के गुण लगते हैं क्या?

दादाश्री : हाँ, असंग ही है न। आपका आत्मा निर्लेप ही है। सभी का आत्मा, जीवमात्र का आत्मा निर्लेप ही है और यह जो हुआ है वह वैज्ञानिक असर है।

प्रश्नकर्ता : इस *पुद्‌गल* में से आत्मा अलग हो जाए तो ये जो क्रोध-मान-माय-लोभ हैं, तो दूसरे पाँच तत्त्वों में से कौन से तत्त्व में मिल जाते हैं?

दादाश्री : किसी भी तत्त्व में नहीं मिलते। उसी को भगवान ने *पुद्‌गल* कहा है।

प्रश्नकर्ता : उसी को विशेष परिणाम कहा जाता है?

दादाश्री : हाँ, विशेष परिणाम। लेकिन वे *पुद्गल* के माने जाते हैं, आत्मा के नहीं माने जाते। यह *पुद्गल* तो तत्त्व है ही नहीं। ये परमाणु तत्त्व हैं।

प्रश्नकर्ता : तो *पुद्गल* विशेष परिणाम है?

दादाश्री : *पुद्गल* तो, विशेष परिणाम है। परमाणुओं से *पुद्गल* बना। *पूरण* हुआ। उसका वापस *गलन* होगा। *गलन* हुआ, *पूरण* होगा। *पूरण* हुआ तो *गलन* होगा। आत्मा के विशेष परिणाम के कारण इस विशेष परिणाम का आभास होता है। हम दर्पण के सामने जो कुछ भी करते हैं, सामने उतना ही परिणाम पता चलता है न! उसी प्रकार से ये सारे विशेष परिणाम उत्पन्न होते हैं।

ज्ञानी नज़रों से देखकर कहते हैं...

प्रश्नकर्ता : आत्मा को भाव तो होता ही नहीं है न?

दादाश्री : होता नहीं है, फिर भी उसका माना जाता है न! *उपाधि* (बाहर से आने वाला दुःख, परेशानी) भाव की वजह से माना तो जाता है न! वह उत्पन्न होता है। उसमें क्रोध-मान-माया-लोभ हैं नहीं लेकिन फिर भी उत्पन्न होते हैं। वे *उपाधि* भाव, वे तो व्यतिरेक गुण हैं।

प्रश्नकर्ता : यानी कि आत्मा से लिपटे हुए हैं वे। उन्हें संबोधित करके अथवा उनके कनेक्शन में यह बात हो रही है न?

दादाश्री : विशेष गुण हैं वे।

दोनों के मिलने से तीसरा गुण उत्पन्न हो गया। यह मैंने अपनी नज़रों से देखा है कि यह विशेष भाव से उत्पन्न हुआ है और आज के साइन्टिस्टों को यह समझ में आ सकेगा कि 'आपकी बात करेक्ट है'।

प्रश्नकर्ता : तो क्या आज के साइन्टिस्ट इतने होशियार हो गए हैं?

दादाश्री : होशियार यानी कि वे इस पद्धति से कहते हैं, पौद्गलिक में, भौतिक में कहते हैं। इस (आध्यात्मिक) पद्धति को नहीं जानते। भौतिक में जस्ता जस्ते के गुणधर्म में रहता है। लोहा लोहे के गुणधर्म में रहता है लेकिन दोनों के साथ में रखने से एक तीसरा नया गुणधर्म उत्पन्न हो जाता है।

पहली बार जब ज़मीन पर बरसात होती है न, तब ज़मीन में से खूश्बू आती है क्योंकि दो चीज़ें एक साथ आई इसलिए तृतियम् हो गया, विशेष परिणाम। उसी प्रकार से यह विशेष परिणाम है।

फिर कर्म बंधन होते समय छः तत्त्व हैं

प्रश्नकर्ता : जड़ और चेतन के सानिध्य से यह विशेष भाव हो जाता है। हम ऐसा कहते हैं न! तो वास्तव में क्या ऐसा नहीं कह सकते कि छः तत्त्वों के सानिध्य से विशेष भाव उत्पन्न होता है?

दादाश्री : नहीं, ऐसा नहीं है। दो से ही भ्रांति उत्पन्न होती है लेकिन बाकी के चार तत्त्व हेल्प करते हैं उसमें।

प्रश्नकर्ता : हाँ! लेकिन जब विशेष भाव उत्पन्न होता है तब क्या अन्य तत्त्वों की ज़रूरत पड़ती हैं?

दादाश्री : विभाव की शुरुआत इन दोनों से होती है और छः तत्त्वों से, कर्म होते समय वे छः तत्त्व इकट्ठे हो जाते हैं। ऐसा है न, फिर जब वह कर्म होता है तो उसकी ज़रूरत का सबकुछ वहाँ मिल जाता है।

प्रश्नकर्ता : लेकिन विशेष भाव होने में तो दो ही हैं न?

दादाश्री : दो की ही ज़रूरत है। दो हों तो भी बहुत हो गया।

प्रश्नकर्ता : उसके लिए छः की ज़रूरत नहीं है?

दादाश्री : बाकी सभी की ज़रूरत नहीं है, बाकी सब मिल जाते हैं। ये रूपी और अरूपी, यह चेतन अरूपी है और यह जड़ रूपी है, तो इन दोनों के संयोग से यह उत्पन्न होता है।

प्रश्नकर्ता : हाँ, वह उत्पन्न होता है न तुरंत ही।

दादाश्री : और फिर अन्य तत्त्व मिल आते हैं। लेकिन वह तत्त्व विभाव होने में मदद नहीं करते। वे हैं तो सही लेकिन उदासीन भाव से हैं। ये दो तत्त्व तो, दोनों विकृत हो जाते हैं। दोनों से प्रकृति उत्पन्न होती है। यह जो *पुद्गल* है, तो जिसे हम पावर वाला कहते हैं, मिश्रचेतन कहते हैं, वह सारा विकृत *पुद्गल* है और यह जो व्यवहार आत्मा है, वह विकृत आत्मा है। इन सब के मिलने से ही यह सब हुआ है। वास्तव में आत्मा तो वैसा नहीं है, वास्तव में *पुद्गल* भी वैसा नहीं है। यह विकृति खड़ी हो गई है।

दुनिया में किसी करने वाले की ज़रूरत नहीं है। इस जगत् में जो चीज़ें हैं, वे निरंतर परिवर्तनशील हैं। उनके आधार पर सभी भाव बदलते ही रहते हैं और सबकुछ नई ही प्रकार का दिखाई देता है। छ: मूल वस्तुओं में से जब जड़ और चेतन, ये दोनों सामीप्य में आते हैं तब विशेष परिणाम उत्पन्न होता है। बाकी के चार तत्त्व कहीं भी, किसी भी प्रकार से सामीप्य में आएँ तब भी उन पर कोई असर नहीं होता।

वे चारों उदास (उदासीन) भाव से हैं। जिसे जो करना हो, चोरी करनी हो, उसकी भी उदास भाव से हेल्प करते हैं और जिसे दान देना हो, उसकी भी हेल्प करते हैं। अत: उन्हें खुद का नहीं करना है। वे चारों हेल्पिंग हैं, लेकिन ये दो ही मुख्य हैं, जड़ और चेतन।

नहीं कोई किसी के विरुद्ध

प्रश्नकर्ता : दोनों तत्त्व विरुद्धधर्मी हैं, इसके बावजूद भी किस प्रकार इकट्ठे रह सकते हैं?

दादाश्री : विरुद्धधर्मी नहीं हैं, उनके अपने धर्म अलग है। विरुद्धधर्मी कोई भी नहीं है। आमने-सामने कोई विरोध नहीं है। साथ में रह सकते हैं, सबकुछ कर सकते हैं लेकिन उनके अपने धर्म अलग हैं। हर एक का स्वतंत्र धर्म हैं। कोई किसी में कोई रुकावट नहीं डाल

सकता, ऐसे हैं ये धर्म। कोई किसी की हेल्प नहीं कर सकता, कोई किसी में दखल नहीं कर सकता, ऐसे धर्म वाले हैं।

प्रश्नकर्ता : यहाँ पर एक और प्रश्न है कि क्या ये दोनों तत्त्व एक-दूसरे की हेल्प कर सकते हैं?

दादाश्री : कुछ भी नहीं कर सकते। किसी का किसी से कोई संबंध ही नहीं है, फिर किस प्रकार से कर सकेंगे?

प्रश्नकर्ता : मिश्रण के रूप में साथ रहते हैं न या अन्य किसी प्रकार से रहते हैं?

दादाश्री : नहीं! कोई हेल्प नहीं करता। कोई किसी के लिए कुछ नहीं करता, निमित्त हैं। उनकी वजह से ही यह *उपाधि* (बाहर से आने वाला दु:ख, परेशानी) हुई है। कोई *उपाधि* नहीं करता। नहीं तो उपकार चढ़ता और यदि उपकार चढ़े तो उस उपकार को चुकाने कब आओगे? संयोग संबंध है और फिर ये संयोग वियोगी स्वभाव के हैं।

अक्रम ज्ञान, वह है चेतन का

प्रश्नकर्ता : कर्म के उदय में जो व्यतिरेक गुण आए हैं, वे दोनों जब अलग होते हैं तब *पुद्‌गल* के परमाणु *पुद्‌गल* में मिल जाते हैं? *पुद्‌गल* परमाणुओं का क्या होता है? जब *पुद्‌गल* से अलग होते हैं तब?

दादाश्री : फिर *पुद्‌गल, पुद्‌गल* में रहता है। *पुद्‌गल* को फिर व्यवस्थित कह देते हैं और चेतन, चेतन में, दोनों अपने-अपने स्वभाव में।

प्रश्नकर्ता : तो यह जो दादा का ज्ञान है, वह कौन सा गुण कहलाता है? व्यतिरेक गुण कहलाता है?

दादाश्री : जिन दो चीज़ों के मिलने से व्यतिरेक गुण उत्पन्न हुए थे, तो जब 'यह' ज्ञान मिलता है, तब दोनों को अलग कर देता है तो वे चले जाते हैं। अहंकार और ममता दोनों चले जाते हैं।

प्रश्नकर्ता : यह ज्ञान व्यतिरेक गुण में आता है या चेतन में आता है ? किसमें आता है ?

दादाश्री : ज्ञान किसी में भी नहीं आता। ज्ञान तो जो जैसा था, उसे वैसा ही कर देता है।

प्रश्नकर्ता : आप जो देते हैं, वह ज्ञान जड़ का है या चेतन का? कहाँ से आया यह ज्ञान?

दादाश्री : कम्प्लीट चेतन का।

प्रश्नकर्ता : लेकिन व्यतिरेक के तौर पर ही है न? यह चेतन का ज्ञान भी व्यतिरेक गुण सहित है ?

दादाश्री : ऐसा नहीं है। यह व्यतिरेक नहीं है। यह तो आत्मा का गुण है!!! दादा का दिया हुआ ज्ञान, वह तो 'आत्मा के गुण' कहलाते हैं। उसका प्रवेश होते ही यह सबकुछ तुरंत ही चला जाता है।

विभाव अनादि से हैं

प्रश्नकर्ता : उस विशेष भाव में तत्त्व आते हैं क्या?

दादाश्री : हाँ, तत्त्व हैं और तत्त्व भी निराले हैं। उससे (विभाव से) अलग रहते हैं।

प्रश्नकर्ता : अत: जब आत्मा और जड़ का विशेष भाव होता है, तो ये बाकी के तत्त्व साथ में रहते हैं ?

दादाश्री : मूल रूप से (मुख्य) तो जो विशेष भाव हो गया है वह है, वहीं से चलता रहता है।

प्रश्नकर्ता : तभी से दूसरे तत्त्व भी साथ में ही हैं ?

दादाश्री : सब साथ में ही हैं। उनमें कोई बदलाव हुआ ही नहीं है। फिर यह चक्कर चलता ही रहता है।

प्रश्नकर्ता : और *पुद्‌गल* (जो पूरण और गलन होता है) में जो

विशेष भाव शुरू हुआ, उसका कोई समय तो होगा न? उसका समय होता तो क्या उसकी प्राप्ति नहीं की जा सकती, लाखों, करोड़ों अरबों... साल?

दादाश्री : 'विशेष भाव' तो समझाने के लिए कह रहे हैं वर्ना दशा अनादि है।

नहीं है दोष इसमें किसी का

प्रश्नकर्ता : दादाजी, ये जो छः तत्त्व हैं और 'व्यवस्थित' नाम की जो शक्ति है, वह छः तत्त्वों से बाहर है या अंदर?

दादाश्री : वह छः तत्त्वों के अंदर ही है, छः तत्त्वों से बाहर तो कोई वस्तु है ही नहीं।

प्रश्नकर्ता : 'व्यवस्थित' नाम की जो शक्ति है, उसका समावेश कौन से तत्त्वों में होता है?

दादाश्री : वह तत्त्व नहीं है। तत्त्वों के अंदर है। वह कोई तत्त्व नहीं है। और यदि किसी को तत्त्व कहना हो, तो उसे *पुद्गल* कहना पड़ेगा। *पुद्गल* तत्त्व नहीं है। परमाणु, वह तत्त्व है और आत्मा, वह भी तत्त्व है। *पुद्गल* तत्त्व नहीं माना जाता। *पुद्गल* उसका (तत्त्व का) विभाविक परिणाम है, विशेष परिणाम है। *पुद्गल* मात्र विशेष परिणाम है। व्यवस्थित भी विशेष परिणाम है।

प्रश्नकर्ता : अर्थात् यह जो व्यवस्थित है, क्या वह छः तत्त्वों का खेल है?

दादाश्री : जैसे कि जब 2 H और O मिलते हैं तो इसमें किसी का भी खेल नहीं है। वे जब मिलते हैं तब उनका स्वभाव वैसा ही हो जाता है। उसी प्रकार जब ये तत्त्व एक-दूसरे के संसर्ग में आते हैं तब ऐसा रूप बन ही जाता है। किसी को बनाने की ज़रूरत नहीं पड़ती।

प्रश्नकर्ता : होता ही रहता है? इट हैपन्स?

दादाश्री : विज्ञान से यह संसार बना है, पूरा ही।

संसार जिन दोषों से भरा हुआ है, वह वस्तुओं के संसर्ग दोष की वजह से है! 'ज्ञानी पुरुष' उस संसर्ग दोष से अलग कर देते हैं। उसके बाद दोनों अपने-अपने गुणों में रहते हैं। जिस प्रकार चिड़िया दर्पण में चोंच मारती रहती है, लेकिन समय परिपक्व होने पर वह बंद हो जाता है। उसी प्रकार दर्पण का संसर्ग दोष लगने से उसमें आपके जैसे ही दूसरे 'प्रोफेसर' दिखाई देते हैं न!

यह संसार भाव आत्मा का गुणधर्म नहीं है, यह *पुद्गल* का गुणधर्म भी नहीं है। *पुद्गल* को भी यह संसार भाव अच्छा नहीं लगता। यह उसके काम ही नहीं आता न! आत्मा के भी काम नहीं आता। लेकिन दोनों के मिलने से यह विशेष भाव उत्पन्न हो गया। इसमें आत्मा का भी दोष नहीं है और *पुद्गल* का भी दोष नहीं है। किसी का भी दोष नहीं है।

नियति का स्थान

प्रश्नकर्ता : खुद आत्मा है इसके बावजूद भी बाकी के जो पाँच तत्त्व हैं, वे इस पर प्रभाव डाल देते हैं इसलिए व्यतिरेक गुण उत्पन्न हो जाते हैं?

दादाश्री : नहीं! ऐसा है ही नहीं कि कोई किसी पर किसी भी प्रकार का प्रभाव डाल सके। यदि कोई प्रभाव डाल दे न, तो वह बलवान कहलाएगा, लेकिन सभी समान हैं। ऐसा नहीं है कि कोई किसी में दखल कर सके। ऐसा नहीं है कि कोई किसी का नाम ले सके।

प्रश्नकर्ता : वह सामीप्य भाव भी नियति के अधीन है?

दादाश्री : सामीप्य भाव? इसी को नियति कहते हैं,* इस सारे भाग को नियति कहा जाता है। यह क्या है या किसके अधीन है? तो कहते हैं कि, 'नियति के अधीन है'। 'तो क्या यह जो नियति है वह पक्षपाती धर्म वाली है?' तो कहते हैं, 'नहीं, निष्पक्षपाती है'। वीतराग

*नियति के लिए सत्संग आप्तवाणी-११ (पू.) गुजराती का पेज-२७० से ३३०

का गुनाह नहीं है। पक्षपाती धर्म वाला हो तब लगता है कि भाई! यह इसका पक्ष ले रहा है लेकिन वह वीतराग है। कैसी पज़ल है यह! नहीं?

यह जगत् निरंतर परिवर्तनशील है। एक परमाणु भी, टाइम-वाइम (काल-समय) सबकुछ निरंतर परिवर्तित ही होता रहता है। अत: नियति पर तो मैंने बहुत खोज की है कि क्या यह वास्तव में एक्ज़ेक्ट नियति की वजह से ही है? वह तो बल्कि अंदर मार खिलाती है क्योंकि नियति कहती है कि, 'यह सब मेरा स्वरूप है' वह तो बल्कि मार खिलाती है! लेकिन कोई किसी का *ऊपरी* नहीं है, ऐसा है यह जगत्।

प्रश्नकर्ता : जो व्यतिरक गुण उत्पन्न हुए, वे साइन्टिफिक सरकमस्टेन्शियल एविडेन्स में हैं या एक अलग ही भाग हैं?

दादाश्री : साइन्टिफिक सरकमस्टेन्शियल एविडेन्स के आधार पर ही यह सब हुआ है। फिर भाप बनी और उससे बादल बने, बादल बने तो बरसात हुई, बरसात हुई तो फिर भाप बनी, यह सारी उठा-पटक चलती ही रहती है।

विभाव, अधिक विस्तारपूर्वक

अब आपको एक उदाहरण देता हूँ कि व्यतिरेक गुण किसे कहते हैं? ये व्यतिरेक गुण किस प्रकार से उत्पन्न होते हैं, वह बताता हूँ। अब यह जो पानी है, जो बरसात होती है, ऊपर जो H2O बनता है, वह कहाँ से लाए? तो कहते हैं कि यह जो समुद्र है, समुद्र में से भाप बनती है और ऊपर जाती है। तो यह भाप किसने बनाई? इतना बड़ा समुद्र है, सभी लोग जानते हैं कि समुद्र में से ही भाप बनती है। नहीं? यदि हम दूरबीन या ऐसे किसी साधन से सूक्ष्म प्रकार से देखें तो दिन भर समुद्र में से धीरे-धीरे भाप निकलती ही रहती है। क्योंकि सूर्य के समुद्र पर आते ही समुद्र में से भाप बननी शुरू हो जाती है। सूर्य चला जाए तो कुछ भी नहीं रहेगा।

जैसे समुद्र और सूर्य दोनों के मिलने पर भाप बनती है, बनती है या नहीं? सूर्य के आने पर भाप बनती है न? अत: साइन्टिस्ट कहते हैं

कि बेहद भाप बन रही है इस समुद्र में से। तब अगर हम समुद्र से कहें कि, 'तू भाप क्यों बना रहा है?' तो समुद्र क्या कहेगा?

प्रश्नकर्ता : अपने आप ही हो रहा है यह।

दादाश्री : अपने आप कैसे हो सकता है? अब उसके लिए कौन गुनहगार है? इसमें समुद्र गुनहगार है या सूर्य गुनहगार है? किसके गुनाह से यह भाप बनी? समुद्र के पानी से जो भाप बनी, वह? तब एक दिन यदि हम इस समुद्र को डाँटें कि 'तू भाप क्यों बनाता है यहाँ पर? बेकार ही दखल करता है। अब यहाँ पर भाप मत बनाना। तुझे बिल्कुल भी भाप नहीं बनानी है। तेरी बात तू जाने! देखना अगर भाप बनाई तो'! समुद्र में से भाप निकलती है, जिससे कि ये बादल बनते हैं इसलिए हम समुद्र को ब्लेम करते हैं कि 'तू भाप निकालना बंद कर दे'। तब समुद्र हम से क्या कहेगा 'अरे, मुझ पर रौब मत जमा। यह मैं नहीं कर रहा हूँ और तुम बेकार ही मुझ पर आक्षेप लगा रहे हो। मैं तो निमित्त हूँ, मैं कुछ भी नहीं बनाता'। तब भी हम कहते हैं कि 'अरे, निरी भाप ही बन रही है न?'

प्रश्नकर्ता : पता लगाना चाहिए कि किससे हुआ?

दादाश्री : तब हम उलझन में पड़ जाते हैं कि यह समुद्र नहीं निकाल रहा है तो अन्य किसी कारण से होना चाहिए। तो भाई, यह कौन कर रहा है? हू इज़ रिस्पोन्सिबल? (कौन ज़िम्मेदार है?)

तब हमें पता चलता है कि ओहो! यह समुद्र का गुण नहीं है। सूर्य की ही झंझट है यह सारी। ऐसा समझ जाते हैं न हम? तो हम किसे गुनहगार मानेंगे? सूर्य को मानेंगे। तो यदि समुद्र यह नहीं कर रहा है तो क्या इसका मतलब यह कि सूर्य गुनहगार है? सूर्य था, तो उसने भाप बनाई है। यह समुद्र का गुण नहीं है। तब हमें वहम होता है कि यह सूर्य का ही काम है लेकिन सूर्यनारायण और समुद्र, दोनों एक साथ हों तभी भाप बनती है। तो यह किसकी शक्ति से होता है?

प्रश्नकर्ता : यह भाप तो सूर्य की गर्मी और पानी में से उत्पन्न होती है? अर्थात् ऐसा कहा जाएगा कि दोनों की शक्ति से भाप बनी।

दादाश्री : लेकिन इसमें कर कौन रहा है?

प्रश्नकर्ता : यों कहें तो कुदरत और यों कहें तो सूर्य की गर्मी से।

दादाश्री : सूर्य करता है। नहीं? सूर्य को कर्ता कहेंगे? तो हमें समझ में आता है कि इसके लिए सूर्यनारायण ही ज़िम्मेदार हैं। ये सूर्यनारायण ही ऐसा कर रहे हैं। वे ही रिस्पोन्सिबल होने चाहिए। तब हम सूर्यनारायण को ब्लेम करते हैं। सूर्यनारायण से पूछते हैं, 'अब तू यहाँ पर क्यों इस समुद्र में से भाप बना रहा है?' तो वह भी निडरता पूर्वक कहता है 'मैं तो नहीं कर रहा हूँ, मुझ पर आक्षेप मत लगाओ'। 'क्यों? इस समुद्र में से तू ही भाप निकाल रहा है'। तो सूर्य कहेगा कि, 'यह मेरा गुण नहीं है। निमित्त के तौर पर भले ही मैं दिखाई देता हूँ लेकिन यह गुण मेरा नहीं है'। 'तो किसका गुण है? तब फिर तेरे अलावा अन्य कौन कर रहा है ऐसा? तो तूने भाप क्यों बनाई?' तब वह कहता है, 'देखो मुझसे इस तरह बात मत करना, मैं नहीं कर रहा हूँ'। तब यदि पूछें कि 'और कौन कर रहा है? जब तू नहीं होता तब इस समुद्र में से भाप नहीं बनती। तू रहता है तभी भाप बनती है'। तब वह कहता है, 'यदि मैं भाप बना रहा होता तो प्लॉट (ज़मीन) पर भी बनती। प्लॉट पर कुछ भी नहीं होता। इसलिए मैं इसका कर्ता नहीं हूँ। भाई, यदि मैं कर रहा हूँ तो मैं तो इन पत्थरों पर भी घूमता हूँ, वहाँ तो नहीं बनती। यदि मैं कर रहा होता तो इस रोड पर भाप बनती और पहाड़ों पर भी भाप बनती न? अत: यह भाप मैं नहीं बनाता हूँ'।

सूर्य तो अपनी दिशा में से उगता है और अस्त हो जाता है, इससे इसे कोई लेना-देना नहीं है। अत: यह भाप निकालने का गुण सूर्य का भी नहीं है और इस समुद्र का भी नहीं है। भाप, वह तो व्यतिरेक गुण उत्पन्न हो गया है। सूर्य भी वह नहीं करता है और समुद्र भी नहीं करता लेकिन इन दोनों के इकट्ठे होने से हर एक का अपना गुणधर्म तो उसमें साबुत रहता है और नया व्यतिरेक गुण उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार से ये सब उत्पन्न हो गया है। सूर्य नमित्त है, समुद्र निमित्त है। आत्मा को कुछ भी नहीं करना पड़ता।

वैज्ञानिक हैं न! भाप के लिए ऐसा तो नहीं कह सकते न कि यह सूर्य का गुण है लेकिन ऐसा भी नहीं कह सकते कि समुद्र का गुण है?

इसके लिए कोई एक्ज़ेक्ट उदाहरण नहीं मिल पा रहे लेकिन यह तो मैं आपको आइडिया देने के लिए कह रहा हूँ। एक्ज़ेक्ट उदाहरण नहीं मिल सकते। अविरोधाभासी उदाहरण नहीं मिल सकते लेकिन अन्य कोई उदाहरण नहीं दिए जा सकते। इस प्रकार उसमें विशेष गुण उत्पन्न होता है।

सूर्य और समुद्र, दोनों के मिलने से भाप का विशेष भाव उत्पन्न हुआ। जब ये दोनों अलग हो जाएँगे तो विशेष भाव बंद हो जाएगा। सादी बात है न!

दरअसल तीर्थंकरों के हृदय में, जो चौबीस तीर्थंकरों ने कही थी, वही बात है यह। वह शायद पुस्तकों में हो या न भी हो यानी कि पुस्तकों में शायद यह बात लिख भी न पाए हो। लिखने के लिए तरीके की ज़रूरत है। जबकि मैं तो इसे उदाहरण देकर समझा रहा हूँ।

प्रश्नकर्ता : आपके उदाहरण तो बहुत ग़ज़ब के हैं। यह समुद्र भाप निकालता है, यह उदाहरण इस सिद्धांत को समझने के लिए बहुत ही ग़ज़ब का है।

दादाश्री : यहीं पर रुक जाते हैं लोग। लोगों के सिद्धांत वहीं पर रुक जाते हैं कि ये कह रहे हैं कि 'भगवान की इच्छा हुई कि मैं प्रकट करूँ' और कितनों ने ऐसा कहा, 'नहीं-नहीं इच्छा नहीं हुई', भगवान 'एकोहम बहुस्याम' हो गए हैं, लोग ऐसा मानते हैं लेकिन वैज्ञानिक नज़रिये से तो ये सब विशेष परिणाम हैं।

प्रश्नकर्ता : दादा, यदि ऐसा तो नहीं है कि ये लोग भूल-भुलैया में पड़ जाएँगे, इसलिए यह रास्ता, यह दरवाज़ा ही बंद कर दिया कि तुम इससे आगे मत जाना। भगवान ने बनाया है इसलिए अब बंद कर दो आगे जाना।

दादाश्री : जा ही कौन रहे थे? शक्ति ही नहीं है। इसलिए वहाँ

पर बंद हो गया, ऑटोमैटिक, और फिर उससे आगे वे जा नहीं पाए। साधु-संत कुछ दूर तक गए और फिर कह दिया, 'यह हो गया, भगवान ने बना दिया, यह सब भगवान चलाता है'। अत: व्यवहार शुरू हो गया साधु महाराजों का। जैसे कि भगवान के घर की सारी बात साधु महाराज जानते हों कि, 'घर चल रहा है या नहीं चल रहा, भगवान का खर्च चल रहा है या नहीं चल रहा? खर्चा पूरा पड़ता है या नहीं?' वह सारी बातें फिर उलझन भरी ही रहीं।

यहाँ अक्रम विज्ञान में पूरा सिद्धांत पता चल गया है, पूरा सिद्धांत। होल (पूरा) सिद्धांत वैज्ञानिक भाषा में निकला है, अविरोधाभास। यह तो पूरा यह विभाव, सभी ने विभाव कहा है। लेकिन मैं तो बहुत सोचता था, 'अरे! यह विभाव किस तरह से होता है? इस प्रकार वापस आत्मा का विभाव कहते हैं और यों वापस कहते हैं कि, शास्त्र कहते हैं कि आत्मा के व्यतिरेक गुण हैं ये'। यह सारी लट्ठबाज़ी चली।

प्रश्नकर्ता : अब स्पष्ट होता जा रहा है, दादाजी।

दादाश्री : स्पष्ट हो रहा है न? समाधान होना चाहिए।

प्रश्नकर्ता : समाधान हो जाता है, दादाजी।

दादाश्री : हाथी के अंदर बैठकर भगवान ने उसे बनाया। इसे किस प्रकार से, किसने बनाया है? यह अनुपचारिक है।

प्रश्नकर्ता : अर्थात् सब अनुपचारिक ही होता है न!

दादाश्री : हाँ।

प्रश्नकर्ता : सर्वस्व अनुपचारिक है?

दादाश्री : अनुपचारिक है।

प्रश्नकर्ता : और सभी को अनुपचारिक समझने वाला ही सहज हो सकता है न?

दादाश्री : क्या और कोई चारा है? इसमें से निकलना हो तो वही

रास्ता है। लेकिन पूरी दुनिया ऐसा ही समझती है, छोटा बच्चा भी उपचार समझ जाता है कि 'मैंने क्रिकेट खेला, मैं जीत गया'।

नहीं है कर्ता कोई जगत् में

आत्मा और *पुद्गल* के इकट्ठे होने से ऐसा जो हुआ है, उसके लिए शास्त्रकारों ने ऐसा कहा है कि, '*उपाधि* (बाहर से आने वाला दु:ख, परेशानी) स्वरूप उत्पन्न हो गया'। हमने उसे विशेष भाव कहा है। हम वास्तविक रूप से जैसा है वैसा बताते हैं। समझ में आए इसलिए बताया है कि यह विशेष ज्ञान है। खुद का ज्ञान तो है ही, उसके आगे का यह विशेष ज्ञान है। इसलिए यह संसार खड़ा हो गया है। फिर चला संसार! लेकिन अब यदि इससे जी भर गया हो तो ऐसा कुछ करो कि विशेष ज्ञान छूट जाए। यानी कि आपका ज्ञान तो है ही। आपके ज्ञान की पूँजी कम नहीं हुई है, एक चार आने जितनी भी।

समुद्र और सूर्य जैसी स्थिति से यह जगत् उत्पन्न हुआ है। किसी ने बनाया नहीं है। नैमित्तिक भाव है। यह समुद्र भी निमित्त है और सूर्य भी निमित्त है। सभी के संयोग स्वभाव की वजह से यह हो गया है। जब समुद्र और सूर्य, ये दोनों इकट्ठे होते हैं तब ऐसा हो जाता है लेकिन नैमित्तिक कर्ता। जब यह समझ जाओगे कि वास्तव में इस दुनिया में कोई कर्ता नहीं है तब इस दुनिया के सभी दु:ख चले जाएँगे। नहीं तो दु:ख कैसे जाएँगे। पागल जैसी बातें समझेंगे तो फिर सुख मिलेगा क्या? अगर हम मौसी को 'माँ-माँ' करेंगे तो फिर वहाँ पर माँ तो रह ही जाएगी। इसमें क्या मज़ा आएगा? मज़ा आएगा इसमें? यह वैसा ही करता रहता है। माँ को माँ की तरह से पहचानेंगे और मौसी को मौसी की तरह। उसमें कुछ मज़ा आएगा! तो कहते हैं, 'वे नहीं हैं मेरी'। इन सब को पहचानना नहीं चाहिए? अत: साइन्टिफिक प्रकार से पूरा रिज़ल्ट (परिणाम) देखकर सही बात बता रहा हूँ। इसमें सिर्फ शास्त्र की ही बात नहीं है पूरा रिज़ल्ट देखकर बता रहा हूँ और त्रिकाल सही बात है यह। यानी ऐसी बात है कि भविष्य में इसे कोई काट नहीं सकता। इसमें छपी हुई हैं ये सारी बातें। इसीलिए सभी पुस्तकें छप गई हैं और जगत् का कल्याण होना ही चाहिए।

हम क्या करते हैं? आत्मा और *पुद्गल,* दोनों को अलग कर देते हैं जिससे वे गुण बंद हो जाते हैं। विज्ञान है यह तो, विज्ञान है। महावीर भगवान का विज्ञान! चौबीस तीर्थंकरों का विज्ञान है यह!

भगवान की उपस्थिति से उत्पन्न जगत्

आत्मा के बिना कभी शरीर चल सकता है क्या? यह पूरी मशीन?

प्रश्नकर्ता : नहीं चल सकता। अंदर आत्मा है तभी चल रहा है न, यह! वर्ना राम बोलो भाई, राम!

दादाश्री : अब इसी प्रकार से आत्मा में चलने का गुण नहीं है। आत्मा की उपस्थिति है तो यह सब चल रहा है, हुकम से नहीं। जैसे कि भगवान महावीर की उपस्थिति में बाघ और बकरी दोनों साथ में पानी पीते थे लेकिन क्या अन्य किसी की उपस्थिति में बाघ और बकरी पानी पीते हैं?

प्रश्नकर्ता : नहीं! नहीं पीते।

दादाश्री : वहाँ भगवान की उपस्थिति में वे अपना स्वभाव भूल जाते हैं। बकरी अपना डरने का स्वभाव भूल जाती है और बाघ अपना हिंसक भाव भूल जाता है।

अतः यह जगत् भगवान की उपस्थिति से उत्पन्न हो गया है। भगवान ने कुछ किया नहीं है। उनके निमित्त से, उपस्थिति का मतलब क्या है कि अभी मैं यहाँ पर बैठा हूँ न, और मान लो एक व्यक्ति अंदर आया और आकर यहाँ घुस गया। अगर उसके पीछे-पीछे दूसरा व्यक्ति उसे मारने आए तो मारने वाला व्यक्ति मारते-मारते जब यहाँ तक पहुँचेगा तो यहाँ मुझे देखकर एक बार तो वह खुद के स्वभाव को भूल जाएगा, मारने की बात भूल जाएगा, शांत हो जाएगा। अब इसमें मैंने उससे कुछ भी नहीं कहा है। वह कुछ भी नहीं जानता। अपने आप ही ऑटोमैटिक सब हो जाता है। यदि यह वहाँ पर बाहर होता तो उसे मार ही देता।

मारने वाला तो यहाँ पर उसका नाम तक नहीं लेगा। मैंने उसे मना

नहीं किया है फिर भी मेरी उपस्थिति से उसके मन के प्रवर्तन में ऐसा सब परिवर्तन हो जाता है।

प्रश्नकर्ता : भाव बदल जाते हैं।

दादाश्री : इसमें क्या मैंने कुछ किया है? कुछ न कहा हो फिर भी काम हो जाता है। बस, यह विज्ञान तो भगवान की उपस्थिति से हो गया है न! ज्ञान से यह जगत् खड़ा हो गया है और चलता रहता है। और वह मैं खुद देखकर बोल रहा हूँ। इसमें बिल्कुल भी गप्प नहीं है।

सिर्फ तीर्थंकर ही जानते थे यह कला। भगवान ने इस जगत् को बनाने में कुछ भी नहीं किया है। वे तो सिर्फ निमित्त हैं। भगवान की उपस्थिति को लेकर यह पूरा 'साइन्स' चल रहा है!

'साइन्टिफिक' सिद्धांत क्या है? भगवान की उपस्थिति से 'रोंग बिलीफ' उत्पन्न होती है। भगवान की उपस्थिति से संसार बंद हो जाता है। भगवान की उपस्थिति से परमात्मा पद मिल जाता है।

[८]

क्रोध-मान से 'मैं', माया-लोभ से 'मेरा'

'मैं' बढ़ा आगे...

विशेष भाव में क्या हुआ? कि ''मैं कुछ हूँ' और यह सब 'मैं जानता हूँ' और 'मैं कर रहा हूँ''। उससे विशेष भाव हो गया। इसीलिए संसार खड़ा हो गया। फिर देख-देखकर करने लगे। लोग शादी करते हैं, इसलिए शादी करता है। जगत् व्यवहार से चला, पूरा तूफान। क्या लकड़ी के लड्डू छोड़ देता है? कहते ज़रूर हैं, लक्कड़ के लड्डू...

प्रश्नकर्ता : अतः वह जो विशेष परिणाम उत्पन्न हुआ, उससे जो अहंकार उत्पन्न हुआ, वह इस पूरे जन्म में एक ही होता है न?

दादाश्री : वह खत्म होता है और वापस बनता है, खत्म होता है और बनता है। यानी कि बीज गिरते हैं और वृक्ष बनता है, बीज गिरते हैं और वृक्ष बनता है। ऐसा चलता ही रहेगा।

प्रश्नकर्ता : तो अगले जन्म में फिर उसमें से वृक्ष बनता है न?

दादाश्री : उन सब कॉज़ेज़ (बीज) से वापस वृक्ष बनता है न! और वापस वृक्ष में से कॉज़ेज़ बनते हैं। एक सीधी बात ही, कॉज़ेज़ एन्ड इफेक्ट, बस चलता ही रहता है।

प्रश्नकर्ता : जन्म भर एक ही अहंकार काम करता रहता है?

दादाश्री : तो क्या दूसरे पाँच-सात होंगे? अहंकार देह के साथ ही विलय हो जाता है। बस इतना ही। फिर नए कॉज़ेज़ करके जाता है आगे, उसके आधार पर अगले जन्म में दूसरा अहंकार उत्पन्न होता है।

अब मैं आपको आत्मा की बात बताता हूँ। अब भगवान ने क्रिएट नहीं किया है, वह भी बताता हूँ आपको। और अहंकार है, वह बात भी सही है, दीये जैसी बात है। तो बीच में वह अहंकार कौन है? और आप पूछ रहे हो कि अहंकार कब शुरू हुआ? तो जब शुरू होता तब तो जगत् की बिगिनिंग कहलाती। उसकी बिगिनिंग भी नहीं है। अहंकार उत्पन्न होता है और अहंकार का नाश होता है। अहंकार उत्पन्न होता है और अहंकार का नाश होता है लेकिन नाश होते समय, वह बीज डालकर नष्ट होता है। अत: यह शुरू नहीं हुआ है लेकिन अहंकार कैसे उत्पन्न होता है? हमेशा से था ही। सब से पहले अहंकार किस तरह से उत्पन्न हुआ होगा? यानी कि शुरू से है ही। इसकी शुरुआत नहीं है लेकिन यों हम साधारण रूप से कहते हैं कि भाई अहंकार किस वजह से उत्पन्न हुआ, किस प्रकार से उत्पन्न हुआ?

प्रश्नकर्ता : सब से प्रथम इफेक्ट कैसे शुरू हुआ?

दादाश्री : कॉज़ेज़ के बिना कभी भी इफेक्ट हो ही नहीं सकता। 'उसने' यह कॉज़ डाला कि 'यह मैं हूँ और यह मेरा है' इसलिए फिर इफेक्ट शुरू हो गया।

प्रश्नकर्ता : लेकिन पहली बार कॉज़ किस प्रकार से शुरू हुआ?

दादाश्री : वही! (व्यवहार) आत्मा को दूसरा तत्त्व मिला इसलिए इस (आत्मा) तत्त्व को, उसे खुद को ऐसा लगा कि 'वास्तव में यह मैं हूँ'। उसी के साथ 'मैं और मेरा' शुरू हो गया और क्रोध-मान-माया-लोभ शुरू हो गए।

मूल रूप से तो 'यह' 'लाइट है' लेकिन जगत् के लोगों ने कहा, 'आप चंदूभाई हो' और आपने भी मान लिया कि 'मैं चंदूभाई हूँ'! अत: 'इगोइज़म' खड़ा हो गया। वह 'इगोइज़म' मूल लाइट का 'रिप्रेज़ेन्टेटिव' बना और जिसने उस 'रिप्रेज़ेन्टेटिव' की लाइट के माध्यम से देखा, वह बुद्धि हुई!

कषाय, कर्म कॉज़ और अंत:करण हैं इफेक्ट

प्रश्नकर्ता : आत्मा और *पुद्गल* (जो पूरण और गलन होता है)

के सानिध्य की वजह से चार कषाय खड़े हो गए, क्रोध-मान-माया-लोभ। क्या यह सही है?

दादाश्री : सही है।

प्रश्नकर्ता : तो मन-बुद्धि-चित्त और अहंकार का उद्‌भव भी उसी प्रकार से हुआ है न?

दादाश्री : वह ऐसा है न, क्रोध-मान-माया-लोभ, वे तो प्रोडक्शन हैं और ये मन-बुद्धि-चित्त और अहंकार, ये तो इफेक्ट हैं।

प्रश्नकर्ता : ये इफेक्ट हैं, लेकिन क्या प्रोडक्शन का मतलब इफेक्ट नहीं है? तो वह क्या है?

दादाश्री : प्रोडक्शन अर्थात् कॉज़ेज़। प्रोडक्शन अर्थात् कुछ चीज़ों के इकट्‌ठे होने से यह हो गया। *उपाधि* स्वरूप! विशेष स्वरूप होना!

प्रश्नकर्ता : आत्मा और *पुद्‌गल* का सानिध्य हुआ इसलिए क्रोध-मान-माया-लोभ खड़े हो गए। उसी प्रकार मन-बुद्धि-चित्त और अहंकार भी बने। यानी कि कॉज़ेज़ और इफेक्ट दोनों एक ही साथ उत्पन्न हुए?

दादाश्री : नहीं।

प्रश्नकर्ता : तो किस प्रकार से हुए?

दादाश्री : तो मूलतः सब से प्रथम प्रोडक्शन है, क्रोध-मान-माया-लोभ। अब, जब वे उत्पन्न हुए तो उनसे कर्म चार्ज होने लगे। यदि वे नहीं होते तो चार्ज नहीं होता, तो वे जो हैं चार्ज होने लगे। वही भावकर्म हैं। क्योंकि क्रोध किया। वह उत्पन्न हो चुका है लेकिन अगर उसका उपयोग हो तो... यदि उपयोग हुए बिना पड़ा रहता तो कोई हर्ज नहीं था। लेकिन उपयोग हुए बगैर रहता नहीं है न! उपयोग हुए बगैर कब रहेगा? जब उसके पास खुद का ज्ञान होगा। तब सभी परमाणु डिस्चार्ज हो जाएँगे क्योंकि अंदर से उसका जीव भाव जा चुका होता है!

प्रश्नकर्ता : हाँ! उपयोग होने पर फिर क्या होता है?

दादाश्री : उपयोग होने पर कर्म बंधन होता है। कर्म बंधन अर्थात् उसका डिस्चार्ज होते समय यह इफेक्ट आता है। वही है यह सब, अंदर अंत:करण, मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार।

प्रश्नकर्ता : इस ज्ञान के बाद जो मन रहा, वह इफेक्टिव है?

दादाश्री : फिर इफेक्टिव है, बस! अज्ञानी में भी इफेक्टिव है लेकिन ऐसा है कि इफेक्टिव में से अंदर कॉज़ेज़ उत्पन्न होते हैं जबकि इनमें (ज्ञान लेने के बाद में) कॉज़ेज़ उत्पन्न नहीं होते, कॉज़ेज़ बंद हो जाते हैं।

प्रश्नकर्ता : चित्त का भी इसी प्रकार से है?

दादाश्री : मन-बुद्धि-चित्त और अहंकार, सभी। पूरा ही अंत:करण, वह पूरा इफेक्टिव ही है। और सिर्फ अंत:करण नहीं है, यह बाह्यकरण भी इफेक्ट है। दोनों करण मात्र इफेक्ट ही हैं।

इस अंत:करण में जो होता है उसके बाद फिर क्रोध बाहर निकलता है। पहले अंत:करण में होता है। पहले अंत:करण में बाप के साथ लड़ता है और बाद में बाहर लड़ता है।

प्रश्नकर्ता : लेकिन अंत:करण तो इफेक्ट है फिर यह होता किस तरह से है?

दादाश्री : हाँ, लेकिन यह भी इफेक्ट है और वह भी इफेक्ट है लेकिन यह सूक्ष्म इफेक्ट है और क्रोध में स्थूल इफेक्ट होता है। इसलिए, क्योंकि बाहर निकल जाता है।

प्रश्नकर्ता : अंत:करण न हो तो फिर क्या क्रोध-मान-माया-लोभ उत्पन्न होंगे?

दादाश्री : नहीं, फिर कुछ भी नहीं।

प्रश्नकर्ता : तो फिर सर्व प्रथम क्या है? पहले आपने ऐसा कहा था कि सर्व प्रथम क्रोध-मान-माया-लोभ होते हैं और बाद में यह सारा इफेक्ट आता है।

दादाश्री : क्रोध-मान-माया-लोभ माँ-बाप हैं और ये सब उनके बच्चे हैं, बाद में फिर उनकी वंशावली मन-बुद्धि-चित्त और अहंकार पैदा होते हैं।

गाढ़ विभाव, अव्यवहार राशि में

प्रश्नकर्ता : यह जो इवोल्यूशन थ्योरी कहते हैं, जीव आगे ही आगे बढ़ता जाता है, उत्क्रांति होने पर मनुष्य में आया, देवगति में जाएगा, ऐसा जो सब होगा वह विभाव की वजह से ही है न?

दादाश्री : विभाव की वजह से ही है यह। यह सब जो है वह विभाव ही है।

प्रश्नकर्ता : तो क्या फर्स्ट रोंग बिलीफ एकेन्द्रिय में उत्पन्न हुई?

दादाश्री : नहीं, एकेन्द्रिय में नहीं, उससे पहले वे सारे अव्यवहार राशि वाले जीव हैं। जम चुके हैं, अभी तक नाम भी नहीं पड़ा है, व्यवहार में नहीं आया है।

प्रश्नकर्ता : लेकिन फिर भी विभाव तो है न उसे?

दादाश्री : बहुत गाढ़, भारी विभाव है। अव्यवहार राशि में जो सारे कर्म हैं न, उन्हें फिर व्यवहार में भुगतता है।

प्रश्नकर्ता : द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से कर्म उद्भवित होते रहते हैं, तो फिर अहंकार कब उत्पन्न होता है?

दादाश्री : मूल अहम् तो शुरुआत से ही हो गया है न! शुरुआत से, अनादि काल से। (मूल प्रथम) विशेष भाव उत्पन्न होता है तभी से है। मूल विशेष भाव में से अहम् उत्पन्न होता है और उस अहम् में से जो दूसरा विशेष भाव उत्पन्न होता है, वह अहंकार है। फिर उस अहंकार का नाश होता है। उसके बाद (दूसरा) विशेष भाव उत्पन्न होता है और अहंकार उत्पन्न होता है। अहंकार के पीछे विशेष भाव और विशेष भाव के पीछे अहंकार। (केवलज्ञान होने तक हमेशा ही अहम् रहता है। अहंकार जन्म लेता है और मरता है।)

प्रश्नकर्ता : अर्थात् जब से अव्यवहार में से व्यवहार राशि में आता है तभी से?

दादाश्री : सभी जगह। अव्यवहार में या व्यवहार में, सभी जगह। जहाँ देखो वहाँ पर यही है। ऐसा नहीं है कि अव्यवहार में कहीं भोक्ता नहीं था। भोक्ता थे, भयंकर वेदना, वेदना भी सहन नहीं होती थी।

प्रश्नकर्ता : तो उस वेदना का भोक्ता वह अहंकार ही था?

दादाश्री : तो फिर और कौन? वह कर्ता नहीं था। बुद्धि के बिना कर्ता नहीं बन सकता।

प्रश्नकर्ता : वह अहंकार भी भुगतता है क्या?

दादाश्री : हाँ! भुगतता है।

प्रश्नकर्ता : तो पहले से ही विशेष परिणाम से अहंकार उत्पन्न हो चुका था?

दादाश्री : सिर्फ विशेष परिणाम ही नहीं। और फिर विशेष परिणाम खत्म हो जाए तो अहंकार खत्म हो जाता है, तो वहाँ पर वापस दूसरा विशेष परिणाम उत्पन्न होता है। इसलिए क्योंकि साथ के साथ ही हैं। दो द्रव्यों के साथ में होने के कारण विशेष परिणाम उत्पन्न होता जाता है और ये जब अलग हो जाते हैं तब विशेष परिणाम खत्म हो जाते हैं। (उस समय मूल विशेष भाव और उसकी वजह से जो अहम् है, वे हमेशा रहे हुए हैं ही।)

व्यवस्थित और पुनर्जन्म

प्रश्नकर्ता : तो पुनर्जन्म और साइन्टिफिक सरकमस्टेन्शियल एविडेन्स के बीच क्या संबंध है, ज़रा समझाइए।

दादाश्री : यह साइन्टिफिक सरकमस्टेन्शियल एविडेन्स ही पुनर्जन्म का मूल कारण है। यह साइन्टिफिक सरकमस्टेन्शियल एविडेन्स पुनर्जन्म साबित कर देता है।

प्रश्नकर्ता : तो फिर क्या आत्मा का पुनर्जन्म होता है?

दादाश्री : आत्मा का पुनर्जन्म नहीं होता। अहंकार का ही पुनर्जन्म होता रहता है। आत्मा तो वही का वही रहता है। ऊपर आवरण चढ़ते रहते हैं और आवरण उतरते रहते हैं। आवरण चढ़ते रहते हैं और आवरण उतरते रहते हैं।

प्रश्नकर्ता : पूरी दुनिया क्या खुद के गुणधर्म के अनुसार चलती है?

दादाश्री : बस! जगत् इस स्वभाव से ही चल रहा है। स्वभाव ही यह सबकुछ कर रहा है।

प्रश्नकर्ता : क्या अपना स्वभाव भी खराब नहीं है? अपना स्वभाव खराब है तभी यह सब खराब कर रहे हैं न!

दादाश्री : आप तो आत्मा हो, परमात्मा हो तो क्या आपका स्वभाव कहीं खराब हो सकता है?

प्रश्नकर्ता : नहीं, लेकिन *पुद्गल* जो साथ में...

दादाश्री : नहीं! वह *पुद्गल* तो इन संयोगों के अनुसार बन गया है। *पुद्गल* अर्थात् 'मैं' और 'मेरा' दोनों खड़े हो गए। जब तक 'आप' 'मैं' चंदू में रहोगे तब तक खुद के स्वरूप का भान नहीं होगा और तब तक 'मैं' अलग रहेगा। व्यतिरेक गुण हैं वे। वे अन्वय गुण नहीं हैं।

विभाव, वह अहंकार है

प्रश्नकर्ता : छः द्रव्यों के संयोग से निष्पन्न होने वाला विभाव, वह विभाव प्रतिष्ठित आत्मा को होता है न?

दादाश्री : हाँ, उस प्रतिष्ठित आत्मा का मतलब ही अहंकार है। जो प्रतिष्ठा करता है, वह अहंकार खुद ही विशेष भाव है। विशेष भाव खुद ही अहंकार है।

प्रश्नकर्ता : क्या अहंकार रहितता आत्मा का स्वभाव है?

दादाश्री : हाँ, वह आत्मा का स्वभाव है और आत्मा का विभाव, वही अहंकार है।

प्रश्नकर्ता : आत्मा के अलावा अन्य जो कुछ भी दिखाई देता है वह सारा विभाव है?

दादाश्री : वह सब विभाव का फल है और फिर वह सब विनाशी है। इकट्ठा किया हुआ टिकता नहीं है। चाहे कितना भी इकट्ठा करो, देह को अपना बनाने जाओ तो ऐसा कभी होगा नहीं।

प्रश्नकर्ता : हर एक में चेतन एक सरीखा है और जड़ भी एक सरीखा है। तो हर एक में व्यतिरेक गुण की मात्रा कम-ज़्यादा क्यों होती है?

दादाश्री : चेतन सभी में एक सरीखा है। जड़ एक सरीखा नहीं है। यदि जड़ एक सरीखा होता न, तो किसी को पहचान ही नहीं पाते। सब एक ही प्रकार के चेहरे और एक ही प्रकार का सबकुछ।

प्रश्नकर्ता : लेकिन उन सब के जो मूल अणु-परमाणु हैं, वे तो एक सरीखे ही हैं न?

दादाश्री : हाँ, लेकिन उन अणु-परमाणुओं का नहीं देखना है। अभी अपना यह जो शरीर वगैरह बना है, वह एक सरीखा नहीं है।

प्रश्नकर्ता : ऐसे लोगों में, जिन्हें ज्ञान नहीं है, उनमें किसी में ज़्यादा इगो होता है और किसी में कम, ऐसा क्यों?

दादाश्री : वह सब तो रहता है। वह कम या ज़्यादा हो सकता है। वह सारी सत्ता उसके हाथ में नहीं है। वह 'खुद' मानता है कि 'मैं यह हूँ', वास्तव में वैसा नहीं है। 'मैं हूँ', वह भ्रामक मान्यता है। और वह किसी में कम या ज़्यादा हो सकता है लेकिन निकलता नहीं है। दोनों के अलग हुए बिना नहीं जा सकता।

प्रश्नकर्ता : लेकिन इसमें जब संयोग मिलते हैं तब फिर वापस खत्म हो जाता है न?

दादाश्री : हाँ, संयोग मिलने पर ही। वर्ना होगा ही नहीं न! यहाँ पर भी व्यवस्थित तो है लेकिन हम तो यहाँ पर क्या कहना चाहते हैं

कि यह किस तरह से बना? तो इन दोनों के साथ में आने से यह बना है। बाद में तो फिर व्यवस्थित का पूरा हिसाब आ मिलता है। हर एक को ज़रूरत की सभी चीज़ें मिल जाती हैं। लेकिन विभाव गुण मूलतः खुद का नहीं है। विशेष भाव अर्थात्, आत्मा की यह (स्वाभाविक) शक्ति तो है ही लेकिन फिर विशेष शक्तियाँ भी हैं। अतः वह खुद यह (विभाव) नहीं करता है। दूसरों के दबाव से विभाव हो जाता है और उसकी (विभाव की) शक्तियाँ उत्पन्न हो जाती हैं।

इनमें जो अलग रहा वह 'ज्ञानी'

प्रश्नकर्ता : यह जो पूरा अंत:करण बन गया है, वह और विशेष परिणाम, इन दोनों के बीच में क्या संबंध है?

दादाश्री : विशेष परिणाम से क्रोध-मान-माया-लोभ वगैरह उत्पन्न होते हैं और उसी से फिर अंत:करण उत्पन्न हुआ न!

प्रश्नकर्ता : अब अज्ञानी में भी आत्मा और जड़ वस्तु साथ में हैं और ज्ञानी पुरुष के पास भी जड़ वस्तु और आत्मा हैं तो यहाँ पर ज्ञानी में विशेष परिणाम नहीं होता?

दादाश्री : उनमें साथ में नहीं हैं, उसी को ज्ञानी कहते हैं न! उनमें अलग हो गया है।

प्रश्नकर्ता : वह समझ में नहीं आया।

दादाश्री : जड़ और आत्मा, दोनों साथ में होते तो विशेष परिणाम रहता न, उससे फिर विशेष परिणाम ही आता लेकिन जो साथ में हैं उन्हें 'वे खुद' अलग कर देते हैं न!

प्रश्नकर्ता : अर्थात् यहाँ पर विशेष परिणाम को अलग रखना पड़ता है, ऐसा?

दादाश्री : वे दोनों साथ में ही हैं, एकदम लगकर हैं, इसलिए यह सारा विशेष परिणाम आ जाता है लेकिन जब 'उसका' (ज्ञानी दशा में खुद) छूना बंद हो जाता है, अलग हो जाता है, तब फिर कुछ भी नहीं।

प्रश्नकर्ता : ठीक है। अत: जब तक वह *पुद्‌गल* (जो पूरण और गलन होता है) परिणाम को खुद का मानता है, तो क्या वही विशेष परिणाम का मूल कारण है?

दादाश्री : हाँ, साथ में रहने के कारण उन्हें खुद का मानता है इसलिए क्रोध-मान-माया-लोभ खड़े हो जाते हैं। उससे यह सब दिखाई देता है। संसार खड़ा हो जाता है फिर। खुद का मान वगैरह सबकुछ उसी से उत्पन्न होता है। पूरा अंत:करण उसी से उत्पन्न हो गया है और मन तो अहंकार ने बनाया है। वह अहंकार की वंशावली है, उसके वारिस।

प्रश्नकर्ता : तो मन अहंकार का क्रिएशन है?

दादाश्री : मन, वह अन्य किसी और का क्रिएशन नहीं है, अहंकार का है।

प्रश्नकर्ता : अभी जो विचार आता है, वह क्या अभी के अहंकार का क्रिएशन है?

दादाश्री : पहले का है वह। अभी जो आता है वह सारा परिणाम है। उसमें वापस बीज डलता है और अगले जन्म में काम आता है। पुराना परिणाम भोगता है और फिर नया बीज डाल देता है। अभी आम खाता है, रस वगैरह खाकर वापस गुठली डाले तो वह गुठली उगती है।

प्रश्नकर्ता : यह बीज डालना विशेष परिणाम माना जाता है क्या?

दादाश्री : विशेष परिणाम तो दो चीज़ों के साथ में आने की वजह से आता है, अपने आप ही उत्पन्न होता है। वह दृष्टि है एक प्रकार की। और उससे क्रोध-मान-माया-लोभ होते हैं। और बीज तो, वह फिर वापस भ्रांति से डालता है। इस गुठली का क्या करना, वह पता नहीं इसलिए फिर वापस डाल देता है और वह वापस उगती है। यदि गुठली को सेंक देगा तो नहीं उगेगी। यदि वह ऐसा ज्ञान जानेगा तभी। इसी प्रकार इसमें कर्ता रहित हो जाएगा तो वह नहीं उगेगा। अक्रिय हो जाएगा तो नहीं उगेगा।

प्रश्नकर्ता : जड़ और चेतन के मिलने से क्रोध-मान-माया-लोभ, वे व्यतिरेक गुण उत्पन्न हो जाते हैं, लेकिन फिर साथ ही ऐसा कहा गया है, 'यदि अज्ञानता होगी, तभी'। ज्ञानी में क्रोध-मान-माया-लोभ उत्पन्न नहीं होते हैं?

दादाश्री : यदि (जड़ और चेतन) साथ में होते तो ज्ञानी को भी होता लेकिन यदि साथ में रहेंगे तो फिर ज्ञानी रहा ही कहाँ?

प्रश्नकर्ता : वह समझ में नहीं आया।

दादाश्री : दो चीज़ें साथ में रहेंगी तो फिर परिणाम तो आएँगे ही न! और यदि उन्हें अलग कर दिया जाए तो नहीं होगा। ये दो चीज़ें अलग हो गईं, दूर हो गईं, दूर हो जाएँ तो ज्ञानी और नज़दीक रहें तो अज्ञानी।

प्रश्नकर्ता : लेकिन इसमें आप जो बात करते हैं, यह पूरा व्यवहार करते हैं, लोग देखते हैं तो यह व्यवहार तो जड़ का हुआ न?

दादाश्री : वह तो होता रहेगा। फिर?

प्रश्नकर्ता : तो इसमें यह कैसे पता चले कि विशेष परिणाम नहीं हो रहे हैं?

दादाश्री : पहले मन में तन्मयाकार परिणाम हो जाते थे, अब 'वह' मन से अलग हो गया। मन अलग और 'मैं' अलग इसलिए वहाँ पर अलग होने का परिणाम दिखाई दिया हमें।

प्रश्नकर्ता : अलग हो गया है, इसका मतलब क्या है?

दादाश्री : वह अलग हो गया अतः उसका परिणाम दिखाई दिया हमें। मन और खुद दोनों अलग हो गए। ज्ञानी के लिए मन काम का नहीं है। ज्ञानी के लिए मन ज्ञेयरूपी है। उनका मन वर्किंग ऑर्डर में नहीं है।

प्रश्नकर्ता : तो मन तो अपना फंक्शन करता ही रहता होगा न?

दादाश्री : वह उसका पिछला परिणाम है। नया कुछ भी नहीं होता। मन को ही देखते रहते हैं कि मन में क्या विचार आ रहे हैं!

पिछले कौन से परिणाम आ रहे हैं! उन सब को देखते रहते हैं। पहले नहीं देखता था, विचरता था। और विचरना ही विचार है।

प्रश्नकर्ता : लेकिन ज्ञानी अभी व्यवहार में हैं तो अभी दूसरे तत्त्व भी संबंध में ही हैं न?

दादाश्री : होंगे ही न!

प्रश्नकर्ता : तो ऐसा कहा जाएगा न कि वे तत्त्व एक हो गए!

दादाश्री : ऐसा तो काल के अनुरूप हुआ है। उन्हें मिलना नहीं कहेंगे। वे तो परिणामिक हैं। मिलना अर्थात् ऐसा कॉज़ में होता है। परिणाम तो इफेक्ट है।

कारण, कर्ता बनने का

प्रश्नकर्ता : यदि इगो को किसी ने उत्पन्न ही नहीं किया है तो फिर वह ज़िम्मेदार भी नहीं है, वह बात सही है न?

दादाश्री : किसी की भी ज़िम्मेदारी है ही कहाँ! ये तो कुदरती रूप से मिल गए हैं, इसलिए उत्पन्न हो गया है और उत्पन्न होकर फिर उसका असर नहीं हुआ है। वह आत्मा को परेशान नहीं करता और आत्मा उसे परेशान नहीं करता। वह जो उत्पन्न हुआ है, अब वह दु:ख उस अहंकार को है, आत्मा को दु:ख नहीं है। आत्मा दु:ख को समझता ही नहीं है। अत: अहंकार की यह इच्छा है कि 'हमें इसमें से मुक्त होना है, इस दशा में से'।

तो यह मैं पन और मेरापन उत्पन्न हुआ। तो फिर उसे निभाएगा कौन? मेन्टेनन्स कौन करता है? आत्मा की उपस्थिति। यदि शरीर में आत्मा की उपस्थिति नहीं होगी तो वह सब बंद हो जाएगा।

ज्ञान के बाद कषाय अनात्मा के

प्रश्नकर्ता : यदि खुद के स्वरूप में आ जाए तो फिर क्रोध नहीं होगा, मान नहीं होगा, माया नहीं होगी, कुछ भी नहीं होगा न?

दादाश्री : क्रोध-मान-माया-लोभ *पुद्गल* (जो पूरण और गलन

होता है) के गुण हैं, आत्मा में ऐसे गुण नहीं हैं। अर्थात् जो अपने गुण नहीं हैं, उनकी ज़िम्मेदारी हम क्यों लें? जो घटते-बढ़ते हैं न, वे सब *पुद्गल* के गुण हैं।

यहाँ पर यदि हम से ज्ञान ले ले तो उन्हें होने वाले क्रोध-मान-माया-लोभ *पुद्गल* के गुण हैं और अगर ज्ञान नहीं लिया तो आत्मा के गुण हैं। वास्तव में आत्मा के गुण नहीं हैं, लेकिन वह खुद ही कहता है कि 'मैं चंदूलाल हूँ'। जो नहीं है, वही कहता है। खुद का ऐसा गुण है ही नहीं, उसे वह खुद पर ओढ़ लेता है।

तो ऐसा है, कि यदि हम से ज्ञान लेकर हमारी आज्ञा में रहे तो फिर क्रोध-मान-माया-लोभ होने पर भी उसे स्पर्श नहीं करेंगे। कुछ भी नहीं होगा। समाधि नहीं जाएगी।

आत्मा को कभी भी चिंता नहीं होती। आत्मा तो अनंत सुख का धाम है। खुद ही अनंत सुख का धाम है। उसे कोई छू ले तो उसे भी सुखी बना देता है। और लोग ऐसा मान बैठे हैं कि आत्मा ही चिंता करता है और आत्मा ही दु:खी होता है और आत्मा को ही ये सारी *उपाधियाँ* (बाहर से आने वाला दु:ख) हैं। वह बोलने वाला दूर रह जाता है। बोलने वाला कौन है इसमें?

प्रश्नकर्ता : वही। यह अहंकार ही है।

दादाश्री : वह दूर रह जाता है। यानी खुद ने अपने आपको बेकसूर सिद्ध कर दिया, सभी को गुनहगार बना दिया। मूल गुनहगार ही दूसरों को गुनहगार सिद्ध कर देता है। खुद गुनहगार है। उससे फिर मिथ्यात्व बढ़ता जाता है, रोंग बिलीफ बढ़ती जाती हैं।

आत्मा, आत्मा की जगह पर है। साइन्टिफिक इफेक्ट है यह तो। किसी ने कुछ किया ही नहीं है। ये सभी धर्म वाले जो मानते हैं, ऐसा कुछ है ही नहीं। तीर्थंकरों के भाव में था यह! मैं जो कह रहा हूँ, वह तीर्थंकरों का सीधा ज्ञान है। शास्त्र से आगे की बात है।

[९]

स्वभाव और विभाव के स्वरूप

जगत् चलता है स्वभाव से ही

यह पूरी दुनिया स्वभाव से चल रही है।

प्रश्नकर्ता : यह स्वभाव क्या चीज़ है?

दादाश्री : हर एक द्रव्य अपने-अपने स्वभाव का ही प्रदर्शन करता है। ये जो द्रव्य हैं, वे सत् हैं इसलिए अविनाशी हैं। वे निरंतर परिवर्तनशील हैं और खुद के स्वभाव में ही रहते हैं।

प्रश्नकर्ता : जिस प्रकार से रात स्वभाव से पड़ती है, ऐसा कहा है और दिन भी स्वभाव से ही उगता है, तो यह अंत:करण, वाणी वगैरह... ?

दादाश्री : सब स्वभाव से ही हैं। यदि *पुद्गल* है तो *पुद्गल* के स्वभाव से और यदि चेतन है तो चेतन के स्वभाव से। अब, ये सारी बातें शास्त्रों में नहीं मिलतीं और पुस्तकों में भी नहीं मिलतीं। है न?

प्रश्नकर्ता : नहीं मिलतीं, दादा। वे तो सिर्फ दादा के कम्प्यूटर में ही मिलती हैं। यह *पुद्गल* अपने स्वभाव से ही चल रहा है, क्या उसमें चेतन का कोई कनेक्शन है? दखलंदाज़ी?

दादाश्री : जो दखल करे, वह चेतन कहलाएगा ही नहीं।

स्वभाव से चल रहा है और चलाने वाला साइन्टिफिक सरकमस्टेन्शियल एविडेन्स है।

प्रश्नकर्ता : किस-किस के स्वभाव?

दादाश्री : *पुद्गल* को *पुद्गल* का स्वभाव और आत्मा को आत्मा का स्वभाव, फिर धर्मास्तिकाय को धर्मास्तिकाय का स्वभाव और काल को काल का स्वभाव। हर एक स्वभाव से।

प्रश्नकर्ता : बीज स्वभाव से उगता है। पानी, हवा, ज़मीन वगैरह सभी संयोग उगाते हैं।

दादाश्री : वे सभी संयोग स्वभाव से चल रहे हैं।

पूरी दुनिया स्वभाव से ही जी रही है। इस दुनिया को कौन चलाता है? तो कहते हैं, स्वभाव ही चलाता है। किस तरह से उत्पन्न हुई? तो कहते हैं, 'यह स्वभाव से उत्पन्न हुई है'। स्वभाव में से विभाव किस तरह से हो गया? तो कहते हैं, 'ये जब इकट्ठे होते हैं तो उनका स्वभाव ही ऐसा है कि यह विभाव हो जाता है'।

प्रश्नकर्ता : लेकिन विभाव में जो गुण प्रकाशमान हुए, वे क्या स्वभाव के प्रकाश से प्रकाशमान हुए हैं?

दादाश्री : स्वभाव का उससे लेना-देना नहीं है, स्वभाव तो स्वभाव में रहा। उसका और उन सभी का कोई लेना-देना नहीं है और विभाव के खुद के नए ही गुण उत्पन्न हो गए। यह दुनिया स्वभाव से चल रही है और विभाव से टकराव हुए।

(व्यवहार) आत्मा या तो विभाव भाव कर सकता है या फिर स्वभाव भाव कर सकता है। आत्मा ये दो ही भाव कर सकता है। आत्मा अन्य कुछ नहीं कर सकता। आत्मा ने कोई क्रिया की ही नहीं है, करता भी नहीं है और करेगा भी नहीं। स्वभाव भाव अर्थात् खुद अपने आप में ही रहना और विभाव भाव अर्थात् देहाध्यास। विशेष भाव में भी बरत सकता है।

प्रश्नकर्ता : तो जो लोग विपरीत प्रकार से बरतते हैं?

दादाश्री : नहीं, ऐसा नहीं है। आत्मा का स्वभाव और विभाव। उस विभाव से यह संसार खड़ा हो गया है, विभाव दशा है। यह स्वभाव

अर्थात् खुद के मोक्ष में ले जाने वाली वस्तु और विभाव, संसार में भटकाने वाली चीज़ है। उस विशेष परिणाम को यदि समझ लेंगे तो यह पज़ल सॉल्व हो जाएगी, वर्ना सॉल्व नहीं हो सकती।

प्रश्नकर्ता : आत्मा हमेशा ऊर्ध्वगति में जाता है न?

दादाश्री : ऐसा नहीं कि ऊर्ध्वगति में जाता है, स्वभाव ही ऊर्ध्वगामी है।

प्रश्नकर्ता : ऊर्ध्वगामी स्वभाव है फिर भी अधोगति में क्यों जाता है?

दादाश्री : ऊर्ध्वगामी स्वभाव है, तो उसे जो दूसरी बला चिपकी रहती हैं और यदि वे वज़नदार हों तो वह अधोगामी हो जाता है।

उस विशेष परिणाम को यदि समझें तो पज़ल सॉल्व हो जाएगी, वर्ना सॉल्व नहीं होगी। इस 'वि' के विभाव को विरुद्ध भाव समझ लिया है।

नहीं है कर्तापन, स्वभाव में

सभी को नहाना हो और यह इलेक्ट्रिसिटी बंद हो जाए और यह जो पानी है, उसे तू गरम करने लगे, केरोसीन स्टोव से या किसी और से, तो क्या होगा? टाइम लगेगा?

प्रश्नकर्ता : हाँ।

दादाश्री : विभाव अर्थात् संसार खड़ा करना। वह पानी को गरम करने जैसा मेहनत वाला काम है और स्वभाव में जाना अर्थात् लकड़ियाँ निकालकर वापस ठंडा करना। तभी मोक्ष में जाएँगे। स्वभाव में क्रिया नहीं है, मेहनत नहीं है। स्वभाव को समझना होता है। यह जो पानी का उदाहरण दिया, आपको समझ में आ रहा है?

किसी भी चीज़ को अपने स्वभाव में जाने के लिए मेहनत नहीं करनी होती। जब विशेष भाव में जाना हो तब सभी को मेहनत करनी पड़ती है।

त्याग करो या ग्रहण करो, उसे धर्म कहते हैं, रिलेटिव धर्म जबकि रियल धर्म, वह स्वाभाविक धर्म है। उसमें करना नहीं है, वह स्वाभाविक रूप से होता रहता है। आत्मा, आत्मा के स्वभाव में आ गया तो बस हो चुका। अभी विशेष भाव में है।

वस्तु को स्वभाव में लाना, उसे कहते हैं मोक्ष। 'उसे ये लोग करने गए हैं, जप करो और तप करो।' अरे भाई, ऐसा क्यों कर रहे हो? उतना तो तू ढूँढ निकाल कि स्वभाव में किस तरह से जा सकते हैं! इस झंझट में कहाँ पड़ गया है?

प्रश्नकर्ता : स्वभाव में जाने के लिए कोई भी प्रयत्न करने की ज़रूरत नहीं है?

दादाश्री : जानता ही नहीं हो तो कैसे करेगा? वह तो ऐसा ही जानता है कि मुझे कुछ करना पड़ेगा। मैं कुछ करूँ। अरे भाई, तेरे गुरु को नहीं मिला तो तुझे भी नहीं मिलेगा न? वह भी वैसा ही रहा और उसका गुरु भी वैसा ही रहा।

इस तरह सब भटकते रहते हो न! लड्डू खाकर पेट पर हाथ फेरते हो और ओहिया करके सो जाते हो। अरे भाई, काम खत्म हो जाने के बाद ओहिया करके सो सकते हैं!

जब तक स्वभाव में नहीं आ जाए तब तक स्वाभाविक सुख नहीं मिल सकता। ये सभी विभाविक सुख हैं, इसलिए बेस्वाद लगते हैं। आत्मा का सुख, वह स्वाभाविक सुख है, वही मोक्ष है।

(मूल) आत्मा तो भाव भी नहीं करता और अभाव भी नहीं करता। आत्मा स्वभावमय है। अपने-अपने स्वभाव में हैं। सोना सोने के स्वभाव में रहता है। सोना दूसरे गुणधर्म नहीं बताता। उसी प्रकार आत्मा ने भी कभी खुद के गुणधर्म नहीं छोड़े हैं, छोड़ता भी नहीं है और छोड़ेगा भी नहीं।

प्रश्नकर्ता : अनादि स्वभाव का मतलब क्या है?

दादाश्री : जो स्वभाव हमेशा के लिए है, परमानेन्ट है, वह सनातन कहलाता है।

स्वभाव, सत्ता और परिणाम

प्रश्नकर्ता : आत्मा में विपरिणाम, वह क्या स्वभाव से विपरिणाम है? विपरिणाम, आत्मा की मूल सत्ता है या संयोगी सत्ता है? और कौन सा द्रव्य उस सत्ता का मूल कारण है?

दादाश्री : आत्मा के साथ इन सभी चीज़ों का योग होता है। इसलिए यह विभाव हुआ है, इसीलिए संसार खड़ा हो गया है। 'स्वभाव से विपरिणाम है?' उसके लिए हम मना करते हैं। नहीं! स्वभाव से विपरिणाम नहीं हो सकता। उसका जो स्वभाव है, उसमें कभी भी विपरिणाम, विभाव होता ही नहीं है। 'क्या विपरिणाम आत्मा की मूल सत्ता है?' तो कहते हैं, 'नहीं! मूल सत्ता स्वभावी ही है। स्वपरिणाम है, विपरिणाम नहीं है!' अत: यह आत्मा की मूल सत्ता नहीं है। यह विभाविक सत्ता है, स्वाभाविक सत्ता नहीं है। लेकिन यदि पूछें कि 'यह विपरिणाम आत्मा की मूल सत्ता है या संयोगी सत्ता है?' तो कहते हैं, 'संयोगी सत्ता है'।

प्रश्नकर्ता : तो क्या विपरिणाम संयोगी सत्ता है?

दादाश्री : हाँ। यह *पुद्गल* मिला इसलिए यह सब हो गया। कौन सा द्रव्य 'उस सत्ता का मूल कारण है?' मूल कारण में तो यह *पुद्गल* द्रव्य मिला, उसी कारण यह विपरिणाम हो गया। बस।

स्वभाव कर्म का कर्ता...

प्रश्नकर्ता : 'आत्मस्वभाव कर्म का कर्ता है, अन्यथा अकर्ता है।' वह किस प्रकार से? वह समझ में नहीं आया।

दादाश्री : खुद के स्वस्वभाव के कर्म का कर्ता है। आत्मा अन्य किसी कर्म का कर्ता नहीं है। यह आत्मा प्रकाश जैसा है। वह खुद के स्वभाव (अनुसार) करता है। यह जो लाइट है, वह खुद के स्वभाव कर्म

की कर्ता है। बहुत हुआ तो प्रकाश देती है। वह यहाँ पर हमें खाना नहीं डालती न मुँह में? या फिर पंखा नहीं करती न! पंखा तो जब पंखा घुमाएँगे तभी होगा। यह लाइट पंखा नहीं करती। क्यों?

प्रश्नकर्ता : इसलिए क्योंकि उसका स्वभाव ही ऐसा है।

दादाश्री : वैसा ही यह है। यह जो आत्मा है, वह यों खाता-पीता नहीं है, ऐसा कुछ भी नहीं करता।

प्रश्नकर्ता : इसमें स्वभाव कर्म का कर्ता का अर्थ क्या है?

दादाश्री : आत्मा खुद के स्वभाव, मूल जो स्वभाव है, स्वाभाविक स्वभाव, उसी का कर्ता है। यह तो, जिसे संसार में कर्ता कहा गया है, वह विभाव कर्म का कर्ता कहा है। बहुत गहरा लगता है। नहीं? यह जो संसार का कर्ता कहा है, वह तो भ्रांति से कहा है। जब तक भ्रांति है तब तक इस संसार का कर्ता है। जब भ्रांति चली जाए तब स्वरूप का कर्ता। खुद के स्वभाव का कर्ता, अन्यथा अकर्ता है। किसी भी बारे में कर्ता है ही नहीं। ऐसा कुछ भी नहीं करता। हम लोग यह जो करते हैं न, कहते हैं कि 'ऐसा किया, वैसा किया', वह आत्मा नहीं करता।

प्रश्नकर्ता : बिना अनुभव के समझ में नहीं आ सकता।

दादाश्री : तुझे यदि अनुभव चाहिए तो यहाँ आना पड़ेगा।

प्रश्नकर्ता : इसका अर्थ ऐसा हुआ कि 'पर' तरफ के झुकाव वाले जो भाव हैं, वे सभी अस्वभाव भाव और खुद के 'स्व' तरफ के जो भाव हैं, वे स्वभाव भाव?

दादाश्री : हाँ, यह जो पर-स्वभाव है, तो जब तक आत्मा 'पर' में रहता है तब तक तो यह संसार है ही न! जब स्व-स्वभाव भाव में आएगा न, तब संसार छूट जाएगा और पर-स्वभाव भाव अर्थात् पर-परिणति। अन्य कोई कर रहा है और खुद कहता है, 'मैं कर रहा हूँ'।

यह विशेष भाव क्या है? प्रकृति किस प्रकार से अपने आप ही उत्पन्न हो जाती है? यह सब 'मैंने' देखा है। 'मैं' यह सब देखकर बता

रहा हूँ इसलिए 'विज्ञान' का यह खुलासा हो रहा है। किसी चीज़ का कोई (स्वतंत्र) कर्ता है ही नहीं और (नैमित्तिक) कर्ता के बिना कुछ हुआ नहीं है!!!

'खुद' संसार का चित्रण करता है। उसके बाद विचित्रता लाना 'नेचर' के हाथ में है। चित्र के विशेष परिणाम को लेकर उसे विचित्र करने का काम नेचर का है। फिर उसमें कोई हाथ नहीं डाल सकता, दखलंदाज़ी नहीं कर सकता!

डेवेलप होने वाला कौन है?

प्रश्नकर्ता : आत्मा तो सभी में एक सरीखे ही हैं लेकिन एक में ज्ञान और एक में अज्ञान, वह भी क्या इस विश्व की रचना की वजह से हो रहा है?

दादाश्री : विश्व की रचना ही ऐसी है। एक अंश से डेवेलप होते-होते वह दो अंश, चार अंश इस प्रकार डेवेलप होते-होते, आत्मा तो सभी के पास है लेकिन बाहर का भाग डेवेलप होता है, आत्मा के अलावा वाला भाग डेवेलप हो रहा है।

प्रश्नकर्ता : अर्थात् विभाव?

दादाश्री : विभाव डेवेलप हो रहा है। वह डेवेलप होते-होते स्वभाव की तरफ जा रहा है।

प्रश्नकर्ता : वह विभाव स्वभाव की तरफ जा रहा है?

दादाश्री : हाँ।

प्रश्नकर्ता : कारण? विभाव और स्वभाव, दोनों के बीच में संबंध है?

दादाश्री : यह दर्पण में दिखाई देने वाला और सामने जो खड़ा है, जब दोनों एक सरीखे दिखाई देंगे तब मुक्त होगा, छुटकारा होगा। तब तक नहीं।

प्रश्नकर्ता : अर्थात् अहंकार को आत्मस्थिति में आना पड़ता है?

दादाश्री : आत्मस्थिति में आना पड़ता है। अहंकार को शुद्ध करना पड़ेगा। तब तक डेवेलपमेन्ट चलता रहता है।

प्रश्नकर्ता : विभाव और स्वभाव, इन दोनों के बीच क्या पारस्परिक संबंध है?

दादाश्री : उनके बीच कार्य-कारण का संबंध है ही नहीं। (डेवेलपमेन्ट की स्थिति है।)

विशेष परिणाम में भी अनंत शक्ति

प्रश्नकर्ता : इन सभी जीवों का यह जो ज्ञान है, यों तो वह सारा व्यवहार और *पुद्गल* (जो पूरण और गलन होता है) से संबंधित ही है न?

दादाश्री : हाँ, वह भी *पुद्गल* ही है लेकिन इस प्रकार प्रकट होता है। यह जो प्रकट हुआ है, वह सिर्फ आत्मा में से ही निकला हुआ है। अर्थात् इन सभी जीवों में से जो निकलता है न, वह ज्ञान है। वह आत्मा में से ही निकलता है। आत्मा के विशेष परिणाम हैं। आत्मा के विशेष परिणामों में बहुत अधिक शक्ति है। उनमें अनंत ज्ञान शक्ति है। अर्थात् यह सारी अनंत शक्ति सिर्फ आत्मा का ही परिणाम है। वह आवरण किसी में यहाँ से टूटा, किसी में यहाँ से टूटा, किसी में यहाँ से। इस प्रकार सभी में जहाँ से टूटा वहीं से सभी में ज्ञान प्रकट होता है। लेकिन जब पूरा टूट जाए, तब। लेकिन विशेष परिणाम के रूप में बाहर आना चाहिए। बाकी, सिर्फ आत्मा में ही सारा ज्ञान है!

प्रत्येक द्रव्य, निज द्रव्याधीन

प्रश्नकर्ता : यदि ये सभी *पुद्गल* हैं तो यह *पुद्गल* किसके अधीन है?

दादाश्री : जिसे *अजंपा* (बेचैनी, अशांति, घबराहट) होता है, उसके। जिसे *अजंपा* नहीं होता, उसमें पराधीन भी कहाँ है?

प्रश्नकर्ता : *पुद्गल* किसके अधीन है?

दादाश्री : वह खुद के द्रव्य के अधीन है। सभी द्रव्य अपने-अपने द्रव्य के अधीन रहे हुए हैं। पकौड़े कहते हैं, 'आपको ठीक लगे तो लो, नहीं तो मत लेना। हम आपके अंदर जाएँगे तब भी हम अपने द्रव्य में ही रहेंगे। आपमें तो आएँगे ही नहीं'। यह तो, वह अज्ञान से ऐसा मानता है कि, 'मैंने यह खाया, पीया'। वह समझता है कि, 'यह द्रव्य मेरे द्रव्य में आ गया'। वह सब गलत है। ऐसा मानकर बंधता है, गलत मानने से। अन्य कुछ भी नहीं होता।

प्रश्नकर्ता : तो फिर यह पकौड़ा जो मुँह में गया, वह भी *पुद्गल* के कारण ही गया है, आत्मा के कारण नहीं गया। ऐसा ही हुआ न?

दादाश्री : हाँ। *पुद्गल* ही है। सभी प्रकार के पकौड़े होते हैं, दस-बीस तरह के, लेकिन यदि आप कद्दू के पकौड़े खाते हो तब मैं जान जाता हूँ कि, 'यह कद्दू का क्यों खा रहा है!' आप कहते हो कि, 'मुझे कद्दू का शौक है', ये सब झूठे बहाने बताते हो लेकिन यदि अंदर कद्दू के परमाणु आए हों तभी खा पाते हो।

हर एक वस्तु स्वभाव से भिन्न होती है और स्वभाव से भिन्न हुई वस्तु एकाकार नहीं हो सकती।

आत्मा और *पुद्गल* असंगी हैं। दोनों के स्वभाव अलग हैं। कोई किसी की मदद नहीं करता है। कोई किसी को नुकसान नहीं पहुँचाता। हेल्प भी नहीं करता और नुकसान भी नहीं पहुँचाता। आप खुद ही अपना नुकसान कर रहे हो, वह इसलिए क्योंकि *पुद्गल*-आश्रित हो।

प्रश्नकर्ता : यदि आत्मा विभाव भाव में जाता है, तो वह स्वभाव में कब आएगा?

दादाश्री : जो विभाव में गया है, वह अभी तुरंत ही स्वभाव में नहीं आएगा न! जब वह विभाव खत्म होगा तब स्वभाव में आएगा। स्वभाव में आने के बाद में कोई दिक्कत नहीं है लेकिन विभाव में अर्थात्

इस पौद्गलिक ज्ञान में आ गए हैं। स्वभाव अर्थात् स्वाभाविक ज्ञान और विभाव अर्थात् पौद्गलिक ज्ञान। अब वह क्रम पूर्वक कम होगा। एकदम से, झटके से नहीं जाएगा। भूल किसकी है? भुगते उसकी। हाँ, इसमें आत्मा (व्यवहार आत्मा) को भुगतना पड़ता है और आत्मा की भूल है, *पुद्गल* का क्या जाएगा?

प्रश्नकर्ता : और आत्मा यदि नहीं भोगे तो कुछ भी नहीं है?

दादाश्री : लेकिन भोगेगा कैसे नहीं? जब स्वभाव में आ जाएगा तभी नहीं भोगेगा। ज्ञाता-दृष्टा बन जाए, फिर भले ही *पुद्गल* शोर मचाता रहे!

प्रश्नकर्ता : अनंतज्ञान, अनंतदर्शन और चरित्र - तो चरित्र क्या है?

दादाश्री : स्वभाव में रहना, वही चरित्र है। ज्ञाता-दृष्टा रहना, वही। आप मुझे गालियाँ दो तो मैं इस चीज़ का ज्ञाता-दृष्टा रहता हूँ कि यह अंबालाल क्या कर रहा है।

भावना में से वासना...

प्रश्नकर्ता : वासना और भावना, इन दोनों के बीच का अंतर समझाइए।

दादाश्री : अब भावना में से वापस वासना उत्पन्न होती है। भावना नहीं हो तो वासना उत्पन्न ही नहीं होगी। विभाव करेगा तभी वासना उत्पन्न होगी न! और यदि स्वभाव में चला जाएगा तो निर्वासनिक हो जाएगा। आत्मा के स्वभाव में चला जाए तो हो जाएगा, खत्म हो जाएगा। यह तो विभाव करता है, भौतिक सुख का भाव, इसलिए वासना में जाता है। भौतिक सुख की भावना, वही वासना है। अत: भावना और वासना में अंतर नहीं है।

प्रश्नकर्ता : भौतिक सुख की जो भावना है, वही विभाव है न?

दादाश्री : वही विभाव है, वही वासना है।

इसीलिए यह 'अक्रम विज्ञान' ऐसा है कि वह बाहर किसी में भी हाथ ही नहीं डालता। वह तो कहता है, 'तू तेरे भाव में, स्वभाव में आ जा'।

आत्मा की विभाविक अवस्था की वजह से राग-द्वेष हैं और स्वाभाविक अवस्था से वीतराग है!

जो खुद के स्वभाव में परिणामित होता है, उसे इस तरफ व्यवस्थित ही रहता है।

चेतनधारा चेतन स्वभाव में है, जड़धारा जड़ स्वभाव में है, दोनों अलग-अलग धाराएँ अपने-अपने स्वभाव में बह रही हैं। पहले तो दोनों एक ही धारा में बहकर विभाव में परिणामित हो रही थीं।

स्वभाव से विकारी नहीं है पुद्गल

प्रश्नकर्ता : क्या *पुद्गल* के विकारी होने का स्वभाव है?

दादाश्री : नहीं, उसका अपने आप विकारी होने का स्वभाव नहीं है।

प्रश्नकर्ता : तो विकारी क्यों हो जाता है?

दादाश्री : सक्रिय स्वभाव वाला है, इसलिए। अक्रिय नहीं है। जड़ खुद सक्रिय है, अर्थात् स्वयं क्रियावान है, क्रियावान! बाकी के तत्त्व अक्रिय हैं, लेकिन यह सक्रिय है, लेकिन इस प्रतिष्ठित आत्मा के ये जो व्यतिरेक गुण हैं न, उनकी वजह से यह दशा हो गई है। वर्ना *पुद्गल* ऐसा नहीं है। रक्त निकले, पीप निकले, ऐसा नहीं है। व्यतिरेक गुण और फिर वे भी पावर चेतन सहित।

व्यतिरेक गुणों को हम खुद का मानते हैं। उन्हीं गुणों का हम पर असर होता है, वर्ना आत्मा वैसा नहीं है।

प्रश्नकर्ता : तो दादा, विभाव से जो *पुद्गल* विकृत हुआ है, अब आप जब ज्ञान के समय शुद्धात्मा का लक्ष्य देते हैं, लेकिन विकृत हो चुका *पुद्गल* शुद्ध करना पड़ेगा न?

दादाश्री : ऐसा है न, जिसमें फँस चुके हो उसका निबेड़ा तो लाना ही पड़ेगा न! अब जहाँ पर खुद को समझ में आ गया कि इन ज्ञानी से आत्मज्ञान, भेदविज्ञान सुनना है। तो उसे खुद को जो सब परेशानियाँ थीं वे सब खत्म हो गई। अब उसे खुद को उनका *निकाल* (निपटारा) कर देना है। कुदरती रूप से जो अन्य परेशानियाँ उलझन में डाल रही थीं, वे खत्म हो गईं और जो उलझन वाली नहीं हैं, उनका अब हम *निकाल* कर देंगे। वे मूल उलझन वाली, जो खत्म नहीं हो रही थीं, वे भेदविज्ञान से खत्म हो गईं और खुद अलग हो गया। माना हुआ बंध छूट गया।

वास्तव में तो यह बंध भी माना हुआ है। सबकुछ माना हुआ ही है। हम क्या कहना चाहते हैं कि सिर्फ बिलीफें ही रोंग हैं। अन्य कुछ भी नहीं बिगड़ा है। वह यदि राइट बिलीफ हो जाए तो बस हो चुका! जगत् की संज्ञा से चलते हैं, लोकसंज्ञा से। तो अगर रोंग बिलीफ नहीं बैठ रही हो तो भी बैठा देते हैं लेकिन यदि ज्ञानी की संज्ञा से चलें तो, रोंग बिलीफ खत्म हो जाती है। हम मुख्यत: क्या बताते हैं कि ''तेरी' यह बिलीफ रोंग है, यह रोंग है, यह रोंग है'। अन्य किसी भी जगह पर यह बात नहीं बताते हैं।

अंत में आना है स्वभाव में

प्रश्नकर्ता : आत्मा का अंतिम पद कौन सा है?

दादाश्री : वही, सनातन सुख! शाश्वत सुख, बस। खुद के स्वभाव में आ जाना ही अंतिम पद है। अभी विभाव में है, विशेष भाव में है। आत्मा खुद के विशेष परिणाम के सभी अनुभव लेते-लेते आगे बढ़ता है।

प्रश्नकर्ता : हर एक मनुष्य में आत्मा होता है, तो उस आत्मा का ध्येय क्या है?

दादाश्री : उसकी जो स्वाभाविक दशा है न, उस स्वाभाविक दशा में आने का उसका ध्येय है। अभी यह विशेष भावी दशा है।

सपोज़ से मिलता है यों जवाब

प्रश्नकर्ता : आपने जो तरीका बताया, उस तरीके का पता नहीं चला। उस तरीके पर प्रकाश डालिए। आपने कहा था न कि सपोज़ हंड्रेड परसेन्ट है, आप जवाब लाते हो, लेकिन तरीका पता नहीं है। तरीके के बिना जवाब ले आते हो, वह कौन सा तरीका है?

दादाश्री : एक रकम शाश्वत है और एक टेम्परेरी रकम है। अनंत काल से दोनों का गुणा करता रहा है। जब तक वह गुणा करने की शुरुआत करता है, तब तक तो वह टेम्परेरी गायब हो जाता है और फिर वापस टेम्परेरी को सेट करता है और वापस जैसे ही गुणा करने की शुरुआत करता है, वह गायब हो जाता है। दोनों परमानेन्ट होने चाहिए। एक टेम्परेरी और एक परमानेन्ट है। खुद स्वभाव को लेकर परमानेन्ट है और विशेष भाव को लेकर टेम्परेरी है। विशेष भाव को लेकर, जब उसे ऐसा समझ में आएगा कि 'मैं परमानेन्ट हूँ' तो पूरा हल आ जाएगा। वही तरीका है, बाकी अन्य कोई तरीका नहीं है।

प्रश्नकर्ता : विशेष भाव से टेम्परेरी कहा है तो वह कौन सा विशेष भाव है?

दादाश्री : आत्मा का स्वाभाविक भाव है और उससे अधिक जानने का जो प्रयत्न हुआ कि 'यह सब क्या है? ये ससुर हैं और ये मामा हैं' उस विशेष भाव को जानने गया, उसी से यह फँसाव हो गया। यदि उस विशेष भाव को जानना बंद हो जाएगा तो स्वभाव में आ जाएगा।

शुक्लध्यान भी है विभाव

वस्तु जब खुद के स्वभाव की *भजना* (उस रूप होना, भक्ति) करती है तो उसे धर्म कहा जाता है। जबकि ये लोग अवस्तु के स्वभाव की *भजना* को धर्म मानते हैं। मोक्ष तो आत्मा का स्वभाव ही है, फिर कहाँ लेने जाना है।

प्रश्नकर्ता : 'वस्तु सहाओ धर्मों'। वस्तु का स्वभाव, आत्मा का स्वभाव, वही धर्म है।

दादाश्री : हाँ। बाकी, स्वभाव में धर्मध्यान नहीं है। आत्मा का स्वभाव धर्मध्यान नहीं है। आत्मा का जो विशेष भाव है, वह धर्मध्यान है। जो विभाव है, वह धर्मध्यान है। आत्मा का स्वभाव सिर्फ मोक्ष है, अन्य कोई भी ध्यान नहीं है। स्वभाव में ध्यान-व्यान नहीं होता। यह तो, आत्मा के विभाव में धर्मध्यान है, शुक्लध्यान है, आर्तध्यान है, रौद्रध्यान है, सभी ध्यान विभाव दशा हैं।

प्रश्नकर्ता : शुक्लध्यान भी विभाव है?

दादाश्री : हाँ, शुक्लध्यान भी विभाविक है।

प्रश्नकर्ता : इसलिए क्योंकि शुक्लध्यान की श्रेणी पर पहुँच रहा है?

दादाश्री : हाँ, जब तक उसे शुक्लध्यान रहता है, तब तक पूर्णाहुति नहीं हुई है। पूर्णाहुति की तैयारी हो रही है। शुक्लध्यान पूर्णाहुति की तैयारी करवाता है लेकिन वह ध्यान कभी न कभी छूट जाना चाहिए। जो छूट जाता है, वह सारा विशेष भाव, विभाव कहलाता है। शुक्लध्यान प्रत्यक्ष मोक्ष का कारण है और धर्मध्यान परोक्ष मोक्ष का कारण है।

स्वभाव का मरण ही भावमरण है

ज्ञानी मिल जाएँ और ज्ञान की प्राप्ति कर ले तो अजन्म स्वभाव प्रकट हो जाता है और जन्मोंजन्म का स्वभाव खत्म हो जाता है।

इसीलिए श्रीमद् राजचंद्र ने कहा है न कि '*क्षण क्षण भयंकर भावमरणे कां अहो राची रहो।*' भावमरण का अर्थ क्या है? स्वभाव का मरण हुआ और विभाव का जन्म हुआ। अवस्था में 'मैं', वह विभाव का जन्म हुआ और यदि हम अवस्था को देखें तो स्वभाव का जन्म होगा।

और इसीलिए हमने 'आपको' आत्मा के स्वभाव में रख दिया है। अब उसे उल्टा मत होने दो। आत्मा को उसके स्वभाव में रखा है, स्वभाव ही उसे मोक्ष में ले जाएगा। उसका स्वभाव ही मोक्ष है लेकिन हम दूसरी तरफ चले, जैसा लोगों ने बताया, उसी अनुसार इसलिए यह दशा हो गई

है। अब देखना, इतना संभालना कि फिर से ज़रा सा भी कच्चा न पड़ जाए। बार-बार यह ताल नहीं मिलेगा!

प्रश्नकर्ता : आपकी ये जो पाँच आज्ञाएँ हैं, जैसे-जैसे इन पाँच आज्ञाओं में रहेंगे तो फिर स्वभाव में परिणामित होगा न?

दादाश्री : अवश्य ही। स्वभाव में परिणामित होने का ही रास्ता है यह और जब पूर्ण रूप से स्वभाव में आ जाए तो उसे कहते हैं मोक्ष। यहाँ पर जीते जी ही मोक्ष। मोक्ष वहाँ नहीं होना चाहिए। अगर यहाँ पर नहीं है तो किस काम का?

प्रश्नकर्ता : कमल पानी में उगता है इसके बावजूद भी वह पानी से भीगता नहीं है।

दादाश्री : पानी उसे छू नहीं सकता, उसमें ऐसा स्वभाव है। आत्मा का स्वभाव ऐसा है कि संसार बिल्कुल भी छू नहीं सकता और काम चलता रहता है लेकिन स्वभाव में नहीं आ पाता। स्वभाव में कैसे आएगा? ज्ञानी पुरुष जो कि मुक्त पुरुष होते हैं, वे ला देते हैं, बाकी अन्य कोई व्यक्ति, जो बंधा हुआ है, वह तो नहीं कर सकेगा न!

[१०]

विभाव में चेतन कौन? पुद्‌गल कौन?

'आप' चेतन, 'चंदू' पुद्‌गल

आत्मा खुद अविनाशी है। 'आप' खुद अविनाशी हो लेकिन आपको 'रोंग बिलीफ' है कि, 'मैं चंदूभाई हूँ', इसलिए आप विनाशी हो। 'मैं चंदूभाई हूँ' वह विनाशी है, उसे आप 'खुद मैं हूँ' ऐसा मान बैठे हो। आप 'खुद' तो सनातन हो लेकिन वह भान उत्पन्न नहीं होता। वह भान हुआ कि हो गया मुक्त! अत: जब तक 'आपको' 'आत्मा' का भान नहीं होता तब तक ये विशेष गुण रहते हैं लेकिन भान होने के बाद में ये विशेष गुण चले जाते हैं।

विशेष भाव वह खुद का दरअसल गुण नहीं है, वह व्यतिरेक गुण है इसलिए छूट जाएगा। उसका संयोग हुआ है, उसका वियोग हो जाएगा। लेकिन वह कब होगा? तब जब कोई स्वाभाविक भाव में ला देगा और इस विशेष भाव का अस्त हो जाएगा। जब मूल स्वभाव में आ जाएगा, तब। वर्ना सब ऐसे का ऐसा ही चलता रहेगा। इस ज्ञान के बाद में जब खुद स्वभाव भाव में आता है तब ठिकाना पड़ता है। अब 'आपको' ऐसा स्वभाव भाव हो गया है कि 'मैं शुद्धात्मा हूँ'। पहले ऐसा विशेष भाव था कि 'मैं चंदूभाई हूँ'।

अन्य वस्तु (आ मिलती) है तो यह 'मैं' (अहम्) उत्पन्न होता है, वर्ना नहीं होता। यह ज्ञान मिलने के बाद में, यदि 'उसे' वह तत्त्व न मिले तो फिर विभाव नहीं होगा। यहाँ पर जब तक संसार में (अज्ञान दशा में) है, तब तक सभी तत्त्व साथ में रहेंगे। जब यह ज्ञान मिलता है तब 'खुद' समझ जाता है, और तब से अन्य तत्त्वों पर ध्यान नहीं देता।

'अहम् चंदू', वह विशेष भाव

प्रश्नकर्ता : चेतन और *पुद्‌गल* (जो पूरण और गलन होता है) के संयोग से उत्पन्न होने वाला, अर्थात् पहले यह अहम् उत्पन्न होता है?

दादाश्री : अहम् ही उत्पन्न होता है न!

प्रश्नकर्ता : पहले अहम् है और उसके बाद में *पूरण* होता है?

दादाश्री : *पूरण* को ही अहम् कहते हैं न! 'मैं ही हूँ न!'

प्रश्नकर्ता : क्या *पूरण* ही अहम् है?

दादाश्री : वही ऐसा कहता है न कि 'मैं हूँ'! बिलीफ ही है न, उसकी! *गलन* को 'मैं' कहता है और *पूरण* को भी 'मैं' कहता है। भोग रहा है उसे भी 'मैं' कहता है और जो कर रहा है, उसे भी 'मैं' कहता है।

प्रश्नकर्ता : यानी जो इस *पूरण-गलन* को खुद का मानता है, वही 'मैं' है?

दादाश्री : जब ऐसा मानता है कि 'जो *पूरण* कर रहा है वह 'मैं' हूँ', उस समय प्रयोगसा होता रहता है और जब ऐसा मानता है कि, 'भोग रहा हूँ', उस क्षण मिश्रसा होता रहता है।

प्रश्नकर्ता : जो इन सभी इफेक्ट्स को खुद का मानता है, क्या वही अहम् है?

दादाश्री : वही अहम् है।

प्रश्नकर्ता : तो क्या अभी भी हमें अक्रम मार्ग में विशेष भाव उत्पन्न होगा क्या? विशेष भाव बरतता है न?

दादाश्री : नहीं, विशेष भाव बरतेगा तो वह अक्रम ज्ञान है ही नहीं! अक्रम ज्ञान में विशेष भाव है ही नहीं! जो विशेष भाव को तोड़ दे, उसी को कहते हैं अक्रम ज्ञान! यह तो अक्रम विज्ञान है!!

प्रश्नकर्ता : खुद शुद्धात्मा की श्रद्धा में आ गया है और जब ऐसा

भान हुआ कि 'मैं शुद्धात्मा हूँ' तब पूरा अहम् जो कि विशेष भाव कर रहा था, वही खत्म हो गया न?

दादाश्री : हाँ, 'मैं शुद्धात्मा हूँ', ऐसा जो भान हुआ, उसी के लिए कहते हैं कि विशेष भाव खत्म हो गया।

प्रश्नकर्ता : तो, 'मैं इसका चाचा हूँ, इसका मामा हूँ', ये सब जो भान हैं, वे?

दादाश्री : नहीं, लेकिन मूल में विशेष भाव रहा ही नहीं है न!

प्रश्नकर्ता : तो अज्ञानी को? जिसे स्वरूप का भान नहीं है, उसे?

दादाश्री : उसके तो सभी भाव विशेष भाव ही हैं न!

प्रश्नकर्ता : अर्थात् खुद के स्वरूप का भान नहीं रहना, क्या वही विशेष भाव है? उसी वजह से वह भाव होता है कि 'मैं चंदूभाई हूँ, मैं यह हूँ'। क्या वही विशेष भाव है?

दादाश्री : हाँ! वे ही सारे विशेष भाव हैं। जहाँ-जहाँ पर अहंकार करता है, वे सभी विशेष भाव हैं। मूल अहंकार खुद ही विशेष भाव है। फिर दिन भर उसी के सारे पर्याय उत्पन्न होते रहते हैं और अपने यहाँ पर यह ज्ञान देने के बाद में विशेष भाव रहता ही नहीं है।

प्रश्नकर्ता : अक्रम विज्ञान में, उसके बाद सिर्फ चरित्र मोह ही बचता है?

दादाश्री : हाँ, चंचल (भूत) निकल गई और (शरीर पर) सिर्फ चोट के निशान ही बचे हैं। उस चोट का अनुभव होता रहता है!

प्रश्नकर्ता : वे दोनों जो नज़दीक आते हैं, वे भी क्या कुदरत के नियम के अनुसार नज़दीक आते हैं?

दादाश्री : वह तो कुदरत का नियम है! इस प्रकार परिवर्तनशील होने की वजह से यह सब बदलता रहता है। यह सब कुदरत का है। कुदरत *ऊपरी* (बॉस, वरिष्ठ मालिक) नहीं है। इन सब संयोगों का मिलना, इसी को कहते हैं कुदरत।

परिणामों की परंपरा...

प्रश्नकर्ता : इस विशेष भाव के उत्पन्न होने के बाद, उसका सातत्य किस आधार पर रहा हुआ है?

दादाश्री : उसके बाद तो फिर विशेष भाव में से वापस विशेष भाव ही उत्पन्न होते रहते हैं। फिर तो उसकी खुद की मान्यता ही पूरी डिफरन्ट हो गई न, बदल गई न! अब फिर जब उसे वापस ऐसा भान होता है कि 'खुद कौन हूँ और मेरा अपना स्वभाव क्या है', तब वह उसे विशेष भाव से बाहर निकालता है, कि 'भाई, आप यह नहीं हो, यह नहीं हो, यह नहीं हो। आप यह हो'। तब फिर सब विलय हो जाता है। स्वरूप जागृति चली गई न, इसलिए फिर सातत्य बचा और जब वह स्वरूप जागृति आ जाती है तो फिर वापस जैसे था वैसे का वैसा ही हो जाता है, सातत्य चला जाता है। खुद बिल्कुल भी नहीं बदला है। पूरी रोंग बिलीफ ही लग गई है, इस विशेष भाव की वजह से।

प्रश्नकर्ता : इस विशेष भाव में से भावक उत्पन्न हुआ है?

दादाश्री : हाँ, भावक उत्पन्न हो गया है।

प्रश्नकर्ता : अब, भावक और भाव, एक ही हैं या अलग हैं?

दादाश्री : दोनों अलग हैं। भावक अर्थात् आपको भाव नहीं करने हों फिर भी करवाता है, उसे कहते हैं भावक। भावक, भाव करवाता है।

इस शरीर में भावक जैसी तो कितनी ही चीज़ें हैं। क्रोधक, क्रोध करवाता है। लोभक, लोभ करवाता है। ऐसे 'क' वाले तो अंदर बहुत सारे हैं। उन्हीं की आबादी बढ़ गई हैं। ऐसे में मूल राजा की क्या दशा होगी? बाकी की बस्ती बेहिसाब है!

प्रश्नकर्ता : भावक ने भाव करवाए, उनमें से फिर दूसरे भाव उत्पन्न हुए तो अब फिर उनकी वजह से यह सातत्य रहा है?

दादाश्री : उसके बाद फिर भावक मज़बूत होता जाता है। जैसे-जैसे भावक भाव करवाता है और हम वे भाव करें तब भावक मज़बूत

होता जाता है और वैसे-वैसे उसका वर्चस्व बढ़ता जाता है! उससे सातत्य भाव उत्पन्न होता है लेकिन फिर अंदर परेशान हो जाता है।

वे व्यतिरेक गुण नाशवंत हैं लेकिन पूरा जगत् उन गुणों के अधीन है। भ्रांति से इतना फँसाव हो गया है कि जीव उस भ्रांति के अधीन ही बरतते रहते हैं। उसी को चेतन मानते हैं। 'मुझे ही क्रोध हो रहा है, और किसे हो रहा है? मैं ही लोभ कर रहा हूँ'। जेब में से पच्चीस रुपए खो जाएँ तब भी लोभी को पूरे दिन याद आते रहते हैं, वे हैं लोभ के गुण। अगले दिन भी याद करता है। यदि वह लोभी नहीं है तो उसे कुछ भी नहीं है।

स्वभाव में रहकर होता है विभाव

प्रश्नकर्ता : आपने ऐसा कहा है कि सिर्फ चेतन तत्त्व में ही स्वभाव में रहने की शक्ति है और विभाव में रहने की भी शक्ति है।

दादाश्री : हाँ! तो फिर?

प्रश्नकर्ता : यदि यह चेतन तत्त्व विभाव करता है तो वह स्वभाव में नहीं आ सकेगा न?

दादाश्री : नहीं, स्वभाव में ही रहता है। चेतन खुद के स्वभाव से बाहर जाता ही नहीं है और कुछ संयोगों की वजह से विशेष भाव उत्पन्न होता है। वे संयोग चले जाएँगे तो बंद हो जाएगा।

प्रश्नकर्ता : क्या शुद्ध चेतन को विशेष भाव नहीं हो सकता?

दादाश्री : वह तो स्वभाव में ही रहता है। यह विशेष भाव तो बाहर से उत्पन्न हो गया है। उन संयोगों के मिलने से यह विशेष भाव उत्पन्न हुआ था और जब हम उसे ज्ञान देते हैं तो वह अलग हो जाता है इसलिए विशेष भाव खत्म हो जाता है। यानी यह जो 'मैं चंदूभाई हूँ', वह विशेष भाव था, वह 'मैं शुद्धात्मा हूँ' होते ही खत्म हो जाता है।

प्रश्नकर्ता : उसके बाद क्या वह वापस इच्छा नहीं करता? विशेष भाव नहीं करता?

दादाश्री : नहीं करता है। यदि करेगा तो वापस उससे चिपक पड़ेंगे।

प्रश्नकर्ता : अर्थात् कर सकता है। करने की उसके पास सत्ता तो है न?

दादाश्री : हाँ। लेकिन यदि 'आपने' आज्ञा का पालन नहीं किया तो विशेष भाव होगा ही। जो आज्ञा पालन नहीं करेगा न, उसे यह सब हो सकता है। जो आज्ञा पालन करेगा उसे ऐसा कुछ भी नहीं होगा।

प्रश्नकर्ता : तो चेतन की ताकत तो है न, विशेष भाव करने की?

दादाश्री : नहीं, वह तो संयोगों का असर है।

नींव में सर्वत्र संयोग ही हैं

प्रश्नकर्ता : तो फिर संयोग और चेतन दोनों, अनंत हैं?

दादाश्री : हाँ, अनंत हैं।

प्रश्नकर्ता : तो साथ ही संयोग भी अनंत हुए न?

दादाश्री : हाँ, संयोग अनंत हैं। अनादि से, अनंत काल तक का है लेकिन यदि अलग किया जाए तब तो कुछ हुआ ही नहीं है। ये सब खत्म हो जाएँगे और दोनों अपने-अपने स्वभाव में आ जाएँगे। आमने-सामने जो प्रभाव पड़ रहा था, वह खत्म हो जाएगा। 'यह मैं नहीं हूँ' कहते ही सबकुछ एकदम से अलग हो जाएगा।

प्रश्नकर्ता : लेकिन अलग होने के बाद में भी वे संयोग तो रहेंगे ही न?

दादाश्री : संयोगों का सवाल नहीं हैं। संयोगों से ही अज्ञान उत्पन्न हुआ था। वह अज्ञान चला गया तो संयोग अपने आप ही धीरे-धीरे छूटते-छूटते खत्म हो जाएँगे।

संयोगों के आधार पर अहंकार खड़ा हुआ है और अहंकार के आधार पर संयोग टिका हुआ है। जिसका अहंकार चला गया उसके संयोग चले गए। यह सब रोंग बिलीफ की वजह से है।

'मैं' को करना है शुद्ध...

प्रश्नकर्ता : वह चेतन तत्त्व शुद्ध होकर निकल गया। उसके बाद यह जो अचेतन तत्त्व बचा, वह शुद्ध रूप में निकल जाएगा?

दादाश्री : शुद्ध हो ही जाता है, देर ही नहीं लगती न शुद्ध होने में। जब वह शुद्ध हो जाता है तभी तो आत्मा अलग होता है वर्ना होगा ही नहीं। जितना विभाविक हो गया है, विशेष भाविक *पुद्‌गल* (जो पूरण और गलन होता है), जब वह पूरा ही शुद्ध हो जाएगा तब आत्मा अलग हो जाएगा। इसीलिए हम कहते हैं न, *निकाल* करो फाइलों का। जैसे-जैसे समभाव से *निकाल* करता जाएगा वैसे-वैसे अलग होता जाएगा।

प्रश्नकर्ता : वे जो दूसरे तत्त्व हैं, वे सभी तत्त्व अपने-अपने स्वभाव में हैं लेकिन तू तेरे स्वभाव में आ जा। अर्थात् यदि कर्तापन में से निकल जाएगा तब ऐसा होगा?

दादाश्री : यह जो 'शुद्धात्मा' है, वही 'आप' हो और वही आपका स्वरूप है। अब 'आप' वहाँ से अलग हो गए हो, तो उसे देख-देखकर आप उस रूप हो जाओ। वे अक्रिय हैं, वे ऐसे हैं, वैसे हैं और ऐसा सोचते-सोचते आप उसी रूप (जैसे) हो जाओ। यह तो, व्यतिरके गुण उत्पन्न होने की वजह से 'अपनी' मान्यता बन गई है। अत: यह हमें देखकर करना है।

भाव भी परसत्ता

प्रश्नकर्ता : कभी-कभी ऐसा प्रश्न उठता है कि किसी भी वस्तु के लिए सिर्फ भाव ही रखना है? फिर देखते ही रहना है कि क्या होता है?

दादाश्री : भाव करना भी हाथ में नहीं है। हमने भाव निकाल दिया है। भाव क्रमिक मार्ग में है। हमने भाव बिल्कुल ही निकाल दिया है! पूरा भाव ही डिसमिस कर दिया है। आपको अभी जो इच्छाएँ होती हैं, वे भाव नहीं हैं। जो खाने का भाता है, आम भाते हैं, तो वह भाव नहीं है। भाव बिल्कुल अलग चीज़ है। यदि 'आप चंदूभाई हो' तभी भाव होगा, वर्ना नहीं हो सकता। 'आप चंदूभाई नहीं हो' इसलिए भाव नहीं है। अब 'मैं चंदूभाई',

वह विभाव था। उसे जगत् ने भावकर्म कहा है और 'मैं शुद्धात्मा हूँ', वह खुद का स्वभाव है। इस विभाव को भावकर्म कहा गया है। वह चला जाए तो सभी कुछ चला जाएगा। कितना सुंदर, साहजिक मार्ग! बगैर मेहनत का! क्या कोई मेहनत करनी पड़ी आपको? और आनंद कम ही नहीं होता न?

प्रश्नकर्ता : आनंद कम नहीं होता। बहुत ही आनंद रहता है।

दादाश्री : यह ज्ञान लेने के बाद में आत्मा विभाव में जाता ही नहीं है।

क्रोध, ज्ञान के बाद...

प्रश्नकर्ता : दादा! ज्ञान लेने के बाद यदि इन महात्माओं में से किसी को आप पूछो न कि अब क्रोध-मान-माया-लोभ बचे हैं? तो कोई कहता है कि कुछ बचे हैं और कोई ऐसा भी कह देता है कि 'नहीं दादा! जागृति रहती है'। अत: उन्हें अब प्रज्ञा की वजह से विशेष परिणाम उत्पन्न नहीं होते हैं न?

दादाश्री : ऐसा है, क्रोध कब कहा जाता है? मन में क्रोध के परमाणु फूटते ही आत्मा उसमें तन्मयाकार हो ही जाता है, इसलिए उसे क्रोध कहा जाता है।

प्रश्नकर्ता : लेकिन कुछ समय के लिए तो उसे ऐसा रहेगा न? मान लीजिए कि उतनी जागृति नहीं रही, उतने समय तक तो वह एकाकार हो जाएगा तो फिर क्या बाद में पश्चाताप करने से वह खत्म हो जाएगा?

दादाश्री : ज्ञान लेने के बाद में तो तन्मयाकार होता ही नहीं है। वह तो उसे खुद को ऐसा आभास होता है कि मैं तन्मयाकार हो गया। उसे पता चल गया न, इसलिए वह तन्मयाकार नहीं होगा।

प्रश्नकर्ता : यदि तन्मयाकार हो जाएगा तो फिर उसे विशेष परिणाम उत्पन्न होगा ही?

दादाश्री : तन्मयाकार हो गया तो विशेष परिणाम उत्पन्न होगा ही। फिर उसे पर-परिणाम कहा जाता है। विशेष परिणाम तो उसे कहते हैं जो शुरुआत में होता है। दो चीज़ों को साथ में रखने से...

प्रश्नकर्ता : अत: वह संयोग आ मिला, तो शुरुआत हो गई?

दादाश्री : हाँ, और उसके बाद पर-परिणाम कहलाता है।

प्रश्नकर्ता : भुगतना, वह पर-परिणाम है?

दादाश्री : हर प्रकार का भुगतना। दु:ख भुगतना, सुख भोगना वह सारा ही। यह संसार मात्र पर-परिणाम है। इसीलिए हम कहते हैं न कि आपके हाथ में कोई सत्ता नहीं है।

इसीलिए हम इन लोगों से कहते हैं कि 'भाई, व्यवस्थित कर रहा है, अब तू नहीं करता। पहले भी नहीं कर रहा था, लेकिन उस समय तुझे भान नहीं रहता था'। रह ही नहीं सकता न! लेकिन (ज्ञान लेने के बाद में) अब अभी यह बहुत ही अच्छी जागृति हो गई है इसलिए अब भान रहता है और फिर जैसे-जैसे दो-चार दिनों तक आज्ञा में रहेगा, वैसे-वैसे व्यवस्थित पर विश्वास होता जाएगा। फिर उसका वह विश्वास दिनोंदिन बढ़ता जाएगा, मल्टिप्लिकेशन होता जाएगा। जबकि उसमें (क्रमिक में) तो आज कहा और वापस कल भूल जाता है। उसे मूर्छित कहते हैं। अब भूलेंगे नहीं न! कितना सुंदर विज्ञान है!

ज्ञानी की गर्जना, जागृत करे स्वभाव को

प्रश्नकर्ता : शुद्धात्मा जैसी वस्तु है, इस चीज़ का आभास किसे होता है? प्रतिष्ठित आत्मा को?

दादाश्री : सिंह जब दहाड़ता है तो सिंह का बच्चा, जो बकरियों के साथ घूम रहा था, वह बच्चा तुरंत ही अपने स्वभाव में आ जाता है और वह भी गर्जना करने लगता है। उसमें गुण है न! उसी प्रकार से जब ज्ञानी पुरुष ज्ञान देते हैं तो उस समय यह सब हाज़िर हो जाता है।

प्रश्नकर्ता : लेकिन क्या वह विशेष परिणाम चला जाता है?

दादाश्री : बंद हो जाता है पूरा, फ्रेक्चर हो जाता है।

प्रश्नकर्ता : अर्थात् क्या ऐसा नहीं है कि जो विशेष परिणाम उत्पन्न हुए, उनके माध्यम से आप शुद्ध को जानते हो?

दादाश्री : नहीं, बल्कि विशेष परिणाम तो पूरा ही अंधकार है। वह तो आवरण है। विशेष परिणाम से आप ऐसा पहचान ज़रूर जाते हो कि ये ज्ञानी हैं। 'ये ज्ञानी हैं', बुद्धि से ऐसा समझ में आता है।

प्रश्नकर्ता : बुद्धि से, लेकिन बुद्धि भी विशेष परिणाम है न?

दादाश्री : सब विशेष परिणाम ही हैं न!

प्रश्नकर्ता : अर्थात् यह ऐसा नहीं है कि प्रतिष्ठित आत्मा से आत्मा प्राप्त किया जा सकता है?

दादाश्री : नहीं, ऐसा नहीं है। बुद्धि से ज्ञानी को पहचानता है।

प्रश्नकर्ता : लेकिन यह जो अलग करने का होता है समझने की शक्ति से, यह फाइलों का समभाव से *निकाल* (निपटारा) करना, जागृति रखनी वगैरह यह सब कौन करवाता है?

दादाश्री : वह सब प्रज्ञा करवाती है।

प्रश्नकर्ता : तो फिर प्रज्ञा शुद्धात्मा के साथ का विशेष परिणाम नहीं है?

दादाश्री : नहीं! वह विशेष परिणाम नहीं है। वह शुद्धात्मा का, उसकी उपस्थिति में उत्पन्न होने वाला उसका खुद का गुण है लेकिन वह कब तक है? यहाँ पर जब यह काम कर लेगा न, तो फिर शुद्धात्मा में एकाकार हो जाएगा। अज्ञा विशेष परिणाम है और प्रज्ञा खुद का परिणाम है। विशेष परिणाम तो, क्रोध-मान-माया-लोभ, वे विशेष परिणाम कहलाते हैं। 'मैं', अहंकार और क्रोध-मान-माया-लोभ, वे सब विशेष परिणाम कहलाते हैं।

कषाय व्यतिरेक हैं, नहीं हैं 'तेरे'

प्रश्नकर्ता : मुझे अभी भी कभी-कभी गुस्सा आ जाता है। ऐसा पता चलता है कि गलत हो रहा है लेकिन गुस्सा आ जाता है।

दादाश्री : यों तो उस गुस्से से हमें क्या लेना-देना है? वैसा तो

होगा क्योंकि वह तो विशेष भाव है। और वह वियोगी स्वभाव वाला है। आकर चला जाएगा।

क्रोध-मान-माय-लोभ विशेष भाव से अतिरेक (इसका मतलब ही है व्यतिरेक) हो गए थे। आत्मा ने नहीं किए हैं और *पुद्गल* ने भी नहीं किए हैं, ये व्यतिरेक गुण उत्पन्न हो गए हैं। यदि इतना समझ में आ जाए न, तो फिर ऐसा भान चला जाएगा कि 'मुझे क्रोध-मान-माया-लोभ होते हैं'।

यह जो व्यतिरेक गुण उत्पन्न हुआ है, इससे लोग उलझन में पड़ गए हैं कि मुझ में से ये क्रोध-मान-माय-लोभ जा नहीं रहे हैं। 'अरे, वह गुण तेरा है ही नहीं, तू उनसे अलग हो जा न! इन दादा के पास आकर तू अलग हो जा न! वे अपने आप ही चले जाएँगे। न जाने कहाँ चले जाएँगे! व्यतिरेक गुण हैं न! अन्वय गुण नहीं हैं वे।'

अनादि के विभाव, ज्ञान होते ही...

प्रश्नकर्ता : लेकिन करोड़ों वर्षों से जो विभाव मिला हुआ है, वह कैसे छूटेगा?

दादाश्री : वह सब नहीं देखना है कि विभाव करोड़ों वर्षों से है। सिर्फ दृष्टि बदलने से ही ऐसा दिखाई दिया है। दृष्टि इस तरफ हो जाए तो फिर कुछ भी नहीं है। ऐसे घूम जाए तो वापस पिछला वह सब दिखाई ही नहीं देगा न! छूट ही जाएगा, रहेगा ही नहीं।

क्रोध-मान-माया-लोभ उत्पन्न हुए तो फिर (अज्ञान दशा में) 'उसने' इस *पुद्गल* पर दृष्टि डाली कि 'यह मैंने किया', तो फिर (*पुद्गल*) उससे चिपक गया। वास्तव में वह नहीं करता है लेकिन उसे ऐसा आभास होता है कि 'मैं कर रहा हूँ'। कोई लेशमात्र भी कुछ कर सके, वैसा नहीं है। बेकार ही इगोइज़म करता है। इगोइज़म अर्थात् कुछ भी न करना, एक सेन्ट भी न करना, इसके बावजूद भी ऐसा कहना कि 'मैंने किया', उसे कहते हैं इगोइज़म।

फर्क, ज्ञानी और अज्ञानी में...

प्रश्नकर्ता : आपने एक बार कहा था कि 'संयोग तो ज्ञानी के भी

होते हैं'। अब वे खुद भी उसे छूकर बैठे हैं तो वहाँ पर क्यों ज्ञानी को विशेष परिणाम उत्पन्न नहीं होता?

दादाश्री : संयोग तो ज्ञानी को भी मिलते हैं। संयोग तो सभी को मिलते हैं! ज्ञानी के सारे संयोग कठोर नहीं होते, हल्के होते हैं। तलवार आती है लेकिन उल्टी लगती है, सीधी नहीं लगती।

प्रश्नकर्ता : कर्म हल्के होते हैं या कोमल होते हैं?

दादाश्री : हल्के। आपको जो चोट लगती है न, वह बहुत ज़्यादा लगता है। जबकि हम पर खास असर नहीं होता।

प्रश्नकर्ता : अज्ञानी को भी संयोग मिलते हैं। तो क्या उनमें विशेष परिणाम उत्पन्न होते हैं?

दादाश्री : हाँ।

प्रश्नकर्ता : और ज्ञानी को भी संयोग मिलते हैं इसके बावजूद भी वहाँ पर विशेष परिणाम नहीं होते। वह किस वजह से?

दादाश्री : नहीं होते। हमें तो *निकाल* करना है, स्थापन नहीं करना है। अब (संयोग) *निकाल* होने के लिए आया है।

प्रश्नकर्ता : लेकिन विशेष परिणाम तो उत्पन्न होते हैं न, दोनों में ही?

दादाश्री : होते हैं न! लेकिन वह लक्ष्य में रहता है न कि 'वह (संयोग) स्थापित होने नहीं आया है!' इसलिए *निकाल* कर देते हैं। परिणाम तो सभी प्रकार के आते हैं लेकिन हमें समझना चाहिए कि 'यह मेरा नहीं है'। (ज्ञान के बाद मूल विशेष परिणाम अर्थात् 'मैं', हमेशा के लिए खत्म हो जाता है लेकिन 'मैं' में से उत्पन्न होने वाले अहंकार के जो विशेष परिणाम उत्पन्न होते रहते हैं। ज्ञानी उनका *निकाल* करते रहते हैं।)

[११]

जब विशेष परिणाम का अंत आता है तब...

अविनाशी, वस्तु तथा वस्तु के परिणाम भी...

संयोग मिलने पर परिणामी वस्तुएँ विपरिणामित हो जाती हैं। इसलिए संसार खड़ा हो जाता है। सोने को यदि लाखों सालों तक भी रखे रखो फिर भी उसका स्वभाव परिणाम नहीं बदलता। हर एक 'वस्तु' अपने स्वभाव परिणाम को ही *भजती* (उस रूप होना, भक्ति) है। विपरिणाम अर्थात् विशेष परिणाम, विरुद्ध परिणाम नहीं!

यदि एक ही वस्तु हो तो वह उसके खुद के ही परिणाम में रहती है, स्वपरिणाम में ही रहती है। लेकिन यदि दो वस्तुएँ मिल जाएँ तो विशेष परिणाम उत्पन्न हो जाते हैं। यह तो ऐसा है कि देह में पाँच वस्तुएँ एक साथ रहती हैं, इसलिए भ्रांति से विशेष परिणाम उत्पन्न होते ही *पुद्गल* (जो पूरण और गलन होता है) के पास सत्ता आ जाती है और उसके परिणाम भुगतने पड़ते हैं। दूध का बिगड़ जाना, वह तो उसका स्वभाव है लेकिन दही बनना, वह उसका विशेष परिणाम है।

वस्तुओं के संयोगों की वजह से ये विपरिणाम दिखाई देते हैं और विपरिणाम को देखकर लोग उलझन में पड़ जाते हैं। मैं कह रहा हूँ कि बात को समझो। मेहनत करने की ज़रूरत नहीं है। स्वपरिणाम को समझो और विशेष परिणाम को समझो। आत्मा विभाविक (विरुद्ध भावी) नहीं हुआ है। यह तो विशेष परिणाम है और वास्तव में तो विशेष परिणाम का 'एन्ड' (अंत) आ जाता है।

'वस्तु' अविनाशी है। उसके परिणाम भी अविनाशी हैं। सिर्फ

विशेष परिणाम विनाशी हैं। यदि हम इस बात को समझ लें तो दोनों का 'मिक्स्चर' नहीं होगा। अर्थात् दोनों अपने खुद के परिणाम को *भजेंगे*।

'हम में' तो 'आत्मा' आत्मपरिणाम में रहता है और 'मन' मन के परिणाम में रहता है। मन में तन्मयाकार होने पर विशेष परिणाम आता है। 'आत्मा' स्वपरिणाम से परमात्मा है! दोनों अपने-अपने परिणाम में आ जाएँ और अपने-अपने परिणाम को *भजें* तो उसी को कहते हैं मोक्ष!

यदि 'खुद ने' यह जान लिया कि यह 'विशेष परिणाम' है तो वही 'स्वपरिणाम' है। 'विशेष परिणाम' में अच्छा-बुरा नहीं होता। 'अज्ञान' से मुक्ति अर्थात् ये 'खुद के परिणाम' और ये 'विपरिणाम', इस प्रकार से दोनों अलग हैं, ऐसा समझता है। जबकि 'मोक्ष' का अर्थ है 'विशेष परिणाम' का बंद हो जाना! 'स्वभाव-परिणाम' को ही 'मोक्ष' कहा जाता है।

'दानेश्वरी' दान देता है या 'चोर' चोरी करता है, वे दोनों 'अपने-अपने' परिणाम को *भजते* (उस रूप होना, भक्ति) हैं, उसमें राग-द्वेष करने जैसा कहाँ रहा?

यदि वह खुद विशेष भाव में परिणामित हो जाए तो जीव बन जाता है और यदि विशेष भाव का ज्ञाता-दृष्टा रहे तो परमानंद देता है।

'विशेष परिणाम' से क्या हुआ? यह 'मिकेनिकल चेतन' बन गया, '*पुद्गल*' बन गया, '*पूरण-गलन*' वाला बन गया। जब तक 'अपना' स्वरूप 'वह' है, 'बिलीफ' भी वही है, तब तक छूट नहीं पाएँगे।

प्रतिक्रमण किस चीज़ के करने हैं? 'अपने' 'विपरिणाम' की वजह से ये जो संयोग मिलते हैं, वे (विपरिणाम) प्रतिक्रमण से मिट जाते हैं। वास्तव में दरअसल साइन्टिस्ट को प्रतिक्रमण की ज़रूरत ही नहीं है। यह तो इसलिए है कि लोग भुलावे में आ जाते हैं। असल साइन्टिस्ट तो इसमें उँगली डालेंगे ही नहीं। 'द वर्ल्ड इज़ द साइन्स!' (आप्तसूत्र-4177-4186)

प्रश्नकर्ता : तो फिर दादा, जब ये दो स्वतंत्र गुणधारी *पुद्गल*

मिलते हैं और विशेष भाव उत्पन्न होता है, तब फिर क्या वे अपने ओरिजनल स्वतंत्र गुणों को खो देते हैं?

दादाश्री : नहीं, स्वतंत्र गुण वैसे के वैसे ही रहते हैं। विशेष गुण उत्पन्न होते हैं।

प्रश्नकर्ता : मान लीजिए कि यह दूध है, दूध में से दहीं बना। यह विशेष भाव से ही हुआ है न?

दादाश्री : विशेष भाव से।

प्रश्नकर्ता : तो फिर, उसका दूध का गुण तो हुआ न, स्वतंत्र गुण? दूध का स्वतंत्र गुण...

दादाश्री : दूध कोई 'वस्तु' नहीं है। वह तो समझाने के लिए एक स्थूल उदाहरण है, एक्ज़ेक्ट 'वस्तु' नहीं है। 'वस्तु' अपने स्वभाव सहित अविनाशी होती है। दूध को 'वस्तु' नहीं कहा जा सकता न! इस जगत् में आँखों देखी कोई भी वस्तु, 'वस्तु' नहीं कही जा सकती। सुनी हुई कोई वस्तु, 'वस्तु' नहीं कही जा सकती। 'वस्तु' (शाश्वत) होनी चाहिए।

प्रश्नकर्ता : क्या दूध विशेष भाव है?

दादाश्री : दूध तो 'वस्तु' कहलाएगा ही नहीं न! जो छः अविनाशी तत्त्व हैं, उन्हें 'वस्तु' कहा जाता है जबकि दूध तो अवस्था है। अर्थात् ये छः तत्त्व, उन दो तत्त्वों के मिलते ही विशेष परिणाम उत्पन्न हो जाता है।

जो विपरिणाम को जाने, वही स्वपरिणाम

प्रश्नकर्ता : 'ये विशेष परिणाम हैं, यदि खुद ने वह जान लिया तो वही स्वपरिणाम है। विशेष परिणाम में अच्छा-बुरा नहीं होता। विशेष परिणाम बंद हो जाएँ तो उस स्वभाव-परिणाम को ही मोक्ष कहा जाता है।' यानी इसमें किस प्रकार से है, वह सब समझाइए न।

दादाश्री : स्वपरिणाम जानता है कि यह विशेष परिणाम है। उससे इमोशनलपन हो रहा है। 'यह खराब दिखाई देता है, फलाना दिखाई देता है, यह नालायक है, ऐसा है, वैसा है', ऐसा सब कहता है, वे सभी सिर्फ विशेष परिणाम हैं। ये सब विशेष परिणाम हैं। जो ऐसा जानता है कि ये सब विशेष परिणाम हैं, वही स्वपरिणाम है।

पूरा ही *पुद्गल* 'व्यवस्थित' के कब्ज़े में है और आप खुद अपने स्व के कब्ज़े में हो। आप *पुद्गल* के गुणों और *पुद्गल* की अवस्थाओं को आपकी खुद की अवस्था मानते हो, वही विभाव है। लेकिन यदि *पुद्गल* की अवस्थाओं को और *पुद्गल* के गुणों को अपने नहीं मानो तो वह स्वभाव है।

जो अच्छा-बुरा दिखाई देता है, वे *पुद्गल* की विभाविक अवस्थाएँ हैं। इसमें यह अच्छा और यह बुरा ऐसे विभाग मत बनाना। अच्छे और बुरे को अलग मत करना। अच्छा भी विभाविक है और बुरा भी विभाविक है। आगे?

प्रश्नकर्ता : 'विशेष परिणाम में अच्छा-बुरा नहीं होता।'

दादाश्री : विशेष परिणाम में यह अच्छा और यह बुरा ऐसा नहीं है। लोग विशेष परिणाम में अच्छा-बुरा मानते हैं क्योंकि अभी भी उनमें वे पहले वाले संस्कार हैं, सामाजिक संस्कार हैं। क्या गाय-भैंसों के लिए कुछ अच्छा-बुरा होता है? क्या वे कोर्ट में गए? दावा दायर करते हैं कोई? अच्छा-बुरा कहने से संसार खड़ा हो गया है। वह तो परिणाम ही है। उसमें अच्छा-बुरा क्या है? ऐसा है कि यदि गरम कढ़ी परोसी जाए तब लोग कहते हैं कि 'गरम है' और ठंडी परोसी जाए तब कहते हैं, कि 'बिल्कुल ठंडा ही परोसते हैं'। गरम और ठंडा कहने में कोई परेशानी नहीं है लेकिन यों पक्षधर बन गया है।

प्रश्नकर्ता : गरम का पक्षधर है इसलिए उसे ठंडा अच्छा नहीं लगता।

दादाश्री : लेकिन उसे ज़्यादा गरम लगता है। तो भाई, गरम तो

होगा ही न! फूँककर पी। चाय क्या ऐसा कहती है कि तू एकदम से पी जा? एक आदमी तो, जब रेलगाड़ी चलने लगी तो फिर क्या करता? चाय वाले ने कहा, 'भाई, कप लाओ, कप लाओ'। तो उसके मन में ऐसा आया कि चाय फेंक दूँगा तो पैसे बेकार जाएँगे न! तो सोचा, 'चलो न अंदर ही डाल दूँ'। तो वह एकदम से पी गया! उँडेल दी। होशियार था न! बहुत पक्का इंसान, तेरे जैसा! लेकिन बेचारा जल गया। बहुत तकलीफ हुई बेचारे को।

प्रश्नकर्ता : पैसे बचाए उसने।

दादाश्री : हाँ, पैसे नहीं बिगड़े न। होंगे उसके भाग्य बहुत पक्के! फिर आगे क्या है?

प्रश्नकर्ता : 'अज्ञान से मुक्ति अर्थात् ये खुद के परिणाम और ये विपरिणाम, इस प्रकार से इन दोनों को समझता है।'

दादाश्री : अज्ञान से मुक्ति, अब लोग इसका अर्थ क्या समझते हैं? लो! दादा ने यह खोज की कि अज्ञान द्वारा मुक्ति होती है। अरे भाई, ऐसा नहीं है। अज्ञान से मुक्ति अर्थात् अज्ञान में से मुक्त हो जाएगा, जबकि ये लोग क्या कहते हैं कि अज्ञान द्वारा मुक्ति मिलती है। अगर इसका उल्टा अर्थ निकालें तो क्या हो सकता है? उसे खुद को भी अज्ञान है न! वह उसे अपनी भाषा में ले जाता है फिर।

प्रश्नकर्ता : ये तीनों वाक्य अखंड हैं।

दादाश्री : तीसरा वाक्य। दूसरा वाक्य तो उसे हेल्प करता है। इसलिए फिर उसका अर्थ गायब हो जाता है। जब सिर्फ यही वाक्य रहे न, तब कहता है, अज्ञान द्वारा मुक्ति मिलती है। लेकिन दूसरे लोग उसकी बात नहीं मानते, आसपास के वाक्यों को ही देखते हैं।

प्रश्नकर्ता : अज्ञान से मुक्ति अर्थात् ये खुद के परिणाम हैं और ये विपरिणाम, दोनों को इस प्रकार से समझता है।

दादाश्री : ये मेरे परिणाम हैं, वे विशेष परिणाम हैं।

प्रश्नकर्ता : अंदर ऐसा किस प्रकार से समझना है कि ये मेरे परिणाम हैं और ये विशेष परिणाम हैं?

दादाश्री : जो 'देखना और जानना' है, वे सभी परिणाम मेरे हैं और बाकी के सब जो हैं, वे इनके (*पुद्गल* के) हैं, पूरा ही कर्ता भाग। वह बुद्धि द्वारा जाना हुआ नहीं है। बुद्धि द्वारा देखना और जानना, वही पर-परिणाम हैं, वे विशेष परिणाम हैं।

चाय में चीनी डालते हैं तब पीसकर क्यों नहीं डालते? इसलिए क्योंकि चीनी का स्वभाव ही घुलने का है। उसी प्रकार आपको समझ लेना है कि आत्मा का स्वभाव ही ऊर्ध्वगामी है। शाश्वत है, आत्मा का प्रत्येक परिणाम सनातन है जबकि आत्मा के अलावा बाकी का सभी कुछ गुरु-लघु स्वभाव वाला है, वे विशेष परिणाम हैं। हमें तो सिर्फ जान लेना है कि ये विशेष परिणाम हैं और मैं तो शुद्धात्मा हूँ। यदि शुद्ध परिणाम द्वारा इस प्रकार के विशेष परिणामों से अलग नहीं रह पाते हैं तो तय कर लेना है कि ये सब जो हैं, वे विशेष परिणाम हैं और वे नाशवंत हैं जबकि मैं शाश्वत के स्वपरिणाम वाला हूँ।

अहम् और विभाव

अपना कहना क्या है कि भाई, आत्मा में कोई भी बदलाव नहीं आया है। आत्मा जो है, वह वैसे का वैसा ही रहा है। सिर्फ विशेष भाव से तुझ में अहंकार खड़ा हो गया है। अहम् भाव खड़ा हो गया है, 'विशेष भाव अर्थात् 'मैं ही हूँ' अभी, और कौन है? मेरे सिवाय कोई है नहीं। दूसरा कोई तो है नहीं!'

प्रश्नकर्ता : क्या अहम् के विलय होने के बाद में विशेष भाव रहता है?

दादाश्री : नहीं! उसके बाद में ऐसा कहा जाएगा कि विशेष भाव खत्म हो गया।

प्रश्नकर्ता : तो फिर यह धीरे-धीरे कम होता है या एक तरफ अहम् खत्म होता है और दूसरी तरफ विशेष भाव खत्म हो जाता है?

दादाश्री : पहले अहम् है। जब से 'उसे' ऐसी प्रतीति होती है कि 'अहम्' एक गलत ज्ञान है, तभी से अहम् टूटने लगता है। तभी से मूल आत्मा की तरफ जाने लगता है, स्वभाव की तरफ जाने लगता है। इस विशेष भाव की बजाय स्वभाव की तरफ जाने लगता है।

प्रश्नकर्ता : दोनों आमने-सामने ही हैं, काउन्टर वेट की तरह? जैसे-जैसे इस तरफ यह प्रतीति बढ़ती जाती है कि अहम् भाव गलत है, क्या वैसे-वैसे वह विशेष भाव भी मंद होता जाता है?

दादाश्री : अहम् भाव जितना विलय होता जाएगा, उतना ही विशेष भाव विलय होता जाएगा।

प्रश्नकर्ता : और यदि अहम् भाव संपूर्णतः खत्म हो जाए तो?

दादाश्री : विशेष भाव खत्म हो जाएगा। स्वभाव रहेगा। दोनों के जाति स्वभाव रहेंगे। *पुद्गल, पुद्गल* के स्वभाव में और आत्मा, आत्मा के स्वभाव में। दोनों जैसे थे, वापस वैसे ही हो जाएँगे।

प्रश्नकर्ता : तो फिर ये जो मन-वचन-काया रह जाते हैं, वे? मन के विचार रह जाते हैं, वाणी रह जाती है तो इस प्रवर्तन और विशेष भाव के बीच कोई संबंध है क्या?

दादाश्री : उनका कोई लेना-देना नहीं हैं। अहंकार ही विशेष भाव है। अहंकार अर्थात् अहम् भाव, वही विशेष भाव है। जहाँ पर खुद नहीं है, वहाँ पर अहम् भाव करता है कि 'यह सब मैं हूँ'। वही विशेष भाव है। जब 'उसे' यह समझ में आता है कि 'यह अहम् भाव गलत चीज़ है और दूसरी वस्तु सही है', जब ऐसी प्रतीति बैठती है, तब मूल विशेष परिणाम खत्म हो जाता है। फिर उसका अहम् भाव विलय होने लगता है। तभी से विशेष भाव (पर-परिणाम) विलय होने लगता है। अहम् भाव के खत्म होते ही विशेष भाव खत्म हो जाता है और स्वभाव भाव उत्पन्न हो जाता है। तब तक यह क्रिया चलती रहती है, अहम् भाव कम होता जाता है, स्वभाव भाव बढ़ता जाता है। अहम् भाव कम होता जाता है, स्वभाव भाव बढ़ता जाता है। जब तक दोनों पूर्णता प्राप्त नहीं

कर लेते तब तक ऐसा चलता रहता है। इस तरफ अहम् भाव पूरी तरह से खत्म हो जाता है, और इस तरफ पूरी तरह से स्वभाव-भाव पूर्ण हो जाता है, ऐसा हिसाब है! अक्रम मार्ग में ज्ञान मिलते ही मूल विशेष भाव जो कि दो तत्त्वों के पास-पास आने के कारण होता है, वह चला जाता है लेकिन विशेष परिणाम के विशेष परिणाम, जो कि पर-परिणाम हैं, वे क्रमश: खत्म हो जाते हैं।

प्रश्नकर्ता : तो यह विभाव पूरी तरह से चला जाता है या क्रमश: जाता है?

दादाश्री : जब विभाव मिटता है तो क्रमश: मिटता है और यह स्वभाव क्रमश: खिलता है। यानी जितना अनुभव होता जाता है उतना ही खिलता जाता है। स्वभाव एक ही दिन में नहीं खिल उठता।

प्रश्नकर्ता : '*लक्ष थकी उपर जई बेठां, संयोगोनो ज्ञाता-दृष्टा मात्र रह्यो.*' ('*लक्ष* की वजह से ऊपर जा बैठा, संयोगों का ज्ञाता-दृष्टा मात्र रहा।')

दादाश्री : विभाव मिट गया।

प्रश्नकर्ता : '*मोक्ष कह्यो छे स्वभाव तारो. विभावथी तुं पकडायो.*' ('मोक्ष को तेरा स्वभाव कहा गया है। विभाव के कारण तू फँस गया है।') '*विभाव मटतां स्वरूपमां तुं क्रमे क्रमे हवे खीली रह्यो.*' ('विभाव मिटते ही अब तू क्रमश: स्वरूप में खिल रहा है।') जितना स्वभाव उत्पन्न होता है, क्या उस विभाव को हम प्रज्ञा कहते हैं?

दादाश्री : प्रज्ञा विभाव नहीं है। विशेष भाव कितना कम हुआ और स्वभाव कितना उत्पन्न हुआ, बढ़ा, जो उन सब को जानता है, वह प्रज्ञा है। उस समय जो यह सब जानता है कि 'आत्मा क्या है', वह पूर्ण प्रज्ञा है।

प्रश्नकर्ता : प्रज्ञा भी इस तरह से घटती-बढ़ती रहती है न?

दादाश्री : घटती-बढ़ती है न! घटती-बढ़ती है। गुरु-लघु होती रहती है क्योंकि अंत में जब स्वभाव भाव पूर्ण हो जाता है और अहम्

भाव खत्म हो जाता है तब वह प्रज्ञा खुद भी खत्म हो जाती है। तब तक काम करती है।

केवलज्ञान के बाद में नहीं रहता विभाव

प्रश्नकर्ता : ये जो तीर्थंकर और केवली हैं, वे समय-समय की जागृति में रहते हैं, तो उस समय उनकी जागृति कैसी होती है? प्रत्येक समय में जो विशेष भाव होते हैं, उन्हें विशेष भाव के तौर पर देखते रहते हैं?

दादाश्री : नहीं! उनमें विशेष भाव उत्पन्न ही नहीं होता।

प्रश्नकर्ता : यानी कि स्वभाव में ही आ गए?

दादाश्री : स्वभाव में आ गए, इसीलिए तो असर नहीं होता।

प्रश्नकर्ता : देखना क्या है? सिर्फ *पुद्गल* को ही देखते हैं? उनकी वह जागृति कहाँ पर रहती है फिर?

दादाश्री : सभी ज्ञेयों में।

प्रश्नकर्ता : अर्थात् वे स्वाभाविक रूप से ज्ञेय के ज्ञाता-दृष्टा रहा करते हैं?

दादाश्री : बस! इतना ही। अन्य कुछ नहीं।

एब्सल्यूट अर्थात् सांसारिक विचार आने ही बंद हो चुके होते हैं! 'खुद' खुद के ही परिणाम को *भजता* (उस रूप होना, भक्ति) है! वैज्ञानिक ज्ञानी की बातें वैज्ञानिक हैं या नहीं?

प्रश्नकर्ता : वैज्ञानिक हैं।

दादाश्री : हं, वैज्ञानिक बातों के बारे में अपने शास्त्रों में लोगों ने ये उलझनें खड़ी कर दी हैं। इस सब को उलझाकर रख दिया है जबकि वे लोग (तीर्थंकर) तो जितना बता सकते थे उतना बताकर गए और बाद में कहकर गए, अवक्तव्य और अवर्णनीय। लोगों ने लिखा है कि

अवक्तव्य है और अवर्णनीय... तो फिर भाई इसमें क्यों ढूँढ रहे हो? बाहर ढूँढो न, वहाँ पर! ये (शास्त्र) तो सिर्फ बोर्ड ही बता रहे हैं, 'गो देअर (वहाँ पर जाओ)'। तो क्या फिर वहाँ पर बोर्ड के सामने ही बैठे रहना है?

वीतराग जानते थे, ये सारी बातें। हिन्दुस्तान में जो वीतराग हो चुके हैं, लेकिन उन वीतरागों ने, जितनी बातें शब्दों में कही जा सकें, उतनी बातें बताईं। उससे ज़्यादा कैसे बता सकते थे? शब्द से अर्थात् नि:शब्द वस्तु की, आत्मा नि:शब्द, अवक्तव्य और अवर्णनीय है। उसका वर्णन किस तरह करते?

प्रश्नकर्ता : नहीं हो सकता।

दादाश्री : और इस जगत् का वर्णन किस तरह करें, जहाँ पर शब्द हैं ही नहीं। दुनिया को यह कैसे समझ में आएगा? ये कोई बुद्धि के खेल थोड़े ही हैं? क्या बुद्धि ऐसी है कि वहाँ तक पहुँच सके? बहुत सूक्ष्म बात है। मैं यह जो कह रहा हूँ, वह मोटी भाषा की बात कर रहा हूँ। मैंने जो देखा है न, उस बात को विस्तार पूर्वक समझाने में भी देर लगेगी। उस भाषा में शब्द हैं ही नहीं न!

प्रश्नकर्ता : नहीं! लेकिन आपके ये जो साइन्टिफिक शब्द निकलते हैं न, वे ऐसे निकलते हैं कि एक्ज़ेक्ट, बहुत ही स्पष्ट रूप से समझा देते हैं।

दादाश्री : वैसा तो होगा ही न, क्योंकि देखा है, इसलिए। फिर भी एक्ज़ेक्ट तो कह ही नहीं सकते न! वह भी तो देखे हुए का वर्णन है। शब्द हैं ही नहीं वहाँ पर। जैसे-तैसे ढूँढकर बोलने पड़ते हैं शब्द। अपनी भाषा में समझ में आ जाए ऐसा सब ढूँढकर कहना पड़ता है। इसके बावजूद भी यह वाणी व्यतिरेक गुणों में से निकली है।

प्रश्नकर्ता : अर्थात् वह गुण क्रोध-मान-माया-लोभ रहित है?

दादाश्री : नहीं-नहीं! क्रोध-मान-माया-लोभ में से ही बनी हुई चीज़ है यह।

प्रश्नकर्ता : लेकिन यह तो उत्तम वाणी है, यथायोग्य वाणी है।

दादाश्री : उत्तम वाणी है, फिर भी यह इसमें से ही बनी है। यह कौन सी भाषा है? यह रिलेटिव भाषा नहीं है, रियल रिलेटिव वाली है।

प्रश्नकर्ता : दादा, हमारे लिए तो यह नया ही निकला, हं! ऐसी तो ये कितनी ही बातें जब दादा के पास अकेले बैठे हों तब सुनी जा सकती हैं।

दादाश्री : वह तो वैसा टाइम आने पर ही निकलती हैं। वर्ना निकलती नहीं हैं न! ऐसा संयोग मिलना चाहिए, टाइम आना चाहिए, उस तरह से क्षेत्र बदलते रहना चाहिए। एक जगह पर बैठे-बैठे कैसे निकलेंगे? क्षेत्र बदलता रहे (अलग-अलग जगह पर सत्संग हो) तब ऐसा निकलता है!

प्रश्नकर्ता : तो क्या ऐसा है कि रियल रिलेटिव की भाषा व्यतिरेक गुणों में से है?

दादाश्री : यह रियल रिलेटिव है, इसलिए इसका प्रमाण दूसरी जगह पर नहीं मिलेगा। यह प्रमाण स्वतंत्र है। यह भाषा, यह अर्थ, ये सभी स्वतंत्र हैं और ये ऐसे हैं कि वहाँ पर लोगों की बुद्धि स्थिर हो जाती है, ऐसे हैं कि बुद्धि शांत हो जाती है। ये जवाब रियल रिलेटिव हैं जबकि रिलेटिव में तो बुद्धि वह कूदती है। यह सब समझने जैसा है।

प्रश्नकर्ता : इसका (वाणी का) उद्‌भव रियल रिलेटिव में से हुआ है अर्थात्...

दादाश्री : है रिलेटिव, लेकिन कौन सा रिलेटिव? तो वह है रियल रिलेटिव। वह (सांसारिक) रिलेटिव रिलेटिव है। पहला, रियल रिलेटिव, दूसरा, रिलेटिव और तीसरा, रिलेटिव रिलेटिव। ये तीन कनेक्शन हैं। यह बात इनमें से पहले कनेक्शन की है। इंसान पहले कनेक्शन में नहीं पहुँच सकता। यदि वह पहुँच सके तो उसकी वाणी टेपरिकॉर्डर बन जाएगी।

स्वक्षेत्र है दरवाज़ा सिद्ध क्षेत्र का

प्रश्नकर्ता : जब देखो तब, दादा आप वैसे के वैसे ही लगते हैं, कोई फर्क नहीं लगता। यह क्या है?

दादाश्री : क्या यह कोई फूल है जो मुरझा जाए? इनमें अंदर परमात्मा प्रकट होकर बैठे हैं! वर्ना जर्जरित हुए दिखाई देते! जहाँ परभाव का क्षय हुआ है, निरंतर स्वभाव जागृति रहती है। जिसे परभाव के प्रति किंचित्मात्र भी रुचि नहीं रही, एक अणु-परमाणु जितनी भी रुचि नहीं है, फिर उसे क्या चाहिए?

परभाव के क्षय से और अधिक आनंद का अनुभव होता है और आप उस क्षय की तरफ दृष्टि रखना। जितना परभाव क्षय होगा उतना ही स्वभाव में स्थित होगा। बस, इतना ही समझने जैसा है, अन्य कुछ करने जैसा नहीं है। जब तक परभाव है तब तक परक्षेत्र है। परभाव गया कि स्वक्षेत्र में कुछ देर रहकर और सिद्ध क्षेत्र में स्थित हो जाएगा। स्वक्षेत्र, वह सिद्ध क्षेत्र का दरवाज़ा है!

तो यह जो फँसा हुआ है, वह किस प्रकार से छूटेगा? तब कहते हैं कि, 'जब यह खुद के स्वरूप को जानेगा तब छूटेगा और फिर जब वह उस जगह पर पहुँचेगा, जहाँ पर अन्य कोई तत्त्व है ही नहीं, तब अन्य तत्त्व उस पर असर नहीं डालेंगे और तभी खुद मुक्त रह सकेगा। लेकिन यहाँ पर तो सबकुछ है तो दूसरे तत्त्व उस पर असर डाले बगैर रहेंगे ही नहीं। यह बात समझ में आ रही है? बहुत सूक्ष्म बातें हैं ये सारी।

अन्य तत्त्वों का असर है यह। अब उस असर के खत्म हुए बिना वह मुक्ति किस प्रकार से पाएगा? यदि खुद के स्वरूप को जाने और सेफसाइड हो जाए तो उसके बाद वह वहाँ पर पहुँचेगा। वहाँ पर सिद्धगति में अन्य तत्त्वों के नहीं होने के कारण हमेशा के लिए सिद्ध स्थिति में रहेगा और ऐसा नियम पूर्वक है, यह गप्प नहीं है। बिल्कुल नियम पूर्वक। जैसे एक से सौ तक की रकम होती है न, तो अड़तालीस के बाद उनचास आता है, उनचास के बाद पचास आता है। उसमें बिल्कुल भी गप्प नहीं है।

अर्थात् सिद्ध क्षेत्र में जाने के बाद में स्व-स्वरूप खत्म नहीं होता। सिद्ध क्षेत्र में जाने के लिए, ज्ञानी पुरुष ने जो ज्ञान दिया हो, प्रकाश दिया हो और आत्मा अलग कर दिया हो, उसके बाद उनकी आज्ञा का पालन करो तो अलग का अलग ही रहेगा। उससे सभी कर्म क्षय हो जाएँगे और फिर एक-दो जन्मों में मोक्ष में चला जाएगा। उसके बाद वहाँ पर विशेष भाव नहीं होगा।

अलोक में सिर्फ आकाश ही है और सिद्ध क्षेत्र में अन्य कोई ज्ञेय नहीं हैं, तो फिर ज्ञाता के लिए अन्य कुछ रहा ही नहीं न!

प्रश्नकर्ता : वहाँ पर ज्ञेय नहीं है तो फिर आप जो कहते हैं न कि सिद्ध क्षेत्र में जाने के बाद में वह सिर्फ देखता और जानता है। तो क्या वह इस लोक का देखता व जानता है?

दादाश्री : पूरे ही लोक का। जब दो तत्त्व नज़दीक होते हैं तब उसे विभाव हो जाता है। सिद्ध क्षेत्र में उसके नज़दीक कोई है ही नहीं न!

सिद्ध लोक में अन्य कोई वस्तु है ही नहीं न, यानी कि उसे सामीप्य भाव नहीं है। कुछ भी नहीं है। यहाँ पर तो यह लोक है। लोक में सब वस्तुओं का सामीप्य भाव है। इसलिए दूसरी वस्तु के सामीप्य भाव से विशेष भाव उत्पन्न हो जाता है।

प्रश्नकर्ता : शुद्धात्मा जब सिद्ध क्षेत्र में शुद्ध दशा में जाता है तो फिर वे परमाणु कहाँ रहते हैं?

दादाश्री : कौन से?

प्रश्नकर्ता : अचेतन वाले।

दादाश्री : वह तो, विलय हो जाने के बाद में ही जाता है न! और ज़रा से जो बच जाते हैं, वे कुछ देर तक ही चौदहवें गुण स्थानक में रहते हैं, फिर जैसे ही वे चले जाते हैं तब वह खुद चला जाता है ऊपर सिद्ध क्षेत्र में। उसके बाद धर्मास्तिकाय उसे ऊपर छोड़ आता है।

प्रश्नकर्ता : फिर उसे कभी भी स्पर्श नहीं करते, फिर कोई भी वस्तु उसे स्पर्श नहीं करती?

दादाश्री : फिर वहाँ पर तो कोई संयोग है ही नहीं। संयोग होंगे तभी विशेष भाव होगा न! संयोग ही नहीं होंगे तो फिर विशेष भाव कैसा?

प्रश्नकर्ता : और वे संयोग तो, जब संसार में रहते हैं तभी मिलते हैं न?

दादाश्री : इस लोक में।

प्रश्नकर्ता : इस लोक में रहता है तभी विशेष भाव होता है। उस लोक में नहीं होता?

दादाश्री : जिसे अलोक कहते हैं, वहाँ पर नहीं।

इनमें से जब उसे खुद को खुद का भान प्रकट होता है, तब वह अलग हो जाता है। तब वह वहाँ पर जाता है, जहाँ पर फिर से अन्य किसी तत्त्व का सम्मेलन नहीं होता इसलिए वहाँ पर फिर कोई परिवर्तन नहीं होता। सिद्ध क्षेत्र में अन्य तत्त्व नहीं हैं। यह तो पूरा ही विज्ञान है!

[१२]

'मैं' के सामने जागृति

अहंकार उत्पन्न हुआ यों...

प्रश्नकर्ता : इगो को उत्पन्न करने वाला कौन है?

दादाश्री : इस जगत् में छः तत्व हैं। चेतन, *पुद्‌गल* (जो पूरण और गलन होता है), गतिसहायक, स्थितिसहायक, आकाश और काल। आत्मा का प्रवहन है। वह प्रवाह में बह ही रहा है। इस प्रवाह में इन पाँच तत्त्वों का दबाव आने से विशेष भाव उत्पन्न हो जाता है और अहम् उत्पन्न होता है। उसके प्रभाव से यह इगो उत्पन्न हो जाता है। ओन्ली साइन्टिफिक सरकमस्टेन्शियल एविडेन्स हैं। यह विज्ञान है।

प्रश्नकर्ता : जब जीव निगोद में से आया, तब क्रोध-मान-माया-लोभ और अहंकार नहीं थे, तो फिर जीव फँसा कैसे? मूलतः वे आए कहाँ से? किस कारण से आए? क्यों एक भी जीव अहंकार रहित नहीं है?

दादाश्री : अहंकार तो रहता ही है, क्रोध-मान-माया-लोभ तो रहते ही हैं।

प्रश्नकर्ता : अहंकार क्यों रहता है?

दादाश्री : अहंकार तो हर एक में रहता है, निगोद में तो पूर्ण रूप से घोर अंधकार ही था।

प्रश्नकर्ता : क्या माया मूल रूप से इगो ही है?

दादाश्री : इस तरफ देखा तो संसार (सर्जित) हुआ, माया व

ममता उत्पन्न हो गए और इस तरफ देखा तो वहाँ मोक्ष हो गया। वहाँ पर स्वरूप आ गया।

प्रश्नकर्ता : तो क्या पहले अज्ञान नहीं था?

दादाश्री : अज्ञान तो था ही न! ज्ञान का प्रदान करने पर ज्ञान मिलता है।

प्रश्नकर्ता : तो क्या पहले ज्ञान या अज्ञान नहीं था?

दादाश्री : अज्ञान रहता है लेकिन वह सूक्ष्म रूप में रहता है और फिर बाहर के संयोगों के मिलने पर बाहर दिखाई देता है, बाहर निकलता है।

'मैं शुद्धात्मा', क्या वही अहंकार है?

प्रश्नकर्ता : हम साधारणतया बात करते हुए भी कहते हैं कि मेरा आत्मा ऐसा कह रहा है लेकिन ऐसा नहीं कहते कि 'मैं आत्मा हूँ'। तो इसमें 'मैं' कौन है और 'आत्मा' कौन है?

दादाश्री : 'मैं' अहंकार है और 'आत्मा' मूल वस्तु है।

प्रश्नकर्ता : 'मैं' कहाँ से शुरू हुआ?

दादाश्री : 'मैं' तो आप हो ही। 'मैं' को निकाल नहीं देना है। इस अहंकार को निकालना है।

अहंकार किस प्रकार से हुआ? अंदर आत्मा शुद्ध ही है। यह अहंकार तो, व्यतिरेक गुणों की वजह से उसकी उपस्थिति में उत्पन्न हो गया है।

प्रश्नकर्ता : लेकिन क्या वह अहंकार स्वाभाविक है?

दादाश्री : स्वाभाविक तो इसमें कोई भी चीज़ नहीं है। ये तो अवस्थित चीज़ें हैं, विशेष भावी हैं। ये स्वाभाविक वस्तुएँ नहीं हैं। स्वाभाविक वस्तु हमेशा अविनाशी होती है और विशेष-भावी विनाशी होती है।

'मैं ही शुद्धात्मा हूँ' रहे और बाकी सब रोंग बिलीफें छूट जाएँ तब अहंकार जाता है। वह कब तक अहंकार कहलाता है? जब तक 'उसे' खुद की शक्ति का, खुद के ऐश्वर्य का भान नहीं है और जब तक वह अन्य वस्तु का ही चिंतन करता है, तब तक अहंकार है। वह विशेष परिणाम है। इन दोनों को अलग कर दिया जाए तो दोनों मुक्त हो जाएँगे। उसके बाद कुछ भी नहीं है। लेकिन सामीप्य भाव के कारण अहंकार उत्पन्न हो गया है। यह पूरा संसार काल सामीप्य भाव वाला है। जब ऐसा भान होता है कि 'खुद कौन है' तब फिर अहंकार नहीं रहता।

प्रश्नकर्ता : लेकिन 'मैं शुद्धात्मा हूँ', वह भी अहंकार तो है ही न?

दादाश्री : वह अहंकार नहीं कहलाता। 'मैं शुद्धात्मा हूँ', वह खुद का, वस्तुत्व का भान है।

प्रश्नकर्ता : 'मैं शुद्धात्मा हूँ', ऐसा भाव करना ही पड़ता है न हमें?

दादाश्री : ऐसा भाव करने में कोई आपत्ति नहीं है। वह एक प्रकार का भाव है, लेकिन उसे अहंकार नहीं माना जाता। अहंकार अर्थात् खुद जो नहीं है, वैसा कहना उसे कहते हैं अहंकार। खुद जो नहीं है, उसके लिए कहता है कि 'मैं यह हूँ'। देहधारी खुद नहीं है, फिर भी कहता है कि 'मैं देहधारी हूँ', नामधारी खुद नहीं है फिर भी 'मैं चंदूभाई हूँ, चाचा हूँ, मामा हूँ', वह सारा अहंकार है।

प्रश्नकर्ता : तो 'मैं शुद्धात्मा हूँ', वह क्या है?

दादाश्री : खुद के अस्तित्व का भान है ही लेकिन 'मैं कौन हूँ' वह भान हो गया, वह खुद का वस्तुत्व कहलाता है। 'मैं शुद्धात्मा हूँ', उस वस्तु को जान लिया कि 'खुद कौन है' और फिर जब पूर्णत्व हो जाता है तब 'मैं' भी चला जाता है।

भला अंधे अहंकार को चश्मे?

प्रश्नकर्ता : रिलेटिव व्यू पोइन्ट से 'आइ', चंदूभाई है और रियल

व्यू पोइन्ट से 'आइ', शुद्धात्मा है, तो वह 'आइ' एक ही है? इन दोनों में 'आइ' है?

दादाश्री : 'मैं' शुद्धात्मा तो हूँ ही। फिर 'उसे' भ्रांति हो गई कि यह गाड़ी चल रही है या मैं चल रहा हूँ? यानी कि उसे ऐसा लगा कि मैं चल रहा हूँ। इसलिए फिर 'मैं' में से हो गया अहंकार कि 'मैं चंदूभाई, मैं मगनभाई'। फिर अहंकार को अंधा बनाया। उसे चश्मे पहनाता है, पास्ट (पूर्व) कर्म के हिसाब से। इसलिए फिर वापस सब अंधेपन से ही देखता है कि 'मेरी वाइफ ने ही दगा दिया है'। ऐसा दिखाता है।

प्रश्नकर्ता : चश्मे की वजह से ही ऐसा दिखाई देता है?

दादाश्री : हाँ। वास्तव में ऐसा है नहीं लेकिन उसे चश्मे की वजह से ऐसा दिखाई देता है।

प्रश्नकर्ता : 'वह यह कर रहा है, इसी ने किया है', यह सब चश्मे की वजह से दिखाई देता है?

दादाश्री : चश्मे की वजह से दिखाई देता है। उसी प्रकार से अहंकार को चश्मे होते हैं इसीलिए सभी, 'खराब है, अच्छा है और फलाना है', ऐसा दिखाई देता है।

अहंकार किसे आया?

प्रश्नकर्ता : लेकिन यदि यह अहंकार नहीं होता तो आत्मशोध किस प्रकार से होती? कुछ तो सापेक्ष है ही न?

दादाश्री : वह नहीं होता या होता, वह तो अज्ञानता का स्वभाव है कि अज्ञानता के बिना तो अहंकार खड़ा ही नहीं रहेगा। जब तक अज्ञानता थी तब तक हम में भी अहंकार था।

प्रश्नकर्ता : अहंकार कहाँ से आया और किसे हुआ?

दादाश्री : कहाँ से आया और कब, वह अलग चीज़ है, लेकिन इसे जो भोगता है न, वह अहंकार है।

प्रश्नकर्ता : अहंकार किसे हुआ?

दादाश्री : जिसे नासमझी है उसे। अहंकार अज्ञान को हुआ।

प्रश्नकर्ता : अज्ञान किसका है?

दादाश्री : दो चीज़ें हैं, अज्ञान और ज्ञान। ज्ञान अर्थात् आत्मा और अज्ञान अर्थात् अनात्मा। उसे अहंकार हुआ, अज्ञान को। अर्थात् अहंकार हुआ इसलिए यह सब हो गया। तब फिर रात-दिन चिंता-परेशानी, संसार में अच्छा नहीं लगता फिर भी पड़े रहना पड़ता है न, कहाँ जाएँ? कहाँ जा सकता है? वहीं के वहीं। अर्थात् यहीं पलंग पर पड़े रहना पड़ता है, नींद न आए फिर भी!

प्रश्नकर्ता : अहंकार कहाँ से उत्पन्न हुआ?

दादाश्री : अहंकार ही अज्ञान है न। अज्ञान और ज्ञान, दो अलग चीज़ें हैं। मान लीजिए अपने यहाँ पर अभी कोई बड़े सेठ आए हैं, वे सेठ बहुत अच्छी बातचीत करते हैं, लेकिन अगर कोई उन्हें आधा रतल (२०० ग्राम) ब्रान्डी पिला दे, तो फिर वे कैसी बातें करेंगे?

प्रश्नकर्ता : ब्रान्डी का संयोग हो गया इसलिए दूसरी तरह की बात करेंगे।

दादाश्री : ये जो संयोग मिले हैं न, इसलिए ऐसा सब हो गया है। ज्ञान स्वरूप को संयोग मिल गए हैं इसलिए यह भ्रांति उत्पन्न हुई है। जैसे कि वे सेठ तो ऐसा कहते हैं न कि 'मैं तो प्रधानमंत्री हूँ, ऐसा हूँ, वह हूँ', कहता है...

प्रश्नकर्ता : दादा, तो ज्ञान कहाँ से उत्पन्न हुआ?

दादाश्री : ज्ञान तो उत्पन्न ही नहीं होता न! ज्ञान तो परमानेन्ट वस्तु है। बाहर की वस्तुओं की वजह से अज्ञान उत्पन्न हो गया। जैसे कि सेठ ने शराब पी ली न, संयोगवश। अत: फिर जब इन सब संयोगों से छूट जाएँगे तब मुक्ति होगी।

प्रश्नकर्ता : भाव किया तो फिर वह अज्ञान का संयोग हुआ न उसे?

दादाश्री : भाव का कोई सवाल नहीं है। अज्ञान का संयोग नहीं मिलता। दूसरे संयोग मिलते हैं। शराब पी ली न! यह जो अज्ञानता है, वही अहंकार है।

प्रश्नकर्ता : आत्मा तो मूल प्रकाश है, अनंत शक्ति वाला है, तो उसमें यह अहंकार कहाँ से आ जाता है?

दादाश्री : उसमें कहाँ आता है? अज्ञानता ही अहंकार है।

प्रश्नकर्ता : आवरण आ जाए तो भी क्या हर्ज है? वह खुद तो जानता ही है न कि मैं प्रकाश हूँ!

दादाश्री : उससे कुछ होगा नहीं न! अहंकार को क्या लाभ है? जब तक अहंकार को मीठा नहीं लगेगा तब तक वह यह नहीं कहेगा कि यह शक्कर है। अत: अहंकार का निबेड़ा लाना है। आत्मा का निबेड़ा तो है ही।

हम खुद कौन है?

ऐसा है न, हम अभी जो हैं न, तो उस चीज़ में वास्तव में हम क्या हैं? हम नाम रूपी नहीं हैं, हम व्यवहार रूपी नहीं हैं, तो वास्तव में हम क्या हैं? तो कहते हैं, जितना अपना ज्ञान है और जितना अपना अज्ञान है, बस उतना ही। वही हम हैं। जैसा ज्ञान हो उस अनुसार संयोग मिलते हैं। अज्ञान हो तो उस अनुसार संयोग मिलते हैं। ज्ञान-अज्ञान के अनुसार ही संयोग मिलते हैं।

प्रश्नकर्ता : और उस ज्ञान और अज्ञान के अनुसार ही उससे कर्म होते जाते हैं?

दादाश्री : हाँ, उस अनुसार कर्म होते जाते हैं और उसी अनुसार ये सभी संयोग मिलते हैं। वह खुद यह नाम नहीं है, वह खुद अहंकार नहीं है, वह खुद तो 'यह' (ज्ञान-अज्ञान) है।

प्रश्नकर्ता : 'खुद यह है' इसका क्या मतलब है, दादा?

दादाश्री : ज्ञान या अज्ञान, वही खुद है। वही उसका उपादान है।

लेकिन उसे समझ नहीं पाते इसलिए हम उसके प्रतिनिधि अर्थात् अहंकार को स्वीकार कर लेते हैं। यह बहुत गहरी बात है। संत भी नहीं जानते। क्रमिक मार्ग के ज्ञानी भी नहीं जानते।

प्रश्नकर्ता : अभी तक हम ऐसा कहते हैं कि वह अहंकार कर रहा है।

दादाश्री : वह तो, ये भाई आए इसलिए बात निकली वर्ना निकलती नहीं हैं ऐसी सूक्ष्म बातें। बात तो मैंने कह दी। बात समझने जैसी है, सूक्ष्म है।

अर्थात् ज्ञान-अज्ञान की वजह से ये कर्म होते हैं। उसे उपादान कहो या अहंकार, जो कहो वह यही है। वह खुद ही। लेकिन यों वास्तव में अहंकार अलग है। अहंकार अलग दिखाई देता है जबकि यह तो ज्ञान और अज्ञान, प्रकाश और अंधेरा, उसके आधार पर ही 'वह' ('खुद') करता है।

प्रश्नकर्ता : हाँ, लेकिन यदि ज्ञान-अज्ञान हों परंतु अहंकार नहीं हो तो फिर क्या होगा? तो कर्म होगा ही नहीं न?

दादाश्री : अहंकार रहता ही है। जहाँ पर ज्ञान और अज्ञान साथ में हों, वहाँ पर अहंकार है ही।

प्रश्नकर्ता : अज्ञान हो तब अहंकार रहता ही है?

दादाश्री : रहेगा ही। जब अज्ञान चला जाएगा तब अहंकार चला जाएगा। तब तक ज्ञान और अज्ञान साथ में रहेंगे। उसे क्षयोपशम कहा जाता है।

प्रश्नकर्ता : तो ज्ञान मिलने के बाद जो पुरुष बनता है, तो पुरुष कौन से भाग को कहते हैं?

दादाश्री : ज्ञान ही पुरुष है, उसमें भला भाग कैसा? जो अज्ञान है, वह प्रकृति है। ज्ञान-अज्ञान का सम्मिलित स्वरूप ही प्रकृति है। ज्ञान ही पुरुष है, वही परमात्मा है। ज्ञान ही आत्मा है। जो ज्ञान, विज्ञान स्वरूप वाला है, वह आत्मा है, वही परमात्मा है।

प्रश्नकर्ता : अब इस ज्ञान या अज्ञान, इन दोनों की आदि क्या है?

दादाश्री : दोनों की आदि है विज्ञान। मूल आत्मा, विज्ञानमय आत्मा। उसमें से ये ज्ञान और अज्ञान, धूप और छाया, दोनों शुरू हो गए।

अहंकार की आदि और वृद्धि

प्रश्नकर्ता : हम ऐसा मानते थे कि अहम् का मतलब अहंकार ही है।

दादाश्री : नहीं, अहंकार और अहम् में तो बहुत फर्क है।

प्रश्नकर्ता : इनमें भी फर्क है? इनमें क्या फर्क है? वह ज़रा सूक्ष्मता से समझाइए न!

दादाश्री : 'मैं'पन, वह अहम् है और 'मैं'पन का प्रस्ताव करना (मैं चंदूभाई हूँ), वह अहंकार है। 'मैं प्रेसिडेन्ट हूँ', वह अहंकार नहीं कहलाता। लोग तो ऐसा कहते हैं कि 'अहंकारी पुरुष है', लेकिन वास्तव में वह मानी पुरुष कहलाता है। अहंकार तो, जहाँ पर संसार की कोई चीज़ स्पर्श नहीं करती और जहाँ पर खुद नहीं है, वहाँ पर ऐसा मानता है कि 'मैं हूँ', वह सब अहंकार में आता है। वस्तु में कुछ भी नहीं है। लेकिन जैसे ही दूसरी वस्तु को छूता है तो उससे मान होता है! 'मैं प्रेसिडेन्ट हूँ', ऐसा सब दिखाए तो हम समझ जाएँगे न कि यह व्यक्ति मानी है।

प्रश्नकर्ता : प्रस्ताव में क्या आता है?

दादाश्री : ज़रूरत से ज़्यादा 'मैं'पन बोलना। वह 'मैं' तो है ही, अहम् तो है ही मान्यता में लेकिन उसका प्रस्ताव करना कि 'यह सही है और यह गलत है', इस तरह से शोर मचाने जाता है, वह अहंकार कहलाता है। लेकिन उसमें दूसरी चीज़ नहीं है, मालिकीपन नहीं आता किसी भी चीज़ पर। मालिकीपन आ जाए तो 'मान' आता है।

प्रश्नकर्ता : अहंकार का उदाहरण क्या है?

दादाश्री : अहंकार के उदाहरण तो बहुत हैं न!

और सिर्फ मान ही नहीं, उसके बाद जैसे-जैसे मालिकीभाव बढ़ता जाता है न, वह अभिमान है। देहधारी हो तो वह मानी कहलाता है और 'यह फ्लेट हमारा है, यह हमारा', वह ममता वाला, वह अभिमान है। अर्थात् अहंकार से मानी, अभिमानी, बहुत तरह के पर्याय उत्पन्न होते हैं।

अहंकार अर्थात् लोग जो समझते हैं, वह अहंकार नहीं कहलाता। लोग जिसे अहंकार कहते हैं न, वह तो मान है। अहंकार बिलीफ (मान्यता) में है, ज्ञान में नहीं है। जो ज्ञान में आए वह मान कहलाता है। जहाँ खुद नहीं करता है और वहाँ पर ऐसा मानता है कि 'मैं कर रहा हूँ', उसे कहते हैं अहंकार।

प्रश्नकर्ता : अब इसे एक उदाहरण देकर समझाइए!

दादाश्री : अपने यहाँ पर कहते हैं न कि, 'मैं नीचे आया' अब ऊपर से नीचे आया, उसमें खुद आया ही नहीं है। वह तो, यह शरीर आया है। यह जो पूरा शरीर आया, उसे वह खुद ऐसा मानता है कि, 'मैं आया', ऐसी जो मान्यता है, वह अहंकार है और फिर वह कहता भी है कि 'मैं आया', वह मान कहलाता है। तो लोग तो 'मैं आया', उसी को अहंकार कहते हैं।

प्रश्नकर्ता : अहम्‌पन और पोतापन, दोनों एक ही हैं या अलग-अलग?

दादाश्री : बहुत फर्क है।

प्रश्नकर्ता : क्या फर्क है?

दादाश्री : अहम् तो सिर्फ माना हुआ ही रहा जबकि पोतापन वर्तन में है। जो वर्तन में हो, वह उसे रहता है जबकि माना हुआ तो चला जाता है। 'मैं'पन माना हुआ है, वह चला जाता है लेकिन वर्तन में रहता है न!

प्रश्नकर्ता : क्या महात्माओं में पोतापन है?

दादाश्री : पोतापन तो ज़बरदस्त है। जो भोला होता है न, उसमें कम होता है।

प्रश्नकर्ता : उस 'मैं' के बारे में ज़रा और बताइए न!

दादाश्री : 'मैं' तो एवरीव्हेर एडजस्टेबल है कि 'मैं तो जमाई हूँ' कहे तो वह जमाई भी बनता है। 'ससुर हूँ' कहे तो वैसा बन जाता है और 'मैं शुद्धात्मा हूँ' कहे तो शुद्धात्मा बन जाता है और 'मैं *पुद्गल* हूँ' कहे तो *पुद्गल* बन जाता है।

'मैं' तो एवरीव्हेर एडजस्टेबल है, कितनी अच्छी चीज़ है! देखो न, 'मैं' अभी चंदूभाई था और दो घंटे बाद 'मैं' शुद्धात्मा बन गया। वही का वही 'मैं'। अभी तो नहलाया-धुलाया कुछ भी नहीं किया, वैसे का वैसा ही है। देखो, वह 'मैं' अपवित्र भी नहीं होता न! कसाई बना हुआ 'मैं', शुद्धात्मा बन जाता है। पहले वह कसाई था। यदि उसे पूछें कि तू कौन है? तो वह कहता है कि 'मैं कसाई हूँ'। ज्ञान के बाद में शुद्धात्मा बन जाता है। नहलाना-धुलाना वगैरह कुछ भी नहीं करना पड़ता जबकि लोग तो रोज़-रोज़ नहाते हैं फिर भी कभी सुधरे नहीं। उस 'मैं' पर सोचने योग्य है! कैसा है यह! एवरीव्हेर एडजस्टेबल!

'मैं' में ओवरहॉलिंग करने जैसा कुछ भी नहीं है। उसमें एक भी स्पेयरपार्ट नहीं है। अनंत जन्मों की स्थितियों में वह कभी भी नहीं बदलता।

पोतापन एवरीव्हेर एडजस्ट नहीं हो सकता। पोतापन, पोतापन के साथ ही एडजस्ट हो सकता है। अन्य किसी के साथ एडजस्ट नहीं हो सकता। अत: 'मैं' और 'पोतापन', दोनों बहुत अलग चीज़ें हैं। हम में पोतापन नहीं है। इस ज्ञान के बाद अब आपका पोतापन छूटने लगा है।

प्रश्नकर्ता : दादा, अज्ञान दशा में 'वहाँ' पर धर्मभक्ति करते थे तब तो पोतापन को गुण मान लिया था न? तो फिर वह उसमें से छूटेगा ही कैसे?

दादाश्री : जो मान बैठा है, वह कौन है?

प्रश्नकर्ता : खुद।

दादाश्री : वह खुद, वही पोतापन है। यह जो अहंकार है, वह 'मैं' है, वह पोतापन नहीं है। वह खुद ही पोतापन है। 'मैं' तो, यदि पुलिस मुझसे कहे कि, 'यह गाड़ी ऐसे क्यों घुमवाई? क्या नाम है?' तो कहूँगा, 'लिखो, मैं हूँ ए.एम.पटेल'। 'भाई, कहाँ के वासी हो?' तो कहूँगा, 'मैं भादरण का'। 'किस जाति के हो?' 'पटेल हूँ।' क्या कहूँगा? मेरा 'मैं' तो एडजस्टेबल हो गया न! 'मैं' आज दादा भगवान भी कह सकता हूँ, किसी ऐसी जगह पर, जहाँ पर कहा जा सके वहाँ पर। वर्ना ए.एम. पटेल भी कह सकता हूँ। नहीं तो कॉन्ट्रैक्टर भी कह सकता हूँ और हीरा बा के गाँव में जाऊँ तो तब लोग यदि 'फूफा' कहें तब 'मैं फूफा हूँ, हाँ ठीक है'। नहीं? कोई फूफा कहेगा, कोई जीजा कहेगा, कोई मामा कहेगा, कोई चाचा कहेगा, एवरीव्हेर एडजस्टेबल। यह 'मैं' कितना अच्छा है! और यदि 'खुद' ऐसा होता कि एडजस्टेबल हो जाता तब तो बहुत अच्छा कहलाएगा न! जबकि दूसरी सभी जगह पर पोतापन करता है।

'मैं' को नहीं समझने के कारण, 'मैं' में से अन्य वस्तुओं पर आरोपण किया इसलिए विकल्प हो गया। अत: विकल्प का जो पूरा गोला है, वही पोतापन कहलाता है। विकल्प का पूरा गोला इकट्ठा हो गया। इधर से विकल्प और उधर से विकल्प, वह है पोतापन। उसमें जितने विकल्पों को कम करेगा उतने ही कम होंगे और जितने बढ़ाएगा उतने बढ़ेंगे। लेकिन वह गोला रहेगा तो सही।

वह गोला बहुत जटिल है। पोतापन का वह जो गोला होता है न! आपके साथ धर्मस्थानकों में भक्ति में जो बैठते हैं न, उनके गोले तो इतने बड़े-बड़े होते हैं। टीका-टिप्पणी नहीं करनी है लेकिन यदि गोले देखने जाएँ तो वे बड़े-बड़े हैं। मुझे यही समझ में नहीं आता कि वह उन गोलों को कब निकाल पाएगा।

प्रश्नकर्ता : दादा, 'मैं' की वजह से पोतापन मानता है न? आपने कहा न 'मैं', यह 'मैं' ही पोतापन मनवाता है?

दादाश्री : 'मैं' तो अलग चीज़ है। किसी भी जगह पर 'मैं' का आरोपण करना, 'मैं' का उपयोग उल्टी जगह पर किया तो उस क्षण पोतापन आ जाता है।

प्रश्नकर्ता : जब वह विकल्प होता है तब?

दादाश्री : हाँ, यदि दूसरी जगह पर (अज्ञान से) उपयोग किया तो विकल्प है लेकिन उससे 'मैं' को क्या लेना-देना? 'मैं' तो साफ का साफ ही है। यहाँ पर लाओ तो वापस यहाँ पर। उसे कुछ भी लेना-देना नहीं है। उससे पोतापन हो जाता है, बस वही लेना-देना है। आपको पोतापन हुआ है या नहीं?

प्रश्नकर्ता : दादा, ज़रा उदाहरण देकर समझाइए न! समझ में नहीं आया, 'मैं' और 'पोतापन', ये दोनों किस प्रकार से डिफरन्ट हैं?

दादाश्री : मैंने जो कहा, वह उदाहरण देने जैसा ही हुआ न! 'मैं' अर्थात् किसी भी चीज़ में आरोपण करना, किसी भी जगह पर 'मैं' का आरोपण कि 'मैं यह हूँ, मैं यह हूँ, वह हूँ' जबकि 'आप' वह हो नहीं, इसके बावजूद भी 'आप' ऐसा कहते हो कि, 'मैं यह हूँ' अर्थात् आरोपण हुआ। तो उसमें से पोतापन उत्पन्न हो गया। अब वह 'मैं' ऐसा नहीं करता है लेकिन 'वह मैं हूँ' ऐसा आरोपण किया, इसलिए आरोपण करने वाले में पोतापन उत्पन्न हुआ।

प्रश्नकर्ता : वह आरोपण कौन करता है?

दादाश्री : वही, जो अंदर है। उसे अज्ञान कहा जाता है। अब अज्ञान 'मैं' से भी पहले की चीज़ है। 'मैं' का आरोपण करने वाली चीज़ ही अज्ञान है और यदि 'मैं' का आरोपण छोड़ देगा तो उसका यह सब चला जाएगा। जिसने 'मैं' का आरोपण छोड़ दिया, 'मैं' शुद्धात्मा हो गया, उसका 'अहंकार' चला गया।

प्रश्नकर्ता : दादा का ज्ञान लिया, इसलिए चला गया?

दादाश्री : (अहंकार का) 'उसका' आरोपण छूट जाए तो आसान बात है न! कहाँ मुश्किल बात है?

प्रश्नकर्ता : अत: जब आप ज्ञान देते हैं तब आप आरोपण छुड़वा देते हैं?

दादाश्री : तभी छूटेगा, नहीं तो छूटेगा नहीं न! फिर हम कहते हैं कि, 'अरे, आप शुद्धात्मा हो या चंदूभाई?' तब कहता है, 'नहीं, मैं शुद्धात्मा हूँ'। उस क्षण यदि पकड़े रखें कि 'नहीं, मैं चंदूभाई हूँ', तो हम जान जाएँगे कि आरोपण नहीं छूटा है लेकिन उस क्षण सभी कहते हैं कि 'मैं शुद्धात्मा हूँ'। नहीं?

प्रश्नकर्ता : हाँ। दादा, अनंत जन्मों का आरोपण एक घंटे में छूट जाता है और वापस जहाँ था, उस मूल जगह पर आ जाता है, तो वह 'मैं' भी कितना फ्लेक्सिबल है न?

दादाश्री : 'मैं' तो एवरीव्हेर एडजस्टेबल है।

प्रश्नकर्ता : लेकिन एक बार यदि 'मैं शुद्धात्मा हूँ' में एडजस्ट हो जाए तो फिर वह नहीं हटता। फिर 'मैं' उसमें स्थिर हो जाता है।

दादाश्री : हो ही जाएगा न फिर।

प्रश्नकर्ता : वह किस तरह?

दादाश्री : मूल जगह पर बैठ गया है इसलिए हो ही जाएगा न! लोगों को भी मूल जगह पर बैठाना है लेकिन बैठ नहीं पाता न! कैसे बैठेगा? वह तो, जब सभी पाप भस्मीभूत हो जाते हैं तो फूल जैसे हल्के हो जाते हैं। जब पाप भस्मीभूत हो जाते हैं तब 'मैं' मूल जगह पर बैठ जाता है। वह तो, जब 'उसे' ठंडक होती है न, तब फिर कहता है, 'नहीं, यहीं पर रहूँगा'। अब नहीं छूटेगा।

प्रश्नकर्ता : दादा, जब आप ज्ञान देते हैं तब वह 'मैं'पन अलग हो जाता है लेकिन जो 'मैं'पन है वह, जागृति जितनी अधिक हो उसी अनुसार रहता है न, या जागृति कम हो उस अनुसार रहता है? उसमें जागृति काम करती है क्या?

दादाश्री : जागृति ही है न! (भाव) निद्रा से 'मैं'पन का उपयोग

उल्टी जगह पर होता है और जब जागृति आ जाती है तब उसका उपयोग सही जगह पर होता है, जागृति से।

'हूँ' की वर्तना बदलती है ऐसे...

प्रश्नकर्ता : तन्मयाकार कौन होता है?

दादाश्री : अहंकार। जो उसमें तन्मयाकार नहीं होने देता, वह है जागृति। वही अलग रखती है। मूल आत्मा तन्मयाकार नहीं होता। अजागृति से हम तन्मयाकार हो जाते हैं न!

प्रश्नकर्ता : ज्ञान प्राप्ति के बाद यदि जागृति रहे तो प्रतिष्ठित आत्मा तन्मयाकार नहीं होगा?

दादाश्री : उसके बाद जो भान रहता है, वह एक जागृति है और जब जागृति अपने स्वभाव में आ जाएगी तब वह तन्मयाकार नहीं होगा। यह तो जब तक पिछला फोर्स है तब तक हट जाती है। फोर्स कम हो जाएगा तो तन्मयाकार नहीं होगी। जो डिस्चार्ज है वह पूरा ही टंकी का पानी है, भरा हुआ माल है।

प्रश्नकर्ता : आपने ऐसा कहा है 'जागृति हो गई है इसलिए आप तन्मयाकार नहीं होते', तो इसे किस प्रकार से समझें?

दादाश्री : आप अर्थात् क्या है? मूल आत्मा नहीं। अभी भी 'मैं' तो रहा हुआ है ही, पहले यह 'मैं' प्रतिष्ठित आत्मा के रूप में था, अब 'मैं' जागृति के रूप में है। वह 'मैं' तन्मयाकार नहीं होता।

प्रश्नकर्ता : तो क्या इसका अर्थ यह हुआ कि जब हम तन्मयाकार नहीं होते हैं तो प्रतिष्ठित आत्मा भी तन्मयाकार नहीं होता?

दादाश्री : नहीं! हम अर्थात् कौन? जो उस समय हाज़िर है, वह। जो उस समय अपनी बिलीफ में है। अभी पूर्णत: शुद्धात्मा नहीं हुए हो। मूल प्रतिष्ठित आत्मा छूट गया। अब, जागृत आत्मा का अर्थ है जागृति। जागृति जो कि परिणाम है, वह अभी वहाँ पर यों तन्मयाकार नहीं होती।

प्रश्नकर्ता : ज्ञान मिलने के बाद प्रतिष्ठित आत्मा तो है ही, तो वह क्या करता है? फिर उसकी क्या स्थिति है?

दादाश्री : फिर उसकी कोई स्थिति नहीं है, वह डिस्चार्ज के रूप में है। अर्थात् निश्चेतन चेतन है। वह ज्ञेय के रूप में रहता है। फिर, ज्ञेय के रूप में वह 'क्या कर रहा है और क्या नहीं?' उसे जो जानती है, वह जागृति है।

स्वरूप का भान होने से पहले प्रतिष्ठित आत्मा को ही हम ज्ञाता मानते थे। स्वरूप ज्ञान के बाद प्रतिष्ठित आत्मा खुद ही ज्ञेय बन जाता है और वहाँ पर जागृति खुद ही ज्ञाता बन जाती है। यानी कि पहले जो 'मैं' प्रतिष्ठित आत्मा के रूप में था, अब वही 'मैं' जागृति रूपी 'मैं' बन जाता है और मूल आत्मा तो अभी उससे भी आगे है। जब यह जागृति में आ जाएगा, संपूर्ण जागृत हो जाने पर मूल आत्मा में एकाकार हो जाएगा। जब तक संपूर्ण नहीं हो जाता तब तक जुदा रहता है। तब तक अंतरात्मा के रूप में रहता है। वहाँ पर बहिर्मुखी पद छूट चुका होता है। अंतरात्म दशा के खत्म होते ही परमात्मा पद प्राप्त होता है!

'मैं' का स्थान, शरीर में

प्रश्नकर्ता : मनुष्य मात्र जिसे 'मैं' कहता है, वह कहाँ पर रहता है?

दादाश्री : पूरे शरीर में जहाँ पर भी सुई चुभोने पर उसे पता चलता है, वहीं पर 'मैं' है। सुई को ऐसे चुभोकर देखो, आँखें मींचकर। जब सुई लगेगी तब अपने आप ही आह निकलेगी। नहीं निकलेगी?

प्रश्नकर्ता : निकलेगी।

दादाश्री : अत: 'मैं' इस जगह पर रहता है। वह बालों में नहीं है, अगर कोई बाल काटे तो आह नहीं निकलती। कोई नाखून काटे तो आह नहीं निकलती। जहाँ-जहाँ 'मैं' ओ ओ ओ! करता है, उन सभी जगहों पर वह 'मैं' ही है। बड़ी बस के ड्राइवर का 'मैं' कहाँ पर होता होगा?

प्रश्नकर्ता : उसके शरीर में।

दादाश्री : नहीं, पूरी बस में। जब वह ड्राइविंग करता है तब ज़रा सा भी नहीं टकराता, उस तरफ। उसका 'मैं' पूरे बस रूपी ही हो जाता है। जहाँ पर टकराने लगे वहाँ 'मैं' उसे बिल्कुल भी टकराने नहीं देता। बड़ी सौ फुट की बस हो तब भी उसे वह टकराने नहीं देता। उसे कैसे पता चलता है कि इस कॉर्नर पर टकराएगा या नहीं? लेकिन 'मैं'पन है इसलिए। 'मैं'पन का इतना अधिक विस्तार करता है कि यदि बस में बैठा हो तो बस में, कार में बैठा हो तो कार में। विस्तारपूर्वक अर्थात् कहीं पर भी बिल्कुल नहीं टकराता। वर्ना तो वास्तव में इसी में है। इस देह में ही जहाँ पर सुई चुभोए वहाँ पर उसे पता चलता है या नहीं चलता? क्या कहने जाना पड़ता है? बूढ़े को भी पता चल जाता है।

प्रश्नकर्ता : हर एक को पता चलता है। बात निकली थी न, 'मैं' सो गया है, 'मैं' देख रहा है, 'मैं' सुन रहा है तो यह 'मैं', क्या वह आत्मा है? प्रकृति है? वह क्या है?

दादाश्री : वह तो अहंकार है। (मैं कर रहा हूँ अर्थात् अहंकार)

प्रश्नकर्ता : हाँ, लेकिन क्या वह आत्मविभाग में आता है?

दादाश्री : नहीं।

प्रश्नकर्ता : तो प्रकृति में?

दादाश्री : हं...

प्रश्नकर्ता : कर्तापन क्या उसका नहीं है? क्या वास्तव में वह कर्ता नहीं है?

दादाश्री : वास्तव में वह कर्ता नहीं है, वह तो मान बैठा है कि 'यह मैं कर रहा हूँ'। जैसे स्टेशन पर गाड़ी चलती है न, तब वह ऐसा समझता है कि, 'मैं चला'। ऐसा मान बैठता है। गाड़ी इस तरफ जाती है और उसे ऐसा दिखाई देता है कि वह खुद इस तरफ जा रहा है। तो क्या हम समझ नहीं जाएँगे कि इसे भ्रम हो रहा है। वह ऐसा मान रहा है।

प्रश्नकर्ता : अर्थात् हर एक क्रिया में वह खुद सिर्फ मानता ही है। यानी देखने वाला अलग है और खुद मानता है कि 'मैं देख रहा हूँ'।

दादाश्री : वह 'देखने वाला' (दृष्टा) तो है ही नहीं।

प्रश्नकर्ता : वह खुद नहीं है?

दादाश्री : वह तो बिल्कुल अंधा ही है।

प्रश्नकर्ता : अभी आपने कहा न कि वह 'मैं' ही है, वह 'मैं' ही देखता है, 'मैं' सुनता है।

दादाश्री : नहीं! वह तो अंदर प्रकृति ऐसा जानती है कि प्रकृति में आत्मा की जानने की शक्ति आई है, पावर आया है। किसी भी चीज़ में पावर भरने से खुद के पावर में कमी नहीं आती लेकिन वह चीज़ पावर वाली होती जाती है।

प्रश्नकर्ता : तो क्या आत्मा का पावर प्रकृति में उतरा है? उसके आधार पर वह यह सारा ज्ञान समझ सकता है? उसके आधार पर यह सब जानना-सुनना हुआ?

दादाश्री : बुद्धि उसी के आधार पर यह सब जानती है। फिर अहंकार कहता है, 'मैं जानता हूँ' और 'कर भी मैं ही रहा हूँ'। दोनों में से एक बोल न, तब कुछ राह पर आएगा।

प्रश्नकर्ता : तो वह ज़रा समझ में नहीं आया। आत्मा का पावर प्रकृति में उतरा?

दादाश्री : 'मैं कर रहा हूँ' ऐसा बोलता है न, तो उस क्षण 'मैं' वास्तव में इगोइज़म नहीं है। वह तो है आत्मा का विशेष परिणाम। 'खुद' आत्मा ही है लेकिन अब 'वह' जो है, वह ऐसा मानता है कि 'यह मैं हूँ'। बीच में उत्पन्न हो चुकी एक चीज़ है, आत्मा से बाहर। उसे विशेष भाव कहते हैं।

प्रश्नकर्ता : यह 'मैं', क्या वह पूरा ही विशेष भाव है?

दादाश्री : विशेष भाव हो गया है। खुद का स्वभाव भाव नहीं है लेकिन विशेष भाव हो गया है।

प्रश्नकर्ता : तो अब फिर यह पावर प्रकृति में कैसे जाता है?

दादाश्री : 'मैं कर रहा हूँ', ऐसा कहने से वह पावर प्रकृति में जाता है। 'मैं जानता हूँ' कहे, तो उससे प्रकृति में पावर जाता है। अहंकार जो-जो बोलता है न, उससे प्रकृति में पावर आता जाता है।

प्रश्नकर्ता : अर्थात् वह 'मैं' भाव कर सकता है?

दादाश्री : भाव ही करता है न! विशेष भाव करता है।

प्रश्नकर्ता : वह खुद भी विशेष भाव है?

दादाश्री : हाँ। खुद विशेष भाव ही है। (फर्स्ट लेवल का मूल विशेष भाव)

प्रश्नकर्ता : और फिर वह वापस विशेष भाव करता है?

दादाश्री : विशेष भाव करता रहता है। (सेकन्ड लेवल का विशेष भाव)

प्रश्नकर्ता : उसी से प्रकृति है?

दादाश्री : उसी से प्रकृति उत्पन्न हुई है। और फिर वह प्रकृति प्राणवान है। है निश्चेतन चेतन, वास्तव में चेतन नहीं है, लेकिन चेतन जैसी दिखाई देती है।

प्रश्नकर्ता : अहंकारी प्रकृति और विकारी प्रकृति यों पैरेलल दिखाई देती है एक प्रकार से। अत: इसमें कुछ कर्तापन की मान्यता है और इसमें कुछ सुख की मान्यता है। तो इसमें ऐसा कोई कनेक्शन है या नहीं?

दादाश्री : अहंकार का मतलब तो यह है कि कर रहा है अन्य कोई लेकिन कहता है कि 'मैं कर रहा हूँ'। जो इट हैपन्स है, उसे भी बस ऐसा मानता है कि 'मैं कर रहा हूँ', इतना ही है। वही अहंकार है!

और विकार तो, जब वैसे संयोग मिलते हैं तब 'वह' विकारी बन जाता है, यों सही संयोग मिलते हैं तब 'वह' निर्विकारी बन जाता है। यानी 'उसे' विकारी या अविकारी जैसा कुछ भी नहीं है।

प्रश्नकर्ता : यानी कि वह खुद ही विकारी बनता है अथवा निर्विकारी भी वही बनता है?

दादाश्री : वह खुद कहता भी है, कि 'मेरा स्वभाव विकारी है' और निर्विकारी भी हो सकता है, अगर संयोग मिल जाएँ तो।

अहंकार नहीं है तो कुछ भी नहीं होगा। ये विकार ही नहीं होंगे और वह फिर से निर्विकारी भी नहीं बन सकेगा। अहंकार है तो होता है।

प्रश्नकर्ता : मूल आत्मा तो निर्विकारी ही है?

दादाश्री : वहाँ पर तो विकार है ही नहीं। 'अनासक्त' है। 'अकामी', 'अनासक्त', निर्विकारी ही है वह तो! 'मैं शुद्धात्मा हूँ', वहाँ पर शुद्ध बन गया और 'मैं हूँ विकारी' तो विकारी बन गया। 'मैं निर्विकारी हूँ' तो निर्विकारी! 'मैं ब्रह्मचारी' तो वह ब्रह्मचारी बन गया।

प्रश्नकर्ता : जैसा चिंतन करे वैसा ही बन जाता है।

दादाश्री : हाँ, जैसा चिंतन करे वैसा ही बन जाता है!

तब अहंकार गद्दी सौंप देता है 'मूल' को

प्रश्नकर्ता : 'मैं शुद्धात्मा हूँ', ऐसा कौन जानता है?

दादाश्री : वह तो अहंकार जानता है। अहंकार अर्थात् 'मैं' जानता है। 'मैं चंदूभाई हूँ', वह चंदूभाई ('मैं' चंदूभाई की सीट पर बैठा है, वह अहंकार) का ज्ञान बदला और 'मैं शुद्धात्मा हूँ' हो गया। और वह अहंकार तो बुद्धि सहित ही होता है। बाकी यों तो अहंकार को ज़रा सा भी ज्ञान नहीं है। सिर्फ बुद्धि अकेली आत्मा को नहीं जान सकती। बुद्धि जब अहंकार सहित हो तभी जान सकती है।

प्रश्नकर्ता : तो क्या इसका अर्थ ऐसा हुआ कि अहंकार को आत्मा की पहचान होती है?

दादाश्री : और किसे होती है? अन्य कोई चीज़ नहीं है इसमें।

प्रश्नकर्ता : जब दादा ज्ञान देते हैं उस समय तो अहंकार ले लेते हैं, फिर जानने वाला कौन रहा?

दादाश्री : अब उस अहंकार का क्या काम है? जितना ज़रूरत लायक अहंकार है, डिस्चार्ज अहंकार, वह डिस्चार्ज अपना काम करता रहेगा। अब रहा ही कहाँ है? अहंकार के बिना तो संसार का कोई कार्य हो ही नहीं सकता। लेकिन जो आपमें है, वह डिस्चार्ज अहंकार है परंतु चार्ज अहंकार बंद हो चुका है।

प्रश्नकर्ता : उसके लिए तो आपने वह कहा था न कि 'आत्मा को कौन जानता है? अहंकार जानता है'। तो अहंकार तो ले लिया आपने, फिर जानने वाला कहाँ रहा?

दादाश्री : नहीं! उस दिन जाना तो उस बेचारे का सब छूट गया। जानने के बाद वह छूट गया। 'मैं'पन छोड़ दिया और मालिकीपन छोड़ दिया और अहंकार भी छूट गया। सबकुछ खत्म हो गया उस दिन से! जीवित अहंकार खत्म हो गया। यह डिस्चार्ज बचा है।

प्रश्नकर्ता : तो फिर इस अहंकार को कौन जानता है?

दादाश्री : आत्मा जानता है। जब हम यह लाइन ऑफ डिमार्केशन डाल देते हैं तब बुद्धि सहित यह अहंकार (अर्थात् आइ विद चंदू), यह समझ जाता है कि, 'मेरा अस्तित्व ही गलत है' और शुद्धात्मा को जान जाता है कि, 'यही है'। मूल स्वभाव शुद्धात्मा है इसलिए उसे सौंप देता है। फिर सबकुछ अलग हो जाता है। इसमें समझने में भूल कहाँ पर हो जाती है? शुद्धात्मा को जान ही जाता है, यों ही नहीं जान जाता। आत्मा जानने हेतु अज्ञानी व्यक्ति के लिए इतने सारे शास्त्र रखे गए। यह तो, जब मैं ज्ञान देता हूँ तब शुद्धात्मा जान पाता है, वर्ना कैसे जान सकेगा? और जिस दिन उसे जान लेता है, तभी से उसका अस्तित्व खत्म हो जाता

है। जब यह अहंकार, बुद्धि सहित, आत्मा को जानता है तब उसका खुद का अस्तित्व खत्म हो जाता है। अत: यह वाक्य बाहर ले जाने के लिए नहीं है। देखना ये बातें, आत्मिक वाक्य बाहर ले जाएँगे न, तो बाहर घोटाला हो जाएगा। आपका कहना सही है कि ऐसा कहने पर कि 'अहंकार आत्मा को जानता है' तो लोग समझेंगे कि 'ये लोग उल्टे चल रहे हैं'। बाकी, अहंकार आत्मा को कभी भी नहीं जान सकता। जब ज्ञानी पुरुष ज्ञान देते हैं सिर्फ तभी अहंकार खुद समझ जाता है कि 'यह मेरा स्वरूप नहीं है। जो है वह 'यही' है, मैं तो बिना बात के ही बीच में हूँ', वह खुद के अस्तित्व को ही डिज़ोल्व कर देता है।

प्रश्नकर्ता : फिर वह आत्मा अहंकार को देखता है न?

दादाश्री : आत्मा तो अहंकार को पहले से देख ही रहा था। इन सांसारिक व्यक्तियों में भी आत्मा तो देख ही रहा है कि 'मेरा अहंकार बढ़ गया, कम हो गया'। नहीं जानता क्या? यह जानने वाला कौन है? 'मेरी बुद्धि बढ़ गई है, मेरी बुद्धि उल्टी चल रही है, गलत चल रही है', यह सब जानने वाला कौन है?

प्रश्नकर्ता : 'अहंकार आत्मा को जानता है', वह ज़रा ठीक से समझ में नहीं आया।

दादाश्री : वह जानता ही नहीं है। यह बात तो अपनी भाषा में है, वास्तविकता में। बाहर की भाषा में नहीं है यह। जब हम ज्ञान देते हैं तभी यह अहंकार छूट जाता है, तब तक वह अहंकार जाता नहीं है। जब हम ज्ञान देते हैं, तब ज्ञान से 'वह' स्तब्ध हो जाता है कि इसमें मेरा स्कोप कहाँ पर है? मेरा मालिकीपन कहाँ है और मेरा स्कोप कहाँ है? उस समय इसमें लाइन ऑफ डिमार्केशन में समझ जाता है कि यही शुद्धात्मा है इसलिए वह खुद वहाँ पर 'मैं'पन छोड़ देता है। अहंकार खुद छोड़ देता है। आत्मा को जान जाता है कि आत्मा ही है, यही मालिक है इसलिए तुरंत कूँची (चाबी) सौंप देता है। जैसे कि जब वास्तविक प्रेसिडेन्ट आ जाता है तो इस ज़ैलसिंह को (अंतरिम प्रेसिडेन्ट को) छोड़ देना पड़ता है या नहीं छोड़ना पड़ता या ज़ैलसिंह फिर शोर मचाता है?

प्रश्नकर्ता : लेकिन जब ज्ञान होता है तभी अहंकार जाता है न?

दादाश्री : पहले ज्ञान नहीं होता, पहले अहंकार जाता है। उसके बाद में ज्ञान होता है। अहंकार किससे जाता है? विराट स्वरूप के प्रताप से अहंकार चला जाता है।

प्रश्नकर्ता : ऐसा कहा है 'जब अहंकार छूट जाता है तब खुद मूल वस्तु में बैठ जाता है' तो ऐसा भी कहा जा सकता है न कि वह मूल स्वरूप से अलग हो गया था?

दादाश्री : नहीं! अलग हो गया था, यों ऐसा कुछ नहीं है। अलग हो गया था और बंद हो गया था ऐसा नहीं है। ये जो सब रोंग बिलीफें थीं, वे गायब हो गई।

प्रश्नकर्ता : लेकिन दादाजी क्या ऐसा नहीं कह सकते कि अहंकार हो गया इसका मतलब यह है कि आत्मा ढका पड़ा था?

दादाश्री : हाँ, लेकिन उससे तो आत्मा का लाभ ही नहीं मिलेगा न!

प्रश्नकर्ता : हाँ, यानी कि उस पर अहंकार का जो आवरण था, वह उस पर... वर्ना फिर भी वह खुद तो प्रकाश ही है।

दादाश्री : बस ऐसा ही है न! वे कहते हैं कि 'मैं हिन्दुस्तान का प्रेसिडेन्ट हूँ', तो क्या उससे उसका सेठपन चला गया?

प्रश्नकर्ता : नहीं। नहीं गया। आपने कहा न कि वह भोगता है और मोक्ष में भी उसी को जाना है।

दादाश्री : तो फिर और कौन जाएगा? जो बंधा हुआ है, उसी का मोक्ष होगा न!

प्रश्नकर्ता : लेकिन यदि देखा जाए तो एक प्रकार से उसका अस्तित्व ही नहीं है।

दादाश्री : अस्तित्व नहीं है फिर भी उसके द्वारा माना हुआ है न!

प्रश्नकर्ता : यानी कि 'उसे' पता चलता है कि यह मेरा अस्तित्व नहीं है, इसलिए उसका मोक्ष हो जाता है।

दादाश्री : यह सब गायब हो जाता है उसका।

प्रश्नकर्ता : जो ऐसा मानता है, वह कौन है?

दादाश्री : अहंकार है। और कौन? बुद्धि सहित।

प्रश्नकर्ता : बुद्धि सहित?

दादाश्री : अर्थात् वह अहंकार, हमेशा पूरे अंत:करण सहित ही होता है। अकेला नहीं होता।

प्रश्नकर्ता : तो अंत:करण सहित जो अहंकार है, उसी को आत्मा जानने की इच्छा है न?

दादाश्री : नहीं। आत्मा जानने की किसी को कोई इच्छा नहीं है। उन्हें आत्मा जानने की इच्छा क्यों हो? उन्हें क्या ज़रूरत है आत्मा की?

प्रश्नकर्ता : 'मोक्ष में जाना है', ऐसा कहा है न।

दादाश्री : उन्हें तो यह सुख चाहिए। हमारा सुख कहाँ पर खो गया? तो कहते हैं, इसमें तेरा सुख नहीं खोया है। यहाँ पर आ जाओ। यह अहंकार कहता है न कि, 'मैं दु:खी-दु:खी हो गया'।

प्रश्नकर्ता : तो फिर अहंकार तो वहाँ पर जाएगा नहीं।

दादाश्री : नहीं! जाएगा नहीं। वह खत्म हो जाता है तो आ गया वह सब। वे जो मान्यताएँ थीं, रोंग बिलीफें थीं, वे खत्म हो जाती हैं।

प्रश्नकर्ता : यह सुख-दु:ख का भी भ्रम हो गया है।

दादाश्री : यह सिर्फ भ्रम ही है। अन्य कुछ है भी नहीं। भ्रम है लेकिन फिर वह रिलेटिव सत्य है। भ्रमणा में बिल्कुल भी चिंता नहीं होती। यह तो रिलेटिव सत्य है। इल्यूज़न में तो हमें काफी कुछ घबराहट और ऐसा सब उल्टा दिखाई देता है और ऐसा सब होता है लेकिन चिंता नहीं

होती। चिंता तो, इस रिलेटिव सत्य को 'मेरा है' ऐसा माना है इसलिए चिंता होती है।

प्रश्नकर्ता : इस सब को 'मेरा' माना है इसलिए...

दादाश्री : कितनी दृढ़ता से माना है!

दृष्टि क्या है? दृष्टि किसकी है?

इस ज्ञान की प्राप्ति के बाद में अब वह 'खुद' सम्यक् दृष्टि वाला हो गया। पहले 'खुद' मिथ्या दृष्टि वाला था। रोंग बिलीफ फ्रेक्चर करने पर राइट बिलीफ बैठती है। राइट बिलीफ अर्थात् सम्यक् दर्शन। इसलिए फिर, 'मैं चंदूभाई नहीं हूँ, मैं शुद्धात्मा हूँ', ऐसी बिलीफ बैठ जाती है। दोनों दृष्टियाँ अहंकार की ही हैं। वह दृष्टि दृश्यों को देखती थी, भौतिक चीज़ों को और यह दृष्टि चेतन वस्तु को देखती है। यह चेतन दृष्टा है और बाकी का सब दृश्य है। दृष्टा और ज्ञाता, दोनों ही चेतन के गुण हैं।

प्रश्नकर्ता : यह दृष्टि, दृष्टा का कार्य है न?

दादाश्री : नहीं।

प्रश्नकर्ता : तो दृष्टि क्या है?

दादाश्री : दृष्टि तो अहंकार की है। आत्मा की दृष्टि नहीं होती। आत्मा को तो सहज स्वभाव से अंदर दिखाई देता रहता है। अंदर सब झलकता है! उसके खुद के अंदर ही सबकुछ झलकता है!

प्रश्नकर्ता : तो फिर इस आत्मा को जानने वाला कौन है? जो आत्मज्ञान होता है, वह किसे होता है?

दादाश्री : वह दृष्टि अहंकार को मिलती है। पहले मिथ्या दृष्टि थी, उसके बजाय 'इसमें' ज़्यादा सुख लगा इसलिए फिर वह अहंकार धीरे-धीरे इसमें विलय होता जाता है। अहंकार शुद्ध होते ही शुद्धात्मा में विलीन हो जाता है, बस! जैसे कि यदि शक्कर की पुतली को तेल में डाल दें तो नहीं घुलती, लेकिन पानी में डालने पर घुल जाती है। यह

भी उसी प्रकार से है। अर्थात् शुद्धात्मा वाली दृष्टि* होते ही सबकुछ विलय होने लगता है। तब तक अहंकार है।

वह अहंकार नहीं है परंतु 'मैं' है

प्रश्नकर्ता : अर्थात् यह अहंकार ही बोल रहा है न? जो उल्टा चल रहा था वही अब... ऐसा कहता है न कि 'मैं शुद्धात्मा हूँ'?

दादाश्री : 'मैं'! 'मैं' (जागृत आत्मा) ऐसा कहता है, अहंकार नहीं कहता। अहंकार तो अलग रहता है। अहंकार नहीं कहता। 'मैं', वह 'मैं' खुद का स्वरूप ही है। अब (मूल) स्वरूप खुद नहीं बोलता है लेकिन यह क्रिया उस तरफ की है। हम जिसे शुद्धात्मा कहते हैं वह शुद्धात्मा खुद भी शब्द नहीं है, यह क्रिया उस तरफ घूम गई है अब। जैसे-जैसे 'आपकी' श्रद्धा बदलती है, बिलीफ बदलती है, वैसे-वैसे आवरण टूटते जाते हैं। आवरण तोड़ने वाली चीज़ है यह। लेकिन वह भान ही कि 'मैं शुद्धात्मा हूँ', वही 'मैं' का अस्तित्व है। भान बदल गया। यदि अहंकार है तो काम ही नहीं आएगा न! वह चीज़ ही अलग है। अहंकार को लेना-देना नहीं है। अहंकार के विलय होने के बाद तो खुद का स्वरूप, 'वह' (भान) होता है। यह सब अंतरिम कहलाता है।

प्रश्नकर्ता : जो भटक गया है वह अहंकार कौन सा है, सजीव या निर्जीव?

दादाश्री : सजीव।

प्रश्नकर्ता : भटका अर्थात् अहंकार कैसे भटक जाता है?

दादाश्री : जब से उसे पता चलता है, कोई कहे कि यह गलत रास्ता है, और जब से वह वापस पलट जाता है तभी से वह निर्जीव कहलाता है। फिर निर्जीव अहंकार के सहारे 'वह' वापस लौटता है।

प्रश्नकर्ता : ठीक है। लेकिन क्या वापस लौटना, वह निर्जीव अहंकार है?

दादाश्री : कोई 'उसे' वापस निकाल दे कि 'यह रास्ता गलत है,

---

* दृष्टि के अधिक रेफरेन्स के लिए आप्तवाणी-३, ८ और १३

यहाँ कहाँ से ? यहाँ से तो भाई, यों चला जाएगा'। तो कहता है कि 'हें ! वापस आया'। तो निर्जीव अहंकार के सहारे वापस जाना पड़ता है। उस क्षण सजीव अहंकार नहीं रहता। जब अन्य सब लोग मिलते हैं तब वे कहते हैं, 'वापस क्यों जा रहा है ? ऐसे जा !' तो फिर से उस ओर चलने लगता है। वह वापस सजीव हो जाता है।

प्रश्नकर्ता : अहंकार सजीव है या निर्जीव, उसका डिमार्केशन कैसे पता चलेगा ?

दादाश्री : 'किस तरफ जा रहा है, उसकी दिशा पर से पता चलेगा।

प्रश्नकर्ता : उल्टे रास्ते जाए और मार खाए तो वह सारा सजीव है ?

दादाश्री : सजीव ही है। अहंकार तो सजीव ही है। निर्जीव कब होता है ? जब उसे कोई कहे कि 'यह सही रास्ता नहीं है। गलत रास्ते पर है। तेरी यह बिलीफ गलत है। तू वापस जा'। तब यदि उसी क्षण पलट जाए तो वह निर्जीव अहंकार से चल रहा है। यों उस तरफ जो जा रहा था वह सजीव अहंकार से जा रहा था और जब वापस पलटता है तो वह निर्जीव अहंकार से है। भले ही सात सौ मील चलेगा लेकिन निर्जीव अहंकार से।

निश्चय काम का, व्यवहार निकाली

प्रश्नकर्ता : क्या इस निर्जीव अहंकार को शुद्ध अहंकार कहा जा सकता है ?

दादाश्री : हाँ, शुद्ध अहंकार कहा जा सकता है। इन दोनों में फर्क इतना ही है कि शुद्ध अहंकार में कोई परमाणु नहीं होता। क्रोध-मान-माय-लोभ, राग-द्वेष, कोई भी परमाणु नहीं होता। सभी परमाणु निकाल, निकाल, निकालकर बिल्कुल शुद्ध कर दिया होता है। सभी परमाणु निकाल दिए होते हैं और निकालते-निकालते, वह पूरा प्रयोग ही है। परमाणु निकालते-निकालते, निकालते-निकालते सिर्फ शुद्ध अहंकार बचा,

वह आत्मा में मिल जाता है। और जो शुद्ध है, वह निर्जीव ही है। देखने जाएँ तब भी इस निर्जीव में (अक्रम मार्ग में तो) वे सभी परमाणु तो हैं ही।

प्रश्नकर्ता : ये क्रोध-मान-माय-लोभ, वे परमाणु ही हैं न?

दादाश्री : हाँ! क्योंकि हमें तो रास्ते चलते यह प्राप्त हो गया है न!

प्रश्नकर्ता : तो 'मेरा' निकालने के बाद सेपरेट करने से जो 'आइ' रहता है, क्या वह अहंकार है?

दादाश्री : वह 'आइ', 'आइ' ही रहा है, 'माइ' के साथ में हो तो वह 'आइ' अहंकार कहलाता है। 'माइ' उसमें एकाकार नहीं हो तो 'आइ' तो निर्अहंकारी है, आत्मा कहलाता है। जब 'माइ' के एक भी परमाणु का छींटा नहीं रहता तो वह आत्मा कहलाता है। वर्ना यदि 'आइ' 'माइ' के साथ में हो तो वह अहंकार कहलाता है।

प्रश्नकर्ता : आपने आप्तसूत्र में कहा है कि क्रमिक मार्ग में अहंकार को शुद्ध करते-करते, डेवेलप करते-करते, उस हद तक ले जाना है कि वह खुद ही भगवान स्वरूप हो जाए। अहंकार ही भगवान बन जाए।

दादाश्री : अहंकार शुद्ध हो जाता है। उस अहंकार में जो विकृति थी सिर्फ वही निकाल दी, वह विकृति क्या-क्या थी? तो कहते हैं, 'जो कमज़ोरियाँ थीं, क्रोध-मान-माय-लोभ, राग-द्वेष के एक-एक परमाणु को खींच लिया। फिर शुद्ध अहंकार बचा'। जब अहंकार शुद्ध हो जाता है तब वह शुद्धात्मा जैसा बन जाता है। यानी कि फिर तब अंतिम (प्रकार का) शुद्ध अहंकार बन जाता है। तब तक तो नब्बे प्रतिशत शुद्ध और दस प्रतिशत अशुद्ध।

प्रश्नकर्ता : दादा, आपने कहा कि वह शुद्ध अहंकार मिल जाता है, आत्मा और शुद्ध अहंकार। तो कौन किसमें मिल जाता है?

दादाश्री : कोई किसी में नहीं मिलता। अहंकार शुद्ध हुआ, शुद्ध

हो गया यानी स्वभाव, स्वभाव में आ गया। स्वभाव, स्वभाव में एक हो गया। और जब तक अशुद्ध चेतन है, विभाव है, तब तक अलग है। यदि दस प्रतिशत अशुद्धि हो और नाइन्टी परसेन्ट शुद्धि हो तब भी नहीं चलेगा। तब तक (क्रमिक मार्ग के) ज्ञानी ऐसा कहते हैं कि, 'मैं अलग हूँ और आप सब शिष्य अलग हो'। तब तक ज्ञानी को अकुलाहट भी रहती है।

प्रश्नकर्ता : हाँ, लेकिन आप कहते हैं कि अहंकार शुद्ध हो गया लेकिन वह रिलेटिव में से रियल में आता है। वह तो कुछ भी समझ में नहीं आया।

दादाश्री : नहीं, लेकिन अंहकार जब शुद्ध होता है तब स्वभाव से ही एकाकार हो जाता है, शुद्धात्मा और अहंकार। क्योंकि सिर्फ 'मैं' ही बचता है। अन्य कुछ भी नहीं बचता, वह भी आश्चर्य है न!

प्रश्नकर्ता : क्रमिक मार्ग में अंतिम स्टेप में 'मैं' बचता है?

दादाश्री : सिर्फ 'मैं' ही बचता है।

प्रश्नकर्ता : अब यह जो 'मैं' विलय होता है, वह अपने आप (खुद) तो नहीं होता न?

दादाश्री : नहीं! 'मैं' बैठता भी कहाँ पर है? शुद्धात्मा में बैठ जाता है।

प्रश्नकर्ता : हाँ! शुद्धात्मा में बैठता है लेकिन जब यह 'मैं' दूसरी जगह पर बैठा है, अर्थात् शुद्धात्मा नहीं मिला है, उसे ऐसा कुछ समझाने वाला तो होना चाहिए न?

दादाश्री : इस 'मैं' में यदि ज़रा भी कोई अन्य परमाणु रहे, तब तक 'मैं' बाहर बैठा रहता है लेकिन जब परमाणु विलय हो जाएँगे, उनका *गलन* हो जाएगा तब 'मैं' उसके अंदर ही बैठ जाएगा। वही मोक्ष है। वही अंतिम अवतार है। वह चरम शरीर कहलाता है। वह शरीर ऐसा होता है कि काटने जाए तो कटे नहीं।

क्रमिक मार्ग में ठेठ अंतिम अवतार तक अंहकार रहता है। लेकिन

वह अंहकार कैसा होता है? उस अंहकार के शुद्ध होते, होते, होते, होते, होते लोभ के परमाणु निकल जाते हैं, मान के परमाणु निकल जाते हैं, क्रोध के परमाणु निकल जाते हैं, वक्रता के परमाणु निकल जाते हैं, माया के, सभी परमाणु निकलते, निकलते, निकलते, निकलते... जो बिल्कुल शुद्ध 'मैं' बचता है, वह और शुद्धात्मा, दोनों अपने आप ही एकाकार हो जाते हैं, ऑटोमैटिकली। उसी को कहते हैं क्रमिक मार्ग।

हर एक में तीन चीज़ें हैं, प्रकृति, अंहकार और शुद्धात्मा। आपका (महात्माओं का) अंहकार निर्मूल हो चुका है। अब आपमें दो चीज़ें बचीं। एक, प्रकृति और दूसरा, शुद्धात्मा।

प्रश्नकर्ता : अब यह प्रकृति को जिस भाव से रंगा है, वह उसी भाव से डिस्चार्ज होगी, तो क्या उस समय 'मैं' नहीं रहता?

दादाश्री : वह तो परिणाम है न!

प्रश्नकर्ता : क्या सिर्फ उसका परिणाम ही रहता है?

दादाश्री : हाँ।

प्रश्नकर्ता : अर्थात् उसमें 'मैं' की ज़रूरत नहीं है?

दादाश्री : 'मैं' की ज़रूरत नहीं है। परिणाम में कोई ज़रूरत नहीं है। इसलिए 'मैं' रहता ज़रूर है, लेकिन परिणाम के रूप में, डिस्चार्ज के रूप में।

प्रश्नकर्ता : तो प्रकृति की क्रिया पूर्ण होने तक ही उसमें 'मैं' रहता है?

दादाश्री : हाँ, बस उतना ही।

प्रश्नकर्ता : तो क्या ऐसा है कि उसकी सहमति रहने पर ही प्रकृति खत्म होती है?

दादाश्री : नहीं! जैसा नाटक किया था, उसी प्रकार यहाँ पर नाटक करना पड़ेगा। पहले कर्ता भाव से नाटक किया था, उसी प्रकार

से यहाँ पर भोक्ता भाव से करना पड़ेगा। तभी यह शुद्ध होगा। प्योर! यह भोक्ता भाव से होता है, वैसा ही नाटक। भोक्ता अर्थात् अहंकार है लेकिन डिस्चार्ज है और कर्ता अर्थात् अहंकार है लेकिन वह चार्ज भाव वाला है।

'मैं' रहा डिस्चार्ज परिणाम के रूप में

प्रश्नकर्ता : इसमें 'मैं' ही ज्ञाता-दृष्टा बना है? अभी उसे भान हुआ है कि 'मैं' तो शुद्धात्मा हूँ, तो क्या यह 'मैं' ही ज्ञाता-दृष्टा पद में रहता है?

दादाश्री : वह प्रज्ञा है।

प्रश्नकर्ता : तो उस समय 'मैं' कहाँ पर रहता है?

दादाश्री : 'मैं' तो डिस्चार्ज कर्म में है।

प्रश्नकर्ता : 'मैं' डिस्चार्ज कर्म में ही रहा हुआ है?

दादाश्री : हं। 'मैं' से कोई परेशानी नहीं है। 'मैं हूँ', वह उसका अस्तित्व है। जो अस्तित्व है, वैसा कहने में क्या हर्ज है? 'मैं हूँ', उसके लिए कहता है कि 'मैं शुद्धात्मा हूँ'। उसमें तो न-अस्तित्व को अस्तित्व मानता है। जहाँ पर खुद नहीं है, वहाँ पर ऐसा कहता है, 'मैं चंदूलाल हूँ'। 'आप चंदूलाल' किस प्रकार से हो? तब कहता है कि 'माँ ने नाम रखा था'। तो भाई, तेरी माँ ने नाम रखा तो लिख दिया है। तेरी माँ ने ब्राह्मण से पूछा होगा कि क्या नाम रखूँ? दुनिया में सब गड़बड़ घोटाला है।

अब आपको राग-द्वेष नहीं होंगे। तुझे नहीं होते हैं तो फिर अब क्या है? बहुत गहराई (सूक्ष्म) में उतरोगे न, तब फिर टंकी धोने से कीचड़ निकलेगा, स्थूल अच्छा है। थोड़ा-बहुत जान लेने के बाद बहुत गहराई में नहीं उतरना है।

प्रश्नकर्ता : दादा, तो वह 'मैं' पूरा ही परिणाम स्वरूप है न! तो वह किसके परिणाम स्वरूप है?

दादाश्री : पिछले जन्म में जो प्रतिष्ठित किया था, उसका परिणाम है, 'यह मैंने किया' *पुद्गल* (जो पूरण और गलन होता है) के परिणाम के रूप में है।

प्रश्नकर्ता : तो पिछले जन्म में वह 'करने वाला' कौन था?

दादाश्री : 'मैं'! वही है।

प्रश्नकर्ता : हं, तो फिर वह वापस अलग है न!

दादाश्री : नहीं! वह तब तक जीवित रहता है और फिर दूसरे (मैं) को जन्म देकर चला जाता है।

प्रश्नकर्ता : तो ज्ञान दर्शन में और 'मैं' में क्या संबंध है?

दादाश्री : कुछ भी नहीं।

प्रश्नकर्ता : कुछ भी नहीं? तो उसे रोंग बिलीफ कहा है न! बिलीफ कहा है न, रोंग बिलीफ!

दादाश्री : बिलीफ, वह दर्शन है।

प्रश्नकर्ता : हं। तो रोंग बिलीफ से 'मैं' उत्पन्न होता है, ऐसा कहा है न!

दादाश्री : 'मैं' (प्रतिष्ठित आत्मा वाला 'मैं') तो 'मैं' (विभाविक 'मैं') में से ही उत्पन्न होता है। (इसलिए उसका दर्शन के साथ सीधा संबंध नहीं है।)

प्रश्नकर्ता : ऐसा किस प्रकार से है कि 'मैं' में से ही 'मैं' उत्पन्न होता है?

दादाश्री : दूसरे को पैदा करके खुद मरता है। दूसरे को जन्म देकर मरता है।

प्रश्नकर्ता : उसे ज़रा और स्पष्टता से समझाइए न! 'दूसरे को जन्म देकर खुद चला जाता है', इसका मतलब?

दादाश्री : (प्रतिष्ठित आत्मा वाला 'मैं') यह प्रतिष्ठा करता रहता है। उसे पोषण देता रहता है। खुद के स्वरूप की मूर्ति गढ़ता है। फिर जाते-जाते वह तुरंत ही दूसरे को जन्म दे देता है। और जो दूसरा है, वह काम करने लग जाता है।

प्रश्नकर्ता : तो क्या ऐसा है कि यह एक जन्म तक के लिए ही है या प्रत्येक अवस्था में यह उत्पन्न होता है और उसका एन्ड आता है? आपने कहा न कि 'प्रतिष्ठा की यानी दूसरे को जन्म दिया और खुद चला गया', तो ऐसा प्रत्येक अवस्था के समय होता है या ज़िंदगी भर एक ही चलता है?

दादाश्री : ज़िंदगी भर एक ही।

प्रश्नकर्ता : एक ही होता है और अगले जन्म के लिए...

दादाश्री : वह अलग। फिर वापस वह भी पूरी ज़िंदगी सिर्फ एक ही।

प्रश्नकर्ता : तो आप जो ज्ञान देते हैं तब उस पर असर होता है या किसी और पर?

दादाश्री : *पुद्‌गल* पर।

प्रश्नकर्ता : तो वह जो दूसरे को जन्म देता था, वह खत्म हो जाता है?

दादाश्री : खत्म हो जाता है, रोंग बिलीफ खत्म होने पर वह खत्म हो जाता है। रोंग बिलीफ से उत्पन्न होता है। रोंग बिलीफ चली जाने पर उसका उत्पन्न होना बंद हो जाएगा।

प्रश्नकर्ता : अर्थात् इसका अर्थ यह हुआ कि रोंग बिलीफ से 'मैं' जीवित हो जाता है?

दादाश्री : रोंग बिलीफ से यह संसार खड़ा है! यानी कि एक 'मैं' नहीं कितने ही 'मैं'।

प्रश्नकर्ता : तो फिर 'मैं' में और दर्शन में संबंध हुआ न?

दादाश्री : कोई भी संबंध नहीं है।

प्रश्नकर्ता : क्यों? उस मिथ्या दर्शन के कारण से ही 'मैं' है न! यदि ऐसा नहीं है, तो कैसा है? तो हकीकत क्या है, इस 'मैं' की?

दादाश्री : रोंग बिलीफ है।

प्रश्नकर्ता : क्योंकि उस रोंग बिलीफ में परिवर्तन हो गया है न, तो ऐसा दिखाई देता है कि 'मैं' विलय हो गया। जब किसी भी अवस्था में 'मैं' आने लगता है और बिलीफ में परिवर्तन होता है तब ऐसा दिखाई देता है कि 'मैं' विलीन हो गया।

दादाश्री : राइट बिलीफ बैठने पर वह 'मैं' चला जाता है। हमेशा रोंग बिलीफ से ही खड़ा होता था। (दर्शन, वह आत्मा का शाश्वत गुण है और बिलीफ अहम् को हो गई है और वह विनाशी है, इसलिए दोनों के बीच संबंध नहीं है।)

प्रश्नकर्ता : ठीक है।

दादाश्री : यदि हमने दोपहर में भूत की किताब पढ़ी हो और रात को सो रहे हों, तब रात को अकेले सोते समय पास वाले रूम में यदि प्याला खड़के तो तुरंत ही मन में ऐसा लगता है कि यहाँ तो कोई भी नहीं है, फिर यह कौन है... एकदम से अंदर भूत का भय घुस जाता है तो वह कितने बजे तक... कब तक रहता है?

प्रश्नकर्ता : सुबह तक। सुबह दिन उगने तक।

दादाश्री : सुबह जब तक वह बात स्पष्ट नहीं हो जाती है तब तक रहता है। उसके बाद राइट बिलीफ बैठने पर वह खत्म हो जाता है न कि यह तो गलत बात है, यह कुछ भी नहीं है। इस प्रकार से यों यह रोंग बिलीफ से चलता ही रहता है, भूत का असर। तो कितने ही जन्मों बाद आपका यह असर गया है (यह ज्ञान मिलने पर)!

'मैं' को पहचानने वाला, बने भगवान

प्रश्नकर्ता : आपका एक वाक्य ऐसा निकला था कि यदि अहंकार को पहचान लिया जाए तो वह भगवान बना देगा। तो क्या अहंकार को पहचानना है?

दादाश्री : अहंकार को पहचान ले तो बहुत हो गया न! अहंकार को कोई पहचान नहीं सकता न!

प्रश्नकर्ता : वह समझ में नहीं आया। अहंकार को पहचानने का मतलब क्या है?

दादाश्री : अहंकार को पहचानना अर्थात् पूरे *पुद्गल* को पहचानना। 'मैं' कहने वाले को अच्छी तरह से पहचानना, पूरे *पुद्गल* को पहचान लेगा तो भगवान ही बन जाएगा न!

प्रश्नकर्ता : तो ऐसा हुआ न, 'मैं' अर्थात् पूरे *पुद्गल* को पहचानना?

दादाश्री : 'मैं' का मतलब ही है, पूरा *पुद्गल*। 'मैं' का मतलब और कुछ भी नहीं है। अत: यह पूरा *पुद्गल* अहंकार का ही है। जो उस अहंकार को पहचान लेगा उसका कल्याण हो जाएगा। सभी लोग अहंकार करते ज़रूर हैं लेकिन उसे पहचानते नहीं हैं न!

प्रश्नकर्ता : इसमें अहंकार और उसे पहचानने वाला कौन है?

दादाश्री : पहचानने वाला ही भगवान है।

प्रश्नकर्ता : अब उस अहंकार को *पुद्गल* का स्वरूप कहा गया है तो फिर वह अहंकार भी भगवान बनता है।

दादाश्री : वह अहंकार जब शुद्ध होते, होते, होते शुद्ध अहंकार बन जाता है तब 'भगवान' और 'वह', वे सब एकाकार हो जाते हैं। शुद्ध अहंकार ही शुद्धात्मा है। अशुद्ध अहंकार, वह जीवात्मा है।

प्रश्नकर्ता : क्या अहंकार के स्वरूप को पहचानने के बाद ही 'वह' शुद्ध की तरफ जाता है?

दादाश्री : हाँ, तभी न! लेकिन उसे पूरी तरह से पहचान नहीं पाता। जब पूरी तरह से पहचान जाएगा तब भगवान बन जाएगा।

प्रश्नकर्ता : अब अहंकार को *पुद्गल* का स्वरूप कहा गया है, तो वह खुद उसमें से किस प्रकार शुद्ध होता है? वह अशुद्ध में से शुद्ध की तरफ किस प्रकार आता है?

दादाश्री : वह किसकी *भजना* (उस रूप होना, भक्ति) है? शुद्ध की *भजना* करे तो वह शुद्ध बन जाता है। यदि ऐसी *भजना* रहे कि 'मैं शुद्धात्मा हूँ', तो शुद्ध बन जाता है। वर्ना यदि कहे, 'मैं राजा हूँ' तो राजा बन जाता है।

जो *भजना* करता है, वह अहंकार है। अशुद्ध की *भजना* करे तब तक वह वैसा ही अशुद्ध रहता है, शुद्ध की *भजना* करे तो वैसा ही शुद्ध बन जाता है। जैसा चिंतन करता है, वह वैसा ही बनता जाता है। जो पूरे दिन चोरियाँ ही करता है, वह शुद्धात्मा की *भजना* कैसे करेगा? 'मैं चोर हूँ' ऐसी ही *भजना* होती रहेगी न? और वह चोर बन ही जाता है।

प्रश्नकर्ता : अर्थात् वह जैसा व्यवहार करता है, वैसी ही उसकी *भजना* होती है न?

दादाश्री : व्यवहार पर ही पूरी *भजना* आधारित है। जैसी उसकी *भजना* होती है, उसी अनुसार व्यवहार रहता है और जैसा व्यवहार हो उसी अनुसार *भजना* होती है। ज्ञान होने के बाद में सिर्फ अंतिम अवतार में व्यवहार और *भजना,* दोनों अलग-अलग होते हैं। व्यवहार बेकार है और निश्चय काम का है, तब उस तरफ की *भजना* चलती है कि व्यवहार का अब निबेड़ा लाना है।

प्रश्नकर्ता : तो व्यवहार को अर्पण करने वाला कौन है?

दादाश्री : अर्पण करने वाला यह *पुद्गल* ही है। वह समा जाना चाहता है, और क्या? वही का वही *पुद्गल*।

एक चीज़ समझ लेनी है कि अपना जो व्यवहार आत्मा है, वह

मूल आत्मा के साथ जॉइन्ट होना चाहता है। मूल वस्तु, चेतन, चेतन में मिल जाना चाहता है और *पुद्गल, पुद्गल* में मिल जाना चाहता है।

उस पर बहुत नहीं सोचना है। इन सब में बहुत गहरे मत उतरना अंदर से तो ऐसा उल्टा पागलपन खड़ा होगा। एक बार जो कहा है, अंदर उतना ही करो न!

मोक्ष ढूँढने वाला और मोक्ष स्वरूप

हमेशा वह मूल सेल्फ ही सेल्फ है। शुद्धात्मा मूल सेल्फ है लेकिन 'वह' सेल्फ डेवेलप होते, होते, आवरण रहित होते, होते, होते आगे बढ़ता है और यह मूल सेल्फ साथ के साथ ही रहता है।

प्रश्नकर्ता : अज्ञान में से जो 'मैं' खड़ा हुआ, वह और ओरिजनल 'मैं', उसका इससे कोई लेना-देना नहीं है न?

दादाश्री : लेना-देना नहीं है। लेकिन 'मैं' तो 'मैं' ही है। 'मैं' इस जगह पर फिट नहीं हुआ और दूसरी जगह पर फिट हो गया है।

प्रश्नकर्ता : लेकिन अज्ञान में जो ऐसा कहता है, 'मैं कर रहा हूँ', वह ओरिजनल 'मैं' तो नहीं कहता न?

दादाश्री : वहाँ पर 'उसे' ओरिजनल 'मैं' का ही आभास होता है कि यह 'मैं ही हूँ' इसलिए फिर जब 'यह मैं नहीं हूँ', ऐसा भान होता है न, तब वह खत्म हो जाता है।

प्रश्नकर्ता : अज्ञान में जो 'मैं' ऐसा मानता है कि 'मैं' कर रहा हूँ, वह ओरिजनल 'मैं' नहीं है न?

दादाश्री : नहीं! ओरिजनल 'मैं' कहाँ से लाएगा? ओरिजनल 'मैं' तो हो ही नहीं सकता न? यह तो भ्रांति वाला 'मैं' है।

प्रश्नकर्ता : हाँ, वह भ्रांति वाला है इसीलिए कहते हैं न कि वह भ्रांति वाला 'मैं' ओरिजनल जगह पर बैठ गया है।

दादाश्री : नहीं, ऐसा नहीं है कि बैठ गया है। वह जो 'मैं', 'मैं

चंदू हूँ' में घुस गया था, वही झंझट है। उस 'मैं' को फ्रेक्चर करने के लिए यह कह रहा हूँ। यह जो मान्यता वाला 'मैं' है, वह वहाँ से निकल जाए तो उसी को कहते हैं कि 'मैं', 'मैं' में बैठ गया।

प्रश्नकर्ता : दादा, क्रमिक मार्ग वाले ऐसा कहते हैं न कि अहंकार से मूढ़ हो चुका आत्मा ऐसा कहता है कि 'मैं कर्ता हूँ'। वास्तव में वह कर्ता नहीं है। यह तो अहम् कहता है। अज्ञान कहता है, आत्मा नहीं कहता।

दादाश्री : सबकुछ अज्ञान ही कहता है न!

दो ही बातें हैं, तीसरा कोई है ही नहीं। एक तो वह है, जो मोक्ष ढूँढ रहा था और एक भगवान हैं। वे, जो मोक्ष स्वरूप होकर बैठे हुए हैं।

खंड -२

द्रव्य-गुण-पर्याय

[१]

परिभाषा, द्रव्य-गुण-पर्याय की

द्रव्य का मतलब?

प्रश्नकर्ता : तो दादा, द्रव्य का मतलब क्या है? स्वाभाविक रूप से द्रव्य का आध्यात्मिक अर्थ क्या होता है?

दादाश्री : द्रव्य का अर्थ है वस्तु। इस जगत् में छः द्रव्य हैं। उनमें से एक द्रव्य है आत्मा। पूरे ज्ञान में जो द्रव्य आते हैं न, वे ये छः द्रव्य माने जाते हैं, जो कि इटर्नल हैं। जो गुण व पर्याय सहित होता है उसे द्रव्य कहा जाता है।

प्रश्नकर्ता : साधारण भाषा में तो द्रव्य का गुणधर्म होता है न?

दादाश्री : वस्तु अर्थात् जिसे आप द्रव्य कहते हो न, वे अनित्य वस्तुएँ हैं जबकि ये द्रव्य नित्य हैं। नित्य में रूपी कौन सा है? एक ही तत्त्व है, जो अणु-परमाणु आते हैं न, वे सब हमें उस एक ही तत्त्व में से दिखाई देते हैं। अन्य तत्त्व दिखाई नहीं देते, छुपे रूप में अंदर हैं ज़रूर। इसलिए हमने इसे द्रव्य कहा है।

द्रव्य में क्या-क्या आता है, जानते हो? वस्तु का स्वभाव और वस्तु के गुण, द्रव्य में ये दोनों आते हैं और बाकी सब पर्याय में आता है। तो आत्मा के भी पर्याय हैं।

प्रश्नकर्ता : 'अन्य द्रव्यों के साथ, द्रव्य-गुण-पर्याय के अन्यत्व है लेकिन पृथक्त्व नहीं है।' यह वाक्य समझाइए।

दादाश्री : दूसरे द्रव्यों से अन्यत्व है, बिल्कुल भी कनेक्शन नहीं है, नो कनेक्शन। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य की कोई भी मदद नहीं करता, न ही कोई नुकसान पहुँचाता है।

प्रश्नकर्ता : और पृथक्त्व अर्थात् कि उसके टुकड़े नहीं किए जा सकते?

दादाश्री : नहीं! 'पृथक्त्व नहीं है', वह द्रव्य-गुण-पर्याय का है, उनमें एक-दूसरे से जुदाई नहीं है। और अन्यत्व, वह दूसरे द्रव्यों से है। बिना पर्याय का द्रव्य नहीं हो सकता और बिना द्रव्य का पर्याय नहीं हो सकता। द्रव्य कब कहलाता है? वह खुद द्रव्य तभी कहलाता है जब उसमें गुण और पर्याय हों। तभी वह द्रव्य कहलाता है। और पृथक्त्व अर्थात् ऐसा कहा है कि एक-दूसरे से जुदाई नहीं है।

कोई भी वस्तु, *पुद्गल* भी, गुण और पर्याय सहित ही होता है और जो गुण व पर्याय सहित नहीं है, वह वस्तु ही नहीं है। पर्याय नहीं होंगे तो गुण नहीं होंगे, गुण नहीं होंगे तो वस्तु नहीं होगी। यदि गुण हैं, तो पर्याय होने ही चाहिए। सूर्य का जो प्रकाश नामक गुण है तो उसकी किरणें तो होंगी ही। किरणें बदलती रहती हैं लेकिन प्रकाश सदा रहता है।

प्रश्नकर्ता : हाँ, ठीक है। अब समझ में आया दादाजी।

दादाश्री : जब गुण कार्यकारी होते हैं तब वे पर्याय कहलाते हैं। सूर्यनारायण को द्रव्य कहेंगे, वस्तु कहेंगे। प्रकाश नामक उनका गुण है और उनकी जो रेज़ (किरणें) बाहर निकलती हैं, वे पर्याय कहलाती हैं। उन पर्यायों का नाश होता है लेकिन गुण का नाश नहीं होता और वस्तु का नाश नहीं होता।

प्रश्नकर्ता : क्या कोई भी वस्तु, गुण और पर्याय रहित नहीं हो सकती?

दादाश्री : अविनाशी वस्तु नहीं हो सकती।

प्रश्नकर्ता : और विनाशी चीज़ गुण-पर्याय रहित हो सकती है?

दादाश्री : विनाशी में तो सभी कुछ विरोधाभासी ही होता है न!

प्रश्नकर्ता : लेकिन उसके गुण और पर्याय तो होते हैं न?

दादाश्री : उसके गुण शाश्वत नहीं होते। गुण किसे कहेंगे? जो हमेशा के लिए हों, उन्हें गुण कहेंगे। लेकिन ये विनाशी चीज़ें तो खुद ही शाश्वत नहीं हैं। उनके पीछे क्या सिर फोड़ी? गुण किसे कहा जाता है? जो परमानेन्ट रहें, अन्वय में हों, हमेशा के लिए हों। ये तो खुद ही परमानेन्ट नहीं हैं, तो वहाँ पर गुण कैसे? फिर भी हम ऐसा कह सकते हैं कि भाई, ये अवस्थाएँ हैं। पर्याय नहीं कहेंगे। पर्याय बहुत सूक्ष्म चीज़ है और अवस्थाएँ मोटी चीज़ है। जैसे कि अज्ञानी व्यक्ति यह समझ सकता है कि, 'मेरी अवस्था बदल गई है'। वह पर्याय का ही स्वरूप है, लेकिन मोटा स्वरूप है।

पर्याय और अवस्था में फर्क

प्रश्नकर्ता : पर्याय का मतलब क्या है?

दादाश्री : ये लोग जिसे पर्याय कहते हैं, वह चीज़ अलग है जबकि वास्तव में पर्याय अलग चीज़ है। पर्याय ऐसी चीज़ है कि मनुष्य को समझ में नहीं आ सकती! मनुष्य को अवस्था समझ में आ सकती है।

प्रश्नकर्ता : अवस्था कहो या पर्याय, वे सब समानार्थी शब्द हैं न?

दादाश्री : वे एक नहीं हैं, वे अलग हैं। पर्याय बहुत अलग चीज़ है। वह तो, अभी के लोगों को यह समझ में नहीं आने की वजह से, पर्याय और अवस्था को, सब को एक ही मान लिया है, लेकिन पर्याय बहुत अलग चीज़ है। वह ज्ञानी पुरुष का काम है, अन्य लोगों का काम नहीं है।

हम जो अवस्थाएँ देखते हैं, उनमें छोटी से छोटी अवस्था को पर्याय कहा जाता है, पर्याय से आगे और कोई भाग नहीं हो सकते।

प्रश्नकर्ता : जो निश्चय से द्रव्य है, क्या वह पर्याय का कर्ता है?

दादाश्री : कोई भी कर्ता नहीं है। पर्याय अर्थात् जैसे कि यह सूर्य है न, उस सूर्य की रेज़ (किरणें) निकलती हैं न, तो सूर्य को, खुद को वह नहीं करना पड़ता, वे अपने आप स्वाभाविक रूप से निकलती हैं। उसी प्रकार से स्वाभाविक रूप से ये पर्याय उत्पन्न होते हैं। अत: किसी को करना नहीं पड़ता, कोई भी कर्ता नहीं है।

अवस्थाओं का ज्ञान नाशवंत है। स्वाभाविक ज्ञान अविनाशी है। यह सूर्य है और उसकी किरणें हैं। उसी प्रकार, आत्मा है और आत्मा की जो किरणें हैं, वे पर्याय हैं। ये तो बहुत सूक्ष्म बातें हैं।

प्रश्नकर्ता : इन वस्तुओं की अवस्थाएँ कौन सी शक्ति से बदलती हैं?

दादाश्री : काल तत्त्व। जैसे-जैसे काल बदलता है, वैसे-वैसे अवस्थाएँ बदलती हैं।

रियल वस्तु की तुलना नहीं करनी चाहिए। वह वस्तु एक ही है। उत्पन्न होना और उसके काल के अनुसार रहना और फिर नाश हो जाना, वह अवस्था का स्वभाव है। सभी मनुष्य तत्त्व की अवस्थाएँ ही देख सकते हैं। दुनिया में पूर्ण ज्ञानी के अलावा कोई भी ऐसा नहीं हैं जो तत्त्व को देख सके। अभी मैं सर्व तत्त्वों को जानता हूँ। मैं एब्सल्यूटिज़म अर्थात् 'केवल' जानता हूँ।

वास्तव में पर्याय शब्द का दूसरी जगह पर उपयोग नहीं करना चाहिए, फिर भी लोग उपयोग करते हैं। पर्याय शब्द अविनाशी चीज़ों पर ही लागू होता है। पर्याय का अर्थ है अवस्था और अवस्था शब्द का सब आराम से उपयोग करने लगे।

प्रश्नकर्ता : अवस्था और पर्याय में क्या फर्क है, उसका एकाध उदाहरण दीजिए न!

दादाश्री : घंटे और पल में जितना फर्क है, उतना अधिक फर्क है इनमें। दोनों में फर्क तो है। क्या हम घंटों को अंतिम दशा कहते हैं? नहीं! हम यहाँ व्यवहार में पल को अंतिम दशा मानते हैं। ये जो पर्याय हैं, वे उसके जैसी सूक्ष्म चीज़ है। फिर भी उसमें पल जैसी स्थूलता नहीं होती, वहाँ पर स्थूल नहीं है।

अवस्था आँखों से देखी जा सकती है, अनुभव की जा सकती है, सब स्थूल होता है जबकि पर्याय तो बहुत सूक्ष्म होते हैं। यह जो रात है न, तो रात के पर्याय हर एक समय में बदलते ही रहते हैं। लेकिन हमें वह वैसे का वैसा ही दिखाई देता है। रात को पर्याय तो बदलते ही रहेंगे। सभी इंसानों के भी, दिन-रात सभी पर्याय बदलते ही रहते हैं लेकिन हमें तो वही के वही चंदूभाई दिखाई देते हैं। फिर जब वे बूढ़े होते हैं तब हम कहते हैं कि 'हाँ, अब बूढ़े हो गए हैं'। तो भाई, हो ही रहे थे न! बूढ़े हो ही रहे थे न! (बुढ़ापे को अवस्था कहते हैं।) तो अवस्था और पर्याय में इतना अधिक फर्क है।

तो एक गाँव में ऐसा हुआ कि दो भाई थे, तो ऊपर छोटा भाई रहता था और नीचे बड़ा भाई रहता था। उन्होंने जगह बाँट ली थी, नीचे भैंस बाँधते थे। यह मेरी और यह तेरी जगह है, भैंस बाँधने की। अब जो भैंस का बच्चा था, उसे कहाँ बाँधें? रात को ठंड से मर जाता। और नीचे जो बड़ा भाई था, वह अपने यहाँ बाँधने नहीं दे रहा था। तो जो छोटी बहू थी, वह रोज़ ही उसे उठाकर ऊपर ले जाती। उसे तो उस भैंस के बच्चे का पर्याय वही का वही दिखाई देता था। जबकि वह बच्चा तो बड़ा हो गया, फिर भी वह उसे ऊपर ले जाती थी और वह धीरे-धीरे बढ़ रहा था, ग्रैजुअली, उसे कुछ पता नहीं चला। उसे तो वह वैसे का वैसा ही दिखाई देता था। लेकिन उसकी अवस्था तो निरंतर बदल ही रही थी।

अतः पर्याय और अवस्था! तब फिर लोगों ने कहा, 'अरे भाई, तू इस बच्चे को किस तरह ले जाता है?' तब फिर वे सोच में पड़ गए और उसके बाद वह छूट गया। उस बच्चे को बेच दिया। तो ऐसा है यह सब।

ज्ञान ही आत्मा है, द्रव्य-गुण के रूप में

प्रश्नकर्ता : आप्तवाणी चौथी में ऐसा लिखा है कि ज्ञान ही आत्मा है। वह किस प्रकार से? आत्मा तो द्रव्य है और ज्ञान उसका गुण है।

दादाश्री : ज्ञान ही आत्मा है लेकिन वास्तव में कौन सा ज्ञान? केवलज्ञान। केवल अर्थात् उसमें अन्य कोई भी मिक्स्चर नहीं है। सिर्फ केवलज्ञान ही, शुद्ध प्रकाश ही है। शुद्ध प्रकाश। अभी अशुद्ध प्रकाश दिखाई देता है। शुभ, अशुभ प्रकाश दिखाई देता है। शुभाशुभ प्रकाश की वजह से यह सारी मार खानी पड़ती है। वह शुद्ध प्रकाश अर्थात् हीरा, खुद अपने ही स्वभाव से दमकता है।

प्रश्नकर्ता : अर्थात् ज्ञान और आत्मा का तादात्म्य संबंध बताया?

दादाश्री : हं, ज्ञान ही आत्मा है और ज्ञान उसका गुण है। और जब ज्ञान का उपयोग होता है तो वह उसका पर्याय कहलाता है। यह ज्ञान ही आत्मा है। जब ज्ञान केवल हो जाता है, तब द्रव्य रूपी कहलाता है और जब तक केवल नहीं हो जाता तब तक वह ज्ञान, गुण रूपी कहलाता है। मूल आत्मा ज्ञान स्वरूप ही है लेकिन यदि शुद्ध ज्ञान हो तो वह द्रव्य कहलाता है और वही ज्ञान है। अत: ज्ञान स्वरूप पर पहुँचने की बात करनी है, ज्ञान की ही बात करनी है, अन्य कोई बात नहीं। द्रव्य अन्य कोई चीज़ नहीं है। द्रव्य का अर्थ है कुछ खास गुणों से भरी हुई वस्तु। ज्ञान, दर्शन, शक्ति, सुख वगैरह ये सब जो गुण हैं, उनसे भरी हुई वस्तु, और उसमें भी खास तौर पर उसका स्वभाव कैसा है? वह ज्ञायक स्वभाव है। अर्थात् जानने का स्वाभाव है। तुरंत ही जान जाता है, समझ जाता है। वह अविनाभाव संबंध है।

प्रश्नकर्ता : अविनाभाव संबंध, ज्ञान और आत्मद्रव्य का?

दादाश्री : हाँ, द्रव्य और ज्ञान का अविनाभाव संबंध है और एक परिप्रेक्ष्य से ज्ञान ही द्रव्य कहलाता है। जब तक ज्ञान अधूरा है तब तक ज्ञान को अलग रखा है। जब तक आत्मज्ञान है तब तक द्रव्य और ज्ञान अलग हैं और जहाँ संपूर्ण केवलज्ञान है, वहाँ पर द्रव्य और ज्ञान, दोनों एक हो जाते हैं।

संख्या, तत्त्वों के गुणों की

प्रश्नकर्ता : गुणों की दृष्टि से, संख्या की दृष्टि से आत्मा में जितने गुण हैं उतने ही गुण *पुद्गल* (जो पूरण और गलन होता है) परमाणु में हैं, क्या यह बात सही है?

दादाश्री : नहीं! उसके अनंत गुण हैं। अनंत ज्ञान वाला है, यह आत्मा। *पुद्गल* परमाणुओं में अलग प्रकार के गुण होते हैं। सभी में गुण हैं। सभी छः द्रव्यों में गुण हैं। द्रव्यों में अपने-अपने गुण और खुद के पर्याय, दोनों साथ में ही हैं।

प्रश्नकर्ता : लेकिन उसका और उसकी संख्या का कोई लेना-देना नहीं है? इसके गुणों की इतनी संख्या और इसके इतने, ऐसा कुछ नहीं है?

दादाश्री : संख्या गिनने की ज़रूरत ही कहाँ रही इसमें? तांबे के ऐसे गुण हैं, सोने के ऐसे गुण हैं, पीतल के ऐसे गुण हैं, सभी की अपने-अपने गुणों में ही रमणता रहती है।

प्रश्नकर्ता : एक तरफ कहते हैं, 'गुणों से संपूर्ण शुद्ध हूँ, सर्वांग शुद्ध हूँ' और एक तरफ आत्मा के मुख्य आठ गुण कहते हैं, तो वह कोन्ट्रडिक्शन (विरोधाभास) नहीं है?

दादाश्री : नहीं! उसके वे आठों ही गुण शुद्ध हैं। उस शुद्ध में अशुद्धि हो गई है, इस भ्रांति की वजह से। वह ज्ञानावरण गुण है, (लेकिन विभाव दशा वाला) उसकी शुद्धि हो जाने पर ज्ञान हो जाता है। यह जो दर्शनावरण गुण है, उसकी शुद्धि हो जाने पर ज्ञान हो जाता है। साफ गुण शुद्ध स्वाभाविक गुण में आ जाते हैं। क्या पूछना चाहते हो आप?

प्रश्नकर्ता : निजगुण अर्थात् आत्मा खुद के गुणों को लेकर तो शुद्धि ही है लेकिन गुण आवरण की वजह से हैं न?

दादाश्री : नहीं! वह तो है ही शुद्ध। स्वभाव से ही शुद्ध है।

प्रश्नकर्ता : और हम जिन्हें गुण कहते हैं, वह आवरण के कारण कहते हैं न?

दादाश्री : वह तो आवरण के कारण है। स्वभाव से शुद्ध ही है। वह तो आवरण की तुलना में ऐसा कहते हैं। निर्पेक्ष भाव से तो वह शुद्ध ही है। (अनंत ज्ञान, दर्शन, शक्ति, सुख, वगैरह वगैरह को आवरण की तुलना में विभाविक दशा के गुण कहते हैं)

घाती हैं गुणों में से और अघाती पर्यायों में से

प्रश्नकर्ता : पर्याय भी अनादि काल से सत् वस्तु है या किसी की उत्पन्न की हुई है?

दादाश्री : सत् वस्तु किसे कहा जाता है? जो गुण और पर्याय, दोनों सहित हो वह सत् कहलाता है। गुण हों और पर्याय न हों तो सत् नहीं कहलाएगा।

प्रश्नकर्ता : तो फिर पर्याय किसने उत्पन्न किए?

दादाश्री : उत्पन्न नहीं किए हैं, स्वभाव से हैं ही।

प्रश्नकर्ता : किसके स्वभाव से?

दादाश्री : जो सत् वस्तु है न, उसके स्वभाव में ही गुण व पर्याय हैं। स्वभाव में अर्थात् किसी को उत्पन्न करने की ज़रूरत नहीं है। उसे उत्पन्न करने वाला कोई पैदा ही नहीं हुआ है, उत्पन्न करेगा भी नहीं। यह वैसा कुछ है ही नहीं।

प्रश्नकर्ता : तो फिर ऐसा कैसे मान लें कि पर्यायों को भी कोई उत्पन्न नहीं कर सकता?

दादाश्री : नहीं! लेकिन उन्हें उत्पन्न करने की ज़रूरत नहीं है न! वे स्वभाव से हैं ही।

प्रश्नकर्ता : किसके स्वभाव से हैं?

दादाश्री : यह सूर्य है न, प्रकाश उसका खुद का गुण है और ये जो किरणे हैं बाहर की, वे निरंतर बदलती रहती हैं। वे पर्याय कहलाती हैं। उसी प्रकार से ज्ञान-दर्शन-शक्ति व सुख, ये सभी आत्मा के गुण

हैं। ज्ञान-दर्शन-सुख व शक्ति, जितने भी घाती कर्म कहलाते हैं, वे सभी (विभाविक दशा के) गुण हैं और पर्याय कौन से हैं? जो अघाती कहलाते हैं, वे सब पर्याय हैं। अर्थात् वेदनीय, नाम, गोत्र और आयुष्य, वे सब पर्याय की वजह से उत्पन्न होते हैं।

अर्थात् अभी जो सिद्धगति में बैठे हैं, वे लोग (सिद्धो) निरंतर खुद के स्वरूप में ही मस्त रहते हैं। उनके खुद के गुण ज्ञान-दर्शन-सुख वगैरह सब हैं। वे खुद ज्ञाता और दृष्टा हैं। अतः वे जगत् के जीवमात्र को देखते हैं। वे खुद ज्ञाता-दृष्टा हैं यानी कि उनके इस गुण की वजह से, वे निरंतर सब को देख सकते हैं। उसमें भी यों बाहर नहीं देखते, उन्हें अंदर ही दिखाई देता है। जैसे कि दर्पण में दिखाई देता है न, उस प्रकार से खुद के द्रव्य में ही दिखाई देता है। उनके अंदर ही झलकता है। अब यह झलकता है, तो यदि सुबह का समय हो न, चार बजे हों तो तब कोई नहीं उठता, सब सो रहे होते हैं तो वैसा दिखाई देता है। फिर पाँच बजे कुछ-कुछ चहल-पहल होती है तो वैसा दिखाई देता है। फिर छः बजे और भी अधिक चहल-पहल दिखाई देती है। आठ-नौ बजे सब इधर-उधर जाते हैं, झुंड के झुंड घूमते हुए दिखाई देते हैं।

प्रश्नकर्ता : बदलता रहता है।

दादाश्री : लोगों में जो बदलाव होता है, वे उनके पर्याय हैं। तो उन्हें वहाँ पर बदला हुआ दिखाई देता है। अब, मैंने हाथ ऊँचा किया तो उनके ज्ञान में वह पर्याय हुआ। ज्ञान शाश्वत है, ये अवस्थाएँ सारी बदलती रहती हैं। अतः द्रव्य-गुण व पर्याय, वे आत्मा के हैं। फिर *पुद्गल* के भी द्रव्य-गुण व पर्याय हैं।

प्रश्नकर्ता : ये द्रव्य-गुण जो हैं, वे आत्मा में दिखाई देते हैं या पर्याय में दिखाई देते हैं?

दादाश्री : गुण तो शाश्वत स्वभाव है। गुण का मतलब क्या है? जो निरंतर साथ में रहे।

प्रश्नकर्ता : अब उन्हें तो कुछ करना नहीं है, गुणों को तो?

दादाश्री : कुछ भी नहीं करना होता।

प्रश्नकर्ता : आत्मा का एक भाग है, जो कि पर्याय है, वह बदलता रहता है, उसे करना होता है न?

दादाश्री : करना तो किसी को कुछ भी नहीं है। यह सोना है न, तो सोने के गुणधर्म कभी भी बदलते नहीं हैं लेकिन उससे जो अँगूठी बनती है, कुछ और बनता है, तरह-तरह के ज़ेवर, सभी अवस्थाएँ बनती हैं, वे सब बदलती रहती हैं लेकिन सोना वही का वही रहता है।

प्रश्नकर्ता : अब, जो आत्मदर्शन होता है, वह तो पर्याय में होता है न, और कहाँ पर होता है?

दादाश्री : नहीं! पहले 'उसे' (विभाविक 'मैं' को) दर्शन हो जाता है। उसे श्रद्धा बैठ जाती है। प्रतीति होती है कि 'मैं यह हूँ'। फिर अनुभव हो जाता है। अत: पहले जो पर्याय अशुद्ध थे, वे पर्याय अब शुद्ध हो गए।

प्रश्नकर्ता : अब, ये इस प्रकार से जो द्रव्य-गुण हैं, उनकी अनुभूति तो होनी चाहिए न, तभी ऐसा कहा जाएगा न कि हमें आत्मा की अनुभूति हुई?

दादाश्री : ठीक है। अनुभूति तो मुख्य चीज़ है न! हमें तो इतना ही चाहिए कि ये आवरण टूट जाएँ।

प्रश्नकर्ता : यह जो अनुभूति होती है, वह तो पर्यायों को होती है न?

दादाश्री : मूल द्रव्य-गुण व पर्याय, इन सब का 'मैं' को एक साथ अनुभव हो जाता है। सिर्फ पर्यायों को ही नहीं होता, सब साथ में ही होते हैं। गुण के बिना पर्याय हो ही नहीं सकते। पर्याय नहीं होंगे तो गुण नहीं होंगे। अविनाभावी (अविच्छेदी संबंध) हैं सब। अर्थात् साथ में ही अनुभव हो जाता है।

शुद्ध चित्त पर्याय के रूप में, शुद्धात्मा द्रव्य-गुणों के रूप में

प्रश्नकर्ता : आत्मा इस देह में है और पर्याय सहित है, तो अशुद्ध चित्त, प्रज्ञा और आत्मा के पर्यायों के बीच क्या संबंध हैं?

दादाश्री : उस (मूल) आत्मा के पर्याय शुद्ध हैं। गुण भी शुद्ध हैं और पर्याय भी शुद्ध हैं।

प्रश्नकर्ता : तो अभी यह सारा फंक्शन चित्त का है? प्रज्ञा का फंक्शन है?

दादाश्री : हाँ! वह तो ऐसा है कि जब सभी गुण और पर्याय शुद्ध हो जाते हैं तब 'खुद को' केवलज्ञान हो जाता है। तब तक प्रज्ञा अलग रहती है।

प्रश्नकर्ता : हं। तो उस क्षण आत्मा के पर्याय रहते हैं न?

दादाश्री : हाँ, लेकिन (विभाव दशा के बाद वाले) पर्याय शुद्ध हो जाएँ और गुण भी शुद्ध हो जाएँ तो उसके बाद 'उसे' केवलज्ञान होता है। अर्थात् जब तक वह होना बाकी है तब तक यह सब अलग रहता है।

प्रश्नकर्ता : ठीक है। गुण तो शुद्ध ही होते हैं न? क्या गुण का शुद्ध होना भी बाकी रहता है?

दादाश्री : गुण के भी शुद्ध होने की ज़रूरत है।

प्रश्नकर्ता : वह किस प्रकार से?

दादाश्री : जब ये सभी डिस्चार्ज कर्म शुद्ध उपयोगपूर्वक खप जाते हैं तब उसका गुण शुद्धता रूपी फल देता है, वर्ना नहीं देता। तभी केवलज्ञान होता है, वर्ना नहीं हो सकता। अभी गुण आवरण वाले हैं।

सभी का (व्यवहार) आत्मा, द्रव्य और गुणों से शुद्ध ही है लेकिन पर्याय से अशुद्ध है। इसमें पर्याय का शुद्धिकरण हो जाएगा तो हो जाएगा पूर्ण शुद्धात्मा।

प्रश्नकर्ता : अशुद्ध चित्त का आत्मा के पर्याय के साथ क्या संबंध है ?

दादाश्री : बुद्धि और चित्त, वे प्रतिष्ठित आत्मा ('मैं' - विभाविक आत्मा) के कहे जाते हैं, क्योंकि बुद्धि आशययुक्त है। ये जो ज्ञान व दर्शन हैं, वे गुणों से भरपूर हैं, लेकिन अवस्थाओं के तौर पर सीमित हैं। यह जो चित्त है, वह बुद्धि के पर्याय हैं। वे पर्याय अशुद्ध हो चुके हैं। चित्त अशुद्ध ज्ञान-दर्शन का पर्याय है, वे बुद्धि की अवस्थाएँ हैं, वे पर्याय हैं। जब बुद्धि की लिमिट खत्म होती है, तब वह बुद्धि का अनुसरण करता है। बुद्धि जो भी डिसिज़न देती है, वह व्यवस्थित के अनुसार ही देती है। जितना बुद्धि का प्रकाश होता है, उतने ही चित्त के पर्याय होते हैं।

शुद्ध चित्त पर्याय रूपी है और शुद्धात्मा, द्रव्य-गुण रूपी है लेकिन अंत में तो सब एक ही चीज़ है।

बदलते हैं सिर्फ पर्याय, न कि ज्ञान-दर्शन

प्रश्नकर्ता : द्रव्य, गुण और पर्याय, इनमें से पर्याय आत्मा का गुण है या उसकी अवस्था है ?*

दादाश्री : यदि गुण होता तो वह गुणों में आता। पर्याय अर्थात् एक प्रकार की अवस्था और वह भी गुण की अवस्था। आत्मा की अवस्था नहीं है, गुण की अवस्था है। सूर्य में प्रकाश का गुण है न, इसलिए जब सूर्य आता है तो उजाला हो जाता है।

ऐसा है न कि यह जो लाइट (इलेक्ट्रिक बल्ब) है, वह द्रव्य कहलाता है और जो प्रकाश देने की शक्ति है, वह गुण कहलाता है। ज्ञान व दर्शन, वे गुण कहलाते हैं और जब प्रकाश में इन सभी चीज़ों को देखता और जानता है, तब वे पर्याय कहलाते हैं। ये सभी चीज़ें जो दिखाई देती हैं, वे ज्ञेय व दृश्य कहलाती हैं। द्रव्य व गुण ज्ञेय के अनुसार नहीं होते। पर्याय ज्ञेय के अनुसार होते हैं। 'लाइट' (बल्ब) उसी जगह पर रहती है।

---

*आप्तवाणी-३ पेज नं-५९ से ६७ आत्मा द्रव्य-गुण-पर्याय के बारे में विशेष विवरण

प्रश्नकर्ता : पर्याय तो समय-समय पर बदलते हैं न?

दादाश्री : हाँ, बदलते रहते हैं। वस्तु के गुण वही के वही रहते हैं, पर्याय बदलते रहते हैं। पर्याय जो हैं वे...

प्रश्नकर्ता : लेकिन कभी अशुभ आते हैं और कभी शुभ आते हैं?

दादाश्री : नहीं, ऐसा नहीं है। ज्ञान के सभी पर्याय बदलते रहते हैं, और जैसे-जैसे चीज़ें बदलती जाती हैं, वैसे-वैसे उस तरफ ज्ञान के पर्याय भी बदलते जाते हैं। अशुभ और शुभ को पर्याय नहीं माना जाएगा, वे तो उदय कहलाते हैं।

प्रश्नकर्ता : वे उदय कहलाते हैं?

दादाश्री : हाँ। पर्याय तो वस्तु के होते हैं, मूल वस्तु के।

प्रश्नकर्ता : आत्मा के जो पर्याय हैं, वे अवस्थांतर (अवस्था में परिवर्तन) हैं। जिस प्रकार से बालक का जन्म होता है, फिर वह बड़ा होता है, फिर जवानी आती है, फिर बुढ़ापा आता है तो उसे पर्याय कहा जाता है?

दादाश्री : उसे पर्याय नहीं कहते। वे सब तो अवस्थाएँ कहलाएँगी। पर्याय तो बहुत सूक्ष्म होते हैं। उसे जगत् के लोग समझते ही नहीं हैं, पर्याय को। इन अवस्थाओं को समझ सकते हैं। पर्याय मूल वस्तु पर लागू होता है। अब छः मूल वस्तुएँ हैं। एक है चेतन, दूसरा है अणु-परमाणु (जड़), और फिर ये धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, काल और आकाश। उनके पर्याय होते हैं, बाकी सब के पर्याय नहीं होते। सभी मूल वस्तुओं के पर्याय होते हैं। अतः वास्तव में तो मूल वस्तुओं के तो गुण होते हैं, उन गुणों के पर्याय होते हैं, मूल वस्तु के पर्याय नहीं होते। वस्तु के गुणों के ही पर्याय होते हैं।

गुण निरंतर साथ में रहते हैं और निरंतर साथ में रहेंगे। गुण में और द्रव्य में फर्क ही नहीं है, सिर्फ उसके पर्याय बदलते रहते हैं।

खुद हमेशा तत्त्व के रूप में रहता है और फेज़िज़ उत्पन्न होते हैं, और बाद में उनका विनाश हो जाता है। जैसे कि चंद्रमा के फेज़िज़ में तीज होती है, चौथ होती है, पंचमी होती है लेकिन चंद्रमा तो अपने मूल स्वरूप में ही है। ये तो उसके फेज़िज़ हैं, संयोगों के आधार पर। 'आप' खुद ऐसा मानते हो कि 'मैं चंदूभाई हूँ', अतः फेज़ रूपी बन गए हो।

प्रश्नकर्ता : मनुष्य खुद मिश्रचेतन का भाग है इसलिए फेज़ रूपी (अवस्था रूपी) है?

दादाश्री : नहीं! यदि वह मिश्रचेतन का भाग होता न, तो मूल स्वरूप में होता। मनुष्य तो फेज़ रूपी है क्योंकि 'उसकी' मान्यता रोंग है कि 'मैं चंदूभाई हूँ', उसका वर्तन रोंग है और उसका ज्ञान रोंग है। जिसकी मान्यता, वर्तन और ज्ञान फैक्ट हों, वह फेज़ रूपी नहीं कहलाएगा, वह मूल स्वरूप कहलाएगा।

जैसे कि ये फेज़िज़ ऑफ मून हैं, उसी प्रकार से ये जो आत्मा के फेज़िज़ हैं, वे ही पर्याय हैं। वे फेज़िज़ खत्म हो जाएँगे तो पूनम हो जाएगी।

तत्त्व से शून्य, पर्याय से पूर्ण

प्रश्नकर्ता : 'आत्मा पर्याय से पूर्ण है और स्वभाव से शून्य है', वह किस प्रकार से? यह ज़रा समझना है।

दादाश्री : ये जो पौद्गलिक पर्याय हैं न, उनके आधार पर पूर्ण है और स्वभाव से संकल्प-विकल्प रहित है, स्वभाव से शून्य है।

प्रश्नकर्ता : हाँ, लेकिन इसमें *पुद्गल* (जो पूरण और गलन होता है) की बात किस तरह आती है? आत्मा के जो पर्याय हैं, वे ज्ञाता-दृष्टा बनकर *पुद्गल* को देखते हैं इसलिए?

दादाश्री : पर्याय, यहाँ *पुद्गल* पर लागू होते हैं। क्योंकि स्वभाव बाद में आता है। स्वभाव में सबकुछ शून्य है, इसीलिए वहाँ पर पर्याय-वर्याय सब शून्य हो जाते हैं।

ज्ञेय में ज्ञेयाकार परिणाम, वही पर्याय हैं, उनसे पूर्ण है और तत्त्व से शून्य है। अनंत ज्ञेयो से अनंत पर्याय उत्पन्न होते हैं, उन्हें जानने में वह पूर्ण है, लेकिन जब केवलज्ञान हो जाए तब।

तत्त्व से शून्य है, पर्याय से पूर्ण है। पर्याय अर्थात् संपूर्ण लोक प्रमाण। व्यवहार पर्यायों से लोक प्रमाण होता है। (पूरे लोक को प्रकाशमान कर सकें, उतने।)

प्रश्नकर्ता : आत्मा द्रव्य से शून्य है और पर्यायों से परिपूर्ण है, तो उसे कौन सा आत्मा समझना है?

दादाश्री : यह तो माने हुए आत्मा की बात है, व्यवहार आत्मा की। तो द्रव्य के रूप में, वह मूल वस्तु के रूप में शून्य है, कुछ भी नहीं है और पर्याय पूरे लोक को प्रकाशमान करते हैं। वे परिपूर्ण हैं।

यह रिलेटिव आत्मा के संबंध में है। यह रिलेटिव के लिए है। रियल तो शून्य भी नहीं है और पूर्ण भी नहीं है।

फर्क, रियल और रिलेटिव आत्मपर्यायों में

प्रश्नकर्ता : तो आत्मा के जो पर्याय हैं, वह इस प्रतिष्ठित आत्मा की बात है या रियल आत्मा की बात है?

दादाश्री : रियल में भी उत्पन्न होंगे और प्रतिष्ठित में भी होंगे, सभी में होंगे।

प्रश्नकर्ता : प्रतिष्ठित आत्मा के जो पर्याय उत्पन्न होते हैं और रियल आत्मा के जो पर्याय उत्पन्न होते हैं, उन दोनों में क्या फर्क है?

दादाश्री : रियल आत्मा में शुद्ध होते हैं और यह अशुद्ध होता है। यह पौद्‌गलिक है और वह शुद्धात्मा का, चेतन का है, शुद्ध!

प्रश्नकर्ता : अत: आत्मा की जो अवस्थाएँ हैं, उन्हें आप पर्याय कहते हैं?

दादाश्री : और क्या? वह अवस्था अर्थात् पर्याय उत्पन्न होते

रहते हैं, उत्पन्न होते हैं, विलय होते हैं। यह अभी देखा, आत्माशक्ति से देखा, दृष्टा बना, फिर जब दृश्य बदल जाए तब फिर वापस विलय हो जाता है और वापस नया उत्पन्न होता है। ऐसा सब निरंतर होता ही रहता है न।

प्रश्नकर्ता : लेकिन वह तो पर्याय हुआ न! उसे अवस्था कहेंगे या पर्याय कहेंगे? वह तो आत्मा का सीधा पर्याय हुआ न? पहले अवस्था आती है उसके बाद पर्याय उत्पन्न होते हैं?

दादाश्री : अवस्था ही पर्याय है। वह निरंतर रहता ही है। कोई भी तत्त्व पर्याय सहित ही होता है। वर्ना वह तत्त्व कहलाएगा ही नहीं।

प्रश्नकर्ता : लेकिन यों वैज्ञानिक प्रकार से देखें तो *पुद्गल* के जो पर्याय हैं और आत्मा के जो पर्याय हैं, उन दोनों में बहुत फर्क है। उन दोनों की तुलना नहीं की जा सकती।

दादाश्री : यह चेतन है और वह जड़ है।

प्रश्नकर्ता : अब जड़ के जो पर्याय हैं, उनकी तुलना में इस चेतन के जो पर्याय हैं, वे किस प्रकार से जाते होंगे और किस प्रकार से उनका असर होता होगा?

दादाश्री : कोई भी असर नहीं होता। वे दृश्य के रूप में हैं और ये दृष्टा के रूप में हैं, एक ही तरह के। वे ज्ञेय के रूप में हैं और ये ज्ञाता के रूप में हैं। फिल्म में जड़ चीज़ें आती हैं और देखने वाला चेतन है। वस्तु तो एक ही है और दोनों का स्पर्श एक ही प्रकार का है! यदि आत्मा के पर्याय नहीं बदलेंगे तो 'वह' ज्ञाता-दृष्टा कैसे बनेगा? दृश्य बदलते रहते हैं इसलिए फिर आत्मा के पर्याय भी बदलते हैं।

प्रश्नकर्ता : आत्मा के पर्याय और अवस्था, क्या ये दोनों एक ही कहे जाएँगे?

दादाश्री : सब एक ही हैं। अवस्था अर्थात् उसमें परिवर्तन हुआ। वह जो दृश्य देखा, उसमें दृष्टा बदलता रहेगा, अर्थात् आत्मा का देखनापन

बदलता रहेगा। उधर यदि दूसरा दृश्य आ जाए तो आत्मा दूसरा दृश्य देखेगा। ज्ञेय भी बदलते जाते हैं और ज्ञाता भी बदलते जाते हैं।

प्रश्नकर्ता : तो क्या आत्मा के पर्याय को अवस्था कहा जा सकता है?

दादाश्री : अवस्था शब्द है ही नहीं, ये सब तो पर्याय हैं लेकिन आपको यह पर्याय शब्द समझ में नहीं आएगा, इसलिए अवस्था शब्द बोलना पड़ता है।

प्रश्नकर्ता : तो क्या अवस्था शब्द ही गलत है?

दादाश्री : नहीं-नहीं! आपको समझाने के लिए अवस्था कहना पड़ता है, मोटी भाषा में। आपको पर्याय समझ में नहीं आएगा। पर्याय तो, मैं आपको बता रहा हूँ फिर भी समझ में नहीं आ रहा। वह तो बहुत ही गहरी चीज़ है, बहुत सूक्ष्म बात है।

प्रश्नकर्ता : अब थोड़ा-बहुत समझाइए न दादा। ताकि हमें समझ में आए।

दादाश्री : नहीं! वह बात बुद्धि में नहीं उतर सकती। इसलिए हम आपसे कहते हैं न कि आपको बुद्धि से जितना समझ में आए उतना समझो।

प्रश्नकर्ता : लेकिन क्या आत्मा के पर्याय ही निज अवस्था कहलाते हैं?

दादाश्री : नहीं-नहीं! सिर्फ पर्याय कहाँ से निज अवस्था हुई? वह तो, जब गुण, द्रव्य और पर्याय, तीनों साथ में हों, उसी को निज अवस्था कहेंगे। साथ में नहीं होंगे तो वह तत्त्व कहलाएगा ही नहीं। हर एक तत्त्व में तीनों गुण साथ में होते हैं। जड़ तत्त्व में, चेतन तत्त्व में, सभी में होते हैं, वर्ना वह तत्त्व कहलाएगा ही नहीं। अर्थात् हर एक तत्त्व व्यवहार से विनाशी है और निश्चय से सभी अविनाशी हैं।

ये बहुत ही सूक्ष्म बातें हैं, बहुत गहरे उतरने के बजाय तो हमें

दादा ने जो कहा है, वैसा ज्ञाता-दृष्टा रहना है अभी। ज्ञाता-दृष्टा किसमें रहोगे? तो कहता है कि 'चंदूभाई का जो चल रहा है, उसे देखते रहना है'। इसे बारीक कातने गए तो खो जाओगे इसलिए यह जो मोटा सिखाया है, यही तरीका अच्छा है। ज्ञाता-दृष्टा! ज्ञेय आया कि ज्ञाता आ जाता है। दृश्य आया कि दृष्टा आ जाता है। ज्ञेय और दृश्य अनेक होते हैं। ज्ञेय और दृश्य बदलते ही रहते हैं, बार-बार। धर्मास्तिकाय अर्थात् गतिसहायक तत्त्व भी बदलता रहता है, बाकी सभी सनातन तत्त्व बदलते रहते हैं। हर एक तत्त्व परिवर्तित होता रहता है। बुद्धि से अगर इसमें गहरे उतरने जाएगा तो विकल्प में घुस जाएगा और फिर बल्कि बिगड़ जाएगा, दाग़ पड़ जाएगा। उसके बजाय आज्ञा में रहो।

प्रश्नकर्ता : ठीक है। वह बात सही है।

दादाश्री : अर्जुन को जो ज्ञान प्राप्त हुआ था, मैंने आपको वही ज्ञान दिया है। क्षायक समकित! इसीलिए आत्मा पर यह जो प्रतीति बैठी है, वह हटती ही नहीं है। हमारी आज्ञा का पालन करने से प्रतीति रहेगी। फिर उसमें से विज्ञान उत्पन्न होगा और उससे मुक्ति होगी, इस तरह सब साथ में ही होता रहेगा।

अलग हैं दोनों के पर्याय, संगदोष और एब्सल्यूट के

प्रश्नकर्ता : पहला जो पर्याय खड़ा हुआ और हमने देखा, कर्मफल रूपी जो पर्याय होता है, तो वे कर्म कब बंधे थे?

दादाश्री : कर्म का सवाल ही कहाँ है? पर्याय कर्म नहीं हैं। इटर्नल वस्तु किसे कहते हैं? कोई भी वस्तु यदि इटर्नल है तो उसमें गुण होने ही चाहिए। गुण परमानेन्ट हैं और पर्याय विनाशी हैं। इस प्रकार से यह जगत् बना है।

प्रश्नकर्ता : क्या उसी के लिए इन लोगों ने एब्सल्यूट शब्द का उपयोग किया है?

दादाश्री : वह एब्सल्यूट वस्तु अलग है और जो एब्सल्यूट है न, वह पर्याय सहित है लेकिन फिर उसके पर्याय भी अलग होते हैं। ये

पर्याय अलग हैं। ये संगदोष पर्याय हैं। अनात्मा के संगदोष की वजह से तो ये पर्याय हैं। इस संग से अलग होने के बाद में वे पर्याय साफ, क्लियर रहेंगे।

अब ऐसा कहते हैं कि किस आधार पर यह सब चल रहा है? तो नियति के आधार पर। यह प्रवाह की तरह बह रहा है और अनादि से यह प्रवाह बह रहा है। अब इसमें बुद्धि कैसे चलेगी?

आत्माएँ अनंत हैं और *पुद्गल* अर्थात् परमाणु भी अनंत हैं और यों समसरण में हैं। यानी कि दोनों साथ में हुए इसलिए संगदोष लग गया है। उस संगदोष से यह उत्पन्न हुआ है, तब संग तो है। जब से हैं तब से संगदोष है। अत: इस इटर्नल की शरुआत नहीं है।

प्रश्नकर्ता : आपने अभी-अभी कहा कि उत्पन्न हुआ है?

दादाश्री : शब्द तो बोलना पड़ता है आपको समझाने के लिए कि 'भाई, आपको जो दिखाई देता है, वह किस आधार पर है?' हम कहते हैं कि सूर्य सुबह उगता है। वहाँ पर कहते हैं, 'उगा' और यहाँ पर कहते हैं, 'अस्त हो गया', इज़ देट फैक्ट?

प्रश्नकर्ता : नहीं, वैसा तो दिखाई देता है।

दादाश्री : तेरी समझ से दिखाई देता है या नहीं? ऐसा ही है यह। हमें सबकुछ दिखाई देता है कि ऐसा कुछ है नहीं। वहाँ पर उसे यही दिखाई देता है कि सूर्य उगा और अस्त हो गया। यानी कि लोगों के लिए वह ठीक है, उसे जैसा दिखाई देता है वैसा ही कहता है। क्या सूर्य को वैसा ही दिखाई देता होगा? सूर्य को क्या दिखाई देता होगा?

प्रश्नकर्ता : सूर्य की जगह पर जाकर देखा जाए तो वह उगा भी नहीं है और अस्त भी नहीं हुआ है। ऐसा जवाब आएगा न?

दादाश्री : हं। उगा भी नहीं है और अस्त भी नहीं हुआ है। कई चीज़ें ऐसी हैं कि जो खुद की दृष्टि से बाहर की हैं, इस बुद्धि से बाहर की हैं।

प्रश्नकर्ता : अर्थात् बिगिनिंगलेस है, एन्डलेस। (शुरुआत नहीं है और अंतहीन) ये दो वाक्य हैं?

दादाश्री : एन्डलेस! बस! लेकिन यह बात समझने जैसी है।

प्रश्नकर्ता : नहीं! मुझे तो इस अनंती के नियम का समाधान चाहिए।

दादाश्री : सभी नियमों का समाधान है लेकिन नियमों का समाधान सही तरीके से समझकर होना चाहिए। जैसा इस सूर्य के बारे में होता है। लोग कहते हैं, उगा और अस्त हो गया।

आत्मा में ऐसे गुण हैं, अनात्मा में भी ऐसे गुण हैं। उत्पन्न होना, विनाश होना लेकिन ध्रुवता नहीं छोड़नी है। काल तत्त्व में भी ऐसे गुण हैं। यह जो काल तत्त्व है न, 'उत्पन्न होना, विनाश होना लेकिन ध्रुवता नहीं छोड़ता है'। आकाश में भी ऐसे गुण हैं। आकाश में भी उत्पन्न होना, विनाश होना लेकिन ध्रुवता नहीं छोड़ता है।

[२]

गुण व पर्याय के संधि स्थल, दृश्य सहित

भेद, बुद्धि से देखने में और प्रज्ञा से देखने में

प्रश्नकर्ता : मैं ज्ञाता-दृष्टा बनकर देखने का प्रयत्न करता हूँ लेकिन उस क्षण भी ऐसा लगता है कि बुद्धि देख रही है।

दादाश्री : ये सही कह रहे हैं। बुद्धि ही देखती है, (रियल) ज्ञाता-द्रष्टा तो वहाँ से शुरू होता है, जहाँ पर बुद्धि भी नहीं पहुँच सकती।

इन सभी ज्ञेय चीज़ों का ज्ञाता-दृष्टा 'मैं' नहीं लगता, परंतु यह बुद्धि लगती है लेकिन इस बुद्धि का ज्ञाता-दृष्टा कौन है? आत्मा। जब 'ऐसा लगता है' तब कहा जाएगा कि दृष्टा की तरह देखा और जब 'जानते हैं' तब ज्ञाता की तरह जाना।

प्रश्नकर्ता : अर्थात् क्या ऐसा है कि इस पूरे दिन की जो देखने की प्रक्रिया थी तो उसे देखने वाला जो है, उसे भी देखने वाला कोई और है? तो प्रथम देखने वाला कौन है?

दादाश्री : उसे उपादान कहो, बुद्धि कहो या अहंकार कहो, और उसे भी जो देखता है, वह आत्मा है। जानने वाले को भी जानता है।

प्रश्नकर्ता : तो इसमें प्रज्ञा कहाँ पर आई?

दादाश्री : वही प्रज्ञा है न! मूल आत्मा तो मूल आत्मा ही है।

प्रश्नकर्ता : उस डिमार्केशन का कैसे पता चलेगा कि यह 'देखना-जानना' बुद्धि द्वारा है या 'खुद के' द्वारा?

दादाश्री : बुद्धि का देखना-जानना तो यों जो आँखों से दिखाई

देता है, वही है अथवा कान से जो सुनाई देता है वह, जीभ से चख सकते हैं वह, वह सारी बुद्धि है।

प्रश्नकर्ता : यह तो इन्द्रियों का हुआ लेकिन अंदर भी सब चलता रहता है न! बुद्धि देखती है कि ये पक्षपाती हैं, ऐसे हैं, वैसे हैं, वह सब बुद्धि ही देखती है न?

दादाश्री : जो ऐसा सब देखती है, वह बुद्धि ही है। आत्मा का ज्ञान-दर्शन तो है देखना और जानना, वह अलग चीज़ है। जो द्रव्यों को देखता व जानता है, द्रव्य के गुणों को जानता है, उसके पर्यायों को जानता है, उन सब को देखता और जानता है, वह आत्मा है। या फिर जो मन के सभी पर्यायों को जानता है। बुद्धि तो मन के पर्यायों को कुछ हद तक ही जान सकती है जबकि आत्मा मन के सभी पर्यायों को जानता है। बुद्धि को जानता है, परिस्थितियों को जानता है, अहंकार के पर्यायों को जानता है, सभी कुछ जानता है। जहाँ पर बुद्धि नहीं पहुँच सकती वहाँ पर उसका (आत्मा का) शुरू होता है।

प्रश्नकर्ता : और जो चंदूभाई को देखती है, क्या वह बुद्धि है?

दादाश्री : उसे बुद्धि देखती है और बुद्धि को जो देखता है, वह आत्मा है। बुद्धि क्या कर रही है, मन क्या कर रहा है, अहंकार क्या कर रहा है, जो इन सभी को जानता है, वह आत्मा है। आत्मा से आगे परमात्मा पद है। जो शुद्धात्मा बन गया, वह परमात्मा की तरफ जाने लगेगा और जो परमात्मा बन गया उसे केवलज्ञान हो जाएगा। या फिर जिसे केवलज्ञान हुआ वह बन गया परमात्मा। पूर्ण हो गया, निर्वाण पद के लायक हो गया। अत: देखने-जानने का उपयोग रखना चाहिए, पूरे दिन।

प्रश्नकर्ता : जो इस *पुद्गल* की सभी चीज़ों को देखता है और देखने की सभी जो क्रियाएँ हैं, वे बुद्धि क्रिया हैं या ज्ञान क्रिया हैं?

दादाश्री : यों तो वह प्रज्ञा के भाग में ही आता है न! अहंकार और बुद्धि की क्रिया से कुछ समझ में आता है वर्ना प्रज्ञा के बिना समझ में नहीं आ सकता।

प्रश्नकर्ता : आप कहते हैं कि 'जब हम ज्ञान देते हैं तब आत्मा और देह को अलग कर देते हैं', तो इन दोनों को अलग करने वाले को कौन देखता है?

दादाश्री : दो चीज़ें हैं जो देखती हैं। एक तो प्रज्ञा है और प्रज्ञा का काम खत्म हो जाने के बाद फिर आत्मा है। आत्मा ज्ञायक के रूप में रहता है। प्रज्ञा से लेकर आत्मा तक 'देखने वाला' है। प्रज्ञा का काम खत्म होने पर आत्मा खुद ज्ञायक बन जाता है।

प्रश्नकर्ता : अर्थात् यह जो आत्मा का देखना व जानना कहा है, तो वह द्रव्यों को जानता है?

दादाश्री : हं!

प्रश्नकर्ता : वह द्रव्यों को, द्रव्यों के गुणधर्मों को और द्रव्यों के पर्यायों को किस प्रकार से जानता है, उसमें क्या-क्या देख सकता है? उसका एक्ज़ेक्ट उदाहरण दीजिए न!

दादाश्री : 'ये किसके गुणधर्म हैं', ऐसा सब जानता है। *पुद्गल* के गुणधर्म हैं या चेतन के गुणधर्म हैं। फिर अन्य सभी गुणधर्मों को भी जानता है। आकाश के गुणधर्म क्या हैं, ऐसा सब भी जानता है। फिर काल के क्या गुणधर्म हैं, उन्हें भी जानता है।

फर्क, प्रज्ञा और पर्याय में

प्रश्नकर्ता : आत्मा का पर्याय यानी कि कोई ऐसा उदाहरण देकर बताइए ताकि समझ में आए कि इसे आत्मा का पर्याय कहते हैं।

दादाश्री : आप चंदूभाई की भूल देख लेते हो न! क्या वह भूल फिर से दिखाई देती है?

प्रश्नकर्ता : नहीं! वह फिर नहीं दिखाई देती।

दादाश्री : फिर से नहीं दिखाई देती इसलिए उसी को पर्याय कहते हैं। जो हमेशा आत्मा के साथ रहता है, वह ज्ञान कहलाता है, गुण

कहलाता है और जो अवस्था तक ही सीमित है, क्षणिक वह पर्याय कहलाता है। जो ज्ञान खुद के दोष दिखाता है, वह ज्ञान नहीं बल्कि ज्ञान का पर्याय है।

प्रश्नकर्ता : यह जो प्रज्ञा है, क्या उसे पर्याय कहते हैं?

दादाश्री : नहीं! प्रज्ञा तो अलग ही चीज़ है। वह पर्याय नहीं है। पर्याय तो किसे कहते हैं कि जो आकर तुरंत ही चला जाए, अवस्था बिल्कुल छोटी (कम समय के लिए) होती है।

आत्मा तो ज्ञान स्वरूप है लेकिन उसका प्रकाश उत्पन्न होता है। उसमें जो दिखाई देता है, वे सब अवस्थाएँ हैं। यह देखा, वह देखा, सब देखता रहता है लेकिन उसे देखने के बाद एक खत्म होता है, फिर दूसरा देखता है, तीसरा देखता है। वे अवस्थाएँ कैसी होती हैं? उत्पन्न होती हैं, कुछ समय तक टिकती हैं, (टिकने का मतलब ध्रुव नहीं है क्योंकि जब अवस्था टिकती है तब उसमें सूक्ष्म रूप से परिवर्तन तो चल ही रहा होता है।) और वापस लय हो जाती हैं। उत्पन्न होती हैं, कुछ समय तक टिकती हैं और लय हो जाती हैं। और जब लय होती है तब फिर दूसरी अवस्था उत्पन्न होती है। ऐसा निरंतर चलता ही रहेगा, *पुद्गल* (जो पूरण और गलन होता है) में भी ऐसा ही है। *पुद्गल* के सभी पर्याय आपको दिखाई देते हैं लेकिन आत्मा के पर्याय आपको बहुत जल्दी समझ में नहीं आएँगे। अभी (विभाविक) आत्मा बाहर यह सब जो देखता है, वे सभी पर्याय हैं। उसके गुण शाश्वत होते हैं, पर्याय टेम्परेरी होते हैं।

प्रश्नकर्ता : लेकिन आत्मा के तो अनेक पर्याय होते हैं, असंख्य पर्याय होते हैं?

दादाश्री : आत्मा के असंख्य नहीं, अनंत पर्याय होते हैं। उन्हें गिना ही नहीं जा सकता न!

पर्याय के बिना, नहीं है आत्म अस्तित्व

प्रश्नकर्ता : लेकिन आत्मा के खुद के जो पर्याय हैं, वे कुछ अलग होते हैं या फिर इस *पुद्गल* के साथ में ही हो सकते हैं?

दादाश्री : (आत्मा के) स्वभाव के साथ हैं।

प्रश्नकर्ता : हाँ, लेकिन उस आत्मा के पर्याय का कोई उदाहरण दीजिए तो कुछ समझ में आए कि यह आत्मा का पर्याय है।

दादाश्री : यह जो पर्याय शब्द आता है न, तो अभी भी ये स्वभाव के पर्याय नहीं हैं, ये विभाव के पर्याय हैं।

प्रश्नकर्ता : लेकिन स्वभाव के पर्याय कैसे होते हैं?

दादाश्री : स्वभाव के पर्याय शुद्ध ही होते हैं।

प्रश्नकर्ता : हाँ, लेकिन उनमें कोई विविधता होती है या वे एक ही प्रकार के होते हैं?

दादाश्री : उनमें विकल्प भाव है ही नहीं न! उनमें वे मान्यताएँ नहीं हैं न! स्वाभाविक रूप से रहते ही हैं। जबकि ये सब तो मान्यताएँ हैं। विकल्प। संकल्प-विकल्प। (यह सब विभाव के पर्याय में होता है।)

प्रश्नकर्ता : *पुद्गल* पर्याय तो समझ में आता है लेकिन आत्मा के पर्याय कैसे होते हैं? वह उदाहरण देकर समझाइए।

दादाश्री : सूर्य का जो तेज है, प्रकाश नामक जो गुण है, वह उसका गुण कहलाता है। जो किरणें हैं, वे पर्याय हैं। उसका गुण हमेशा के लिए रहता है और जो पर्याय हैं, वे फिर खत्म भी हो जाते हैं। पर्याय विनाशी हैं।

प्रश्नकर्ता : लेकिन इसमें तो उजाले की किरणें होती हैं, तो आत्मा में ज्ञान-दर्शन के पर्याय कैसे होते हैं?

दादाश्री : वह जो ज्ञान है, वह प्रकाश है और ज्ञान द्वारा जानना, वह पर्याय है। देखना-जानना, वे सब पर्याय हैं। जो मूल स्वभाव है, वह शाश्वत है जबकि पर्याय तो बदलते रहते हैं। जो देखना व जानना बदलता रहता है, उसे पर्याय कहते हैं।

प्रश्नकर्ता : लेकिन जिस ज्ञेय को देखना और जानना है, वह ज्ञेय तो पौद्गलिक है, तो उसमें इसका पर्याय कहाँ पर माना जाएगा?

दादाश्री : लेकिन वे ज्ञान के पर्याय हैं। ज्ञान के पर्यायों द्वारा 'आप' ज्ञेय को जान सकते हो। फिर उन पर्यायों का नाश हो जाता है और जो ज्ञान है, वह हमेशा के लिए रहता है। वह गुण है आत्मा का। ज्ञान और दर्शन, ये दोनों शाश्वत (परमानेन्ट) गुण हैं। कितने ही ऐसे अन्य गुण हैं, जो शाश्वत हैं।

प्रश्नकर्ता : इस *पुद्गल* को लक्ष्य में रखकर जो पर्याय उत्पन्न होते हैं, वह तो समझ में आया लेकिन क्या आत्मा के खुद के स्वतंत्र पर्याय भी हैं जो कि कहीं भी *पुद्गल* के साथ संबंध में नहीं आते?

दादाश्री : आत्मा स्वतंत्र पर्याय के बिना हो ही नहीं सकता।

प्रश्नकर्ता : *पुद्गल* नहीं होगा तो आत्मा के पर्याय भी नहीं होंगे न?

दादाश्री : आत्मा के गुण और पर्याय तो हैं ही वर्ना आत्मा ही नहीं होगा। फिर तो यह मान्यता ही रोंग है। कहाँ लिखा हुआ है ऐसा? ऐसा तो प्रश्न ही नहीं होना चाहिए। *पुद्गल* नहीं होगा मतलब? *पुद्गल* नहीं होगा तो कुछ दूसरा होगा, तीसरा होगा लेकिन यह जो देखने-जानने की क्रिया है, गुण है, उसका उपयोग हुए बिना रहेगा ही नहीं। निरंतर चलता रहता है। सिद्ध क्षेत्र में भी उसका निरंतर उपयोग होता रहता है, चौबीसों घंटे। उस आत्मा की श्रद्धा रखी तो काम की है वर्ना यदि हम ऐसा समझें कि आत्मा में पर्याय नहीं है तो वह श्रद्धा गलत है। आत्मा द्रव्य, गुण और पर्याय सहित ही है।

प्रश्नकर्ता : तो सिद्ध क्षेत्र में भी पर्याय हैं?

दादाश्री : सभी जगह पर हैं पर्याय। जहाँ पर आत्मा है वहाँ पर गुण और पर्याय, इन दोनों सहित होता है।

प्रश्नकर्ता : जहाँ *पुद्गल* के साथ कहीं पर भी संबंध नहीं है, आत्मा के ऐसे स्वतंत्र पर्याय कौन से हैं?

दादाश्री : हैं, सभी पर्याय ही हैं न!

प्रश्नकर्ता : उदाहरण दिया जा सकता है?

दादाश्री : सभी उदाहरण हैं न! जो पर्याय हैं, वे *पुद्‌गल* को देखे बगैर रहते ही नहीं। *पुद्‌गल* के अलावा अन्य चीज़ों को भी देख सकता है। और वस्तु खुद के पर्यायों के बिना हो ही नहीं सकती। ऐसा नहीं कहना चाहिए कि आत्मा के स्वतंत्र पर्याय नहीं हो सकते। यदि आत्मा के पर्याय नहीं होंगे तो आत्मा ही चला जाएगा। फिर खत्म हो जाएगा। सिर्फ *पुद्‌गल* ही काम नहीं करता, बहुत सारी चीज़ें हैं वहाँ पर। लेकिन अभी तो यदि सिर्फ एक *पुद्‌गल* को ही देखोगे तो बाकी की बहुत सारी चीज़ों को देख पाओगे। जिसका मुख्य गुण ही देखने-जानने का है और उसका काम ही है, देखने और जानने का। निरंतर। पूरे दिन। अतः पर्याय तो पूरे दिन रहते ही हैं।

दो-दो प्रकार हैं, दृष्टा और दृश्य के

चार भाग हैं - दो भाग दृष्टा और दो भाग दृश्य।*

प्रश्नकर्ता : दादा, उस दृष्टा के दो भाग कौन से हैं और दृश्य के दो भाग कौन से हैं?

दादाश्री : दृष्टा मूल स्वरूप से रहता है, दृष्टा स्वरूप से वीतराग और दूसरा दृष्टा है 'मैं'। जो बुद्धि है, वह 'इसे' देखती है (प्रतिष्ठित आत्मा के कार्यों को)। पहला दृश्य प्रतिष्ठित आत्मा है और दूसरा दृश्य है उसके कार्य। दो प्रकार के दृश्य और दो प्रकार के दृष्टा!

दो प्रकार के ज्ञाता हैं और दो प्रकार के ज्ञेय! अर्थात् आत्मा (प्रज्ञा, शुद्धात्मा) और आत्मा (विभाविक आत्मा, विभाविक 'मैं') के पर्याय (वह बुद्धि है)। और यह प्रतिष्ठित आत्मा और उसके पर्याय, ये दोनों ज्ञेय हैं। भगवान (मूल द्रव्य) में कुछ भी नहीं होता, पर्याय में दिखाई देता है।

प्रश्नकर्ता : दादा! आपने जो दो दृष्टा के बारे में कहा है, उनमें से जो दरअसल आत्मा है, वह मूल दृष्टा है?

दादाश्री : शुद्धात्मा।

* अधिक सत्संग के लिए आप्तवाणी-१३ (पू), चे.-७, देखने वाला-जानने वाला और उसे भी जानने वाला।

प्रश्नकर्ता : शुद्धात्मा और जो दूसरा दृष्टा है वह, आत्मा के जो पर्याय हैं, वे हैं न?

दादाश्री : वे जो (विभाविक आत्मा के) पर्याय उत्पन्न होते हैं, वे।

आत्मा के जो पर्याय हैं, वे किसके पर्यायों को देखते हैं? यह मूल आत्मा प्रतिष्ठित आत्मा के सभी पर्यायों को नहीं देखता। उसे इसकी पड़ी भी नहीं है। वीतराग है!

प्रश्नकर्ता : वह वीतराग है?

दादाश्री : हाँ। वीतराग तो ये (आत्मा के पर्याय) भी हैं, जो यह जानते हैं कि 'यह राग है' और 'यह द्वेष है' जबकि 'भगवान' (मूल आत्मा) खुद वीतराग रहते हैं। उन्हें इसमें कोई राग भी नहीं है और द्वेष भी नहीं है।

प्रश्नकर्ता : पहला दृष्टा, वह दरअसल आत्मा है, वह क्या देखता है?

दादाश्री : वे तो वीतरागता को ही देखते हैं। वे राग-द्वेष को कैसे देख सकते हैं? उनमें राग-द्वेष नहीं हैं, कुछ भी नहीं है। वे तो जो कुछ भी उदय के अधीन है, उसी को देखा करते हैं। उनके लिए अच्छा-बुरा नहीं है।

प्रश्नकर्ता : तो वे सब को तत्त्व के रूप में देखते रहते हैं?

दादाश्री : तत्त्व के रूप में देखते हैं और अतत्त्व को भी देखते हैं।

प्रश्नकर्ता : अतत्त्व को भी देखते हैं?

दादाश्री : दोनों को ही देखते हैं, लेकिन वीतराग।

प्रश्नकर्ता : और दूसरे दृष्टा कौन हैं?

दादाश्री : वे उसके पर्याय हैं।

प्रश्नकर्ता : मूल आत्मा के पर्याय भी दृष्टा के रूप में ही रहते हैं?

दादाश्री : दृष्टा के रूप में रहते हैं, वीतराग भी हैं लेकिन जब तक ऐसा जानते हैं कि 'यह बुरा है और यह अच्छा है', तब तक वे

बुद्धि के पर्याय कहलाते हैं। (ज्ञान लेने के बाद अहंकार नहीं रहता इसलिए जब बुद्धि देखती है तब उसमें अहंकार नहीं होने की वजह से राग-द्वेष नहीं होते।) मूल आत्मा के पर्याय भी शुद्ध हैं। मूल आत्मा का ज्ञान शुद्ध है, उसके पर्याय शुद्ध हैं और यह (विभाविक आत्मा का) (ज्ञानी पद में) ज्ञान शुद्ध है, पर्याय शुद्ध नहीं हैं।

प्रश्नकर्ता : ज्ञान शुद्ध है और पर्याय शुद्ध नहीं हैं, इसके बावजूद भी वह देखता और जानता है?

दादाश्री : हाँ, इन दादा में जो है, वैसी वीतरागता। पर्याय में भी उन्हें राग-द्वेष नहीं होते। फिर भी ऐसा जानते हैं कि 'यह अच्छा है और यह बुरा है'। उससे नीचे वाले भाग में बुद्धि जैसा पद है, जिसे पौद्‌गलिक माना जाता है। उसमें से राग-द्वेष भी होते हैं। (क्योंकि वह बुद्धि जो देखती और जानती है, उसमें अहंकार के एकाकार रहने से राग-द्वेष होते हैं) और यह दृश्य क्या है? उसके तो चार भाग करना अच्छा है। एक दृष्टा, दूसरा दृष्टा, तीसरा दृश्य और चौथा दृश्य।

प्रश्नकर्ता : फिर दूसरा ज्ञेय और दूसरे ज्ञाता, और पहला ज्ञाता और पहला ज्ञेय भी कहा है न?

दादाश्री : हाँ, ज्ञाता और दृष्टा, वे दोनों साथ में हैं।

प्रश्नकर्ता : अर्थात् दो प्रकार से ज्ञाता और दृष्टा हैं, दो प्रकार से दृश्य और दो प्रकार से ज्ञेय।

दादाश्री : ठीक है। जब ज्ञेय को लेकर शुद्धता आ जाती है (जब ज्ञेय में तन्मयाकारपना छूट जाता है, ज्ञेय से छूटता है, वीतरागता से ज्ञेयों का ज्ञाता रहता है तब ज्ञेयों से खुद की शुद्धता आती-जाती है), इसलिए वापस मूल स्वरूप में आ जाता है।

प्रश्नकर्ता : यह बात ज़रा फिर से कहिए।

दादाश्री : ज्ञेय से शुद्धता आ जाती है इसलिए 'खुद' पूरा ही शुद्ध हो जाता है, पर्याय और ज्ञेय से। सोचकर देखना, यह बहुत सूक्ष्म बात है।

प्रश्नकर्ता : एक बार ऐसी बात निकली थी कि दो प्रकार के ज्ञेय अवस्था के रूप में हैं और एक प्रकार का ज्ञेय तत्त्व के स्वरूप में है।

दादाश्री : वह तो हमने हिसाब लगाकर देख लिया। बाकी यों तो दो और दो चार माने जाएँगे। आत्मा का ज्ञान, उसका स्वभाव नहीं बिगड़ता है। ज्ञान वीतराग ही होता है। सिर्फ पर्याय ही बिगड़ते हैं। क्योंकि यह जो ज्ञान है, वह परमानेन्ट है, अविनाशी है और जो पर्याय हैं, वे अवस्थाएँ हैं, वे विनाशी हैं। जो अवस्था वाला ज्ञान है, उसे बुद्धि कहते हैं, वह भी विनाशी है। उस विनाशी में यह सब दिखाई देता है।

प्रश्नकर्ता : अब, आपने ऐसा कहा है कि पहला दृश्य प्रतिष्ठित आत्मा है और दूसरा दृश्य है प्रतिष्ठित आत्मा की क्रियाएँ, तो यदि उसे शुद्ध दिखाई देता है, उस शुद्ध दिखाई देने में...

दादाश्री : दोनों, दोनों।

प्रश्नकर्ता : ये दोनों दिखाई देते हैं? प्रतिष्ठित आत्मा और उसकी क्रियाएँ? दो दृष्टा कहा गया है और दो दृश्य कहा गया है। तो क्या ऐसा कहा कि दृष्टा पहले प्रतिष्ठित आत्मा को देखता है?

दादाश्री : कौन सा आत्मा?

प्रश्नकर्ता : पहला दृष्टा प्रतिष्ठित आत्मा को देखता है इसलिए प्रतिष्ठित आत्मा पहला दृश्य है। और प्रतिष्ठित आत्मा की क्रियाएँ, वे दूसरा दृश्य हैं और दूसरे दृश्य को दूसरा दृष्टा अर्थात् पर्याय देखते हैं?

दादाश्री : हाँ। और पहला दृष्टा प्रतिष्ठित आत्मा को देखता है।

प्रश्नकर्ता : तो शुद्ध दशा उत्पन्न हो जाए तब उसे दोनों दृश्य होंगे?

दादाश्री : एक ही दृश्य रहेगा।

प्रश्नकर्ता : कौन सा?

दादाश्री : शुद्ध ही। शुद्ध और अविनाशी। शुद्ध विनाशी नहीं होता।

शुद्ध तो हमेशा अविनाशी ही होता है। अत: शुद्ध व ऐसी सब अविनाशी चीज़ों को देखता है, छ: तत्त्वों को।

विभाविक आत्मा पर्याय के रूप में विनाशी है और ज्ञान के रूप में अविनाशी है। केवलज्ञान के बाद विभाविक पर्याय नहीं रहते।

पर्याय के रूप में 'खुद' विनाशी है और ज्ञान के रूप में अविनाशी है। केवलज्ञान के बाद 'खुद' पर्याय रूपी नहीं रहता। क्या आपको थोड़ा-बहुत समझ में आ रहा है?

प्रश्नकर्ता : दादा, कुछ-कुछ समझ में आ रहा है।

दादाश्री : मुझे यह कहना नहीं आ रहा है।

प्रश्नकर्ता : लेकिन नहीं दादा, अब अभी आप कष्ट न करें।

दादाश्री : हाँ! उसमें कोई हर्ज नहीं है लेकिन पूरी तरह से स्पष्ट तो हो जाना चाहिए। जो बातें निकली हैं, फिर कभी ऐसी बातें नहीं निकलेंगी। आत्मा को विनाशी नहीं कह सकते न! और उसके पर्याय विनाशी हैं इसलिए वे बुद्धि में आते हैं। उसे बुद्धि माना गया है। और वह बुद्धि जिससे यह सब दिखाई देता है, वह बुद्धि कहाँ से उत्पन्न हुई? तो कहते हैं (विभाविक) आत्मा के पर्यायों में से निकली है। बुद्धि विनाशी है, और कोई भी विनाशी मूल स्वरूप में नहीं है। वह तो जब पर्याय में आपको शुद्ध दिखाई देने लगेगा, तब ऐसा कहा जाएगा कि वह मूल शुद्धात्मा बन गया। पर्याय में कैसा दिखाई देना चाहिए?

प्रश्नकर्ता : शुद्ध दिखाई देना चाहिए लेकिन जब वह शुद्ध दिखाई देता है, उस समय ऐसा भी देख सकता है न कि 'यह अच्छा है और यह बुरा'?

दादाश्री : नहीं।

प्रश्नकर्ता : नहीं? तब तक अशुद्ध कहलाएगा?

दादाश्री : वह जो कहा है न, उसमें 'हमारी' (ज्ञानी पद) जितनी कमी है, उतने ही 'मेरे' पर्याय बिगड़े हुए हैं। उतने पर्याय शुद्ध हो जाएँ

तो हमारे ज्ञान के पर्याय एकदम साफ हो जाएँगे। क्या यह समझ में नहीं आ रहा? क्या परेशानी है?

बहुत सूक्ष्म बात है यह। ऐसी बात ही नहीं करनी चाहिए। यह सामान्य बात नहीं है। यह बात तो सिर्फ हमारे जानने के लिए ही है। हम जानते हैं कि इतने तक अशुद्ध हैं।

प्रश्नकर्ता : आपने कहा न कि ज्ञान के इतने पर्याय अशुद्ध हैं, तो वह किस आधार पर? यानी कौन सी अशुद्धता है उनमें?

दादाश्री : अभी हमारी दशा संपूर्ण नहीं हुई है, संपूर्ण वीतराग। पर्याय भी वीतराग होने चाहिए और ज्ञान भी वीतराग होना चाहिए।

प्रश्नकर्ता : पर्याय में वीतरागता कब आती है?

दादाश्री : जब शुद्ध हो जाता है तब। जब सभी कर्मों का *निकाल* (निपटारा) हो जाता है और फिर वे कर्म भी किस प्रकार के? अंदर से शुद्ध होने के बहुत समय बाद बाहर से शुद्ध होता है। हम कहते हैं न कि 'हम' आत्मा को लेकर संपूर्ण शुद्ध हैं, ज्ञान को लेकर संपूर्ण शुद्ध हैं, पर्यायों को लेकर 'हम' अशुद्ध हैं।

प्रश्नकर्ता : तो क्या ऐसा होता है कि जब उस कर्म का उदय आएगा तब शुद्धता परिणामित होगी? तब तक वह बैलेन्स में पड़ा रहेगा, पेन्डिंग रहेगा?

दादाश्री : हाँ! जब तक पड़े रहेंगे तब तक नहीं होगा। वह (भरा हुआ माल) बाहर निकल जाएगा न, उसके बाद पर्याय शुद्ध हो जाएँगे।

प्रश्नकर्ता : और क्या हमारे देखने से वे पर्याय शुद्ध हो जाएँगे?

दादाश्री : हाँ! फिर उसके बाद शुद्ध ही रहते हैं। अन्य कुछ नहीं दिखाई देगा। अशुद्धि नहीं दिखाई देगी। पर्याय में चंचलता का नाश हो जाएगा। कुछ समझ में आ रहा है?

ऐसे करते-करते पर्यायों का स्वरूप अलग हो जाएगा (शुद्ध हो जाएगा), अब आत्मा का स्वरूप कितना है? वह ज्ञान और पर्याय।

प्रश्नकर्ता : आत्मा का स्वरूप है ज्ञान और पर्याय?

दादाश्री : बस!

प्रश्नकर्ता : क्या उसे आत्मा का स्वरूप माना जाएगा?

दादाश्री : ज्ञान का स्वभाव हमेशा इसी प्रकार से रहने का है और पर्यायों का स्वभाव है, जैसा दृश्य दिखाई देता है वैसा ही देखता है।

प्रश्नकर्ता : अवस्था रूपी होता है? अवस्था के रूप को देखना, क्या वही पर्यायों का काम है?

दादाश्री : अवस्था स्वरूप को देखता है। जितने भाग में ज्ञान पर आवरण रहता है उतने हिस्से में पर्याय से भी देखता है। जब खुद ज्ञान में देखता है तब पूरा केवलज्ञान स्वरूप ही दिखाई देता है।

प्रश्नकर्ता : ज्ञान पर जितना आवरण होता है, उतने हिस्से में वह पर्याय के रूप में देखता है, वह ज़रा फिर से बताइए।

दादाश्री : केवलज्ञान पर्याय रूपी नहीं होता। 'ज्ञान' को तो आत्मा का गुण कहा है, संसार के लिए, संसार के स्वभाव के लिए। आत्मा का मूल गुण विज्ञान तक जा सकता है क्योंकि आत्मा, जो कि अविनाशी है, उसमें विनाशी पद है ही नहीं। समझ में आया?

प्रश्नकर्ता : हाँ।

दादाश्री : यह 'ज्ञान' किसे देना है? तो कहते हैं 'पर्यायी लोगों के लिए यह ज्ञान देना है'। बाकी, मूल स्वरूप से तो केवलज्ञान ही है।

द्रव्य, गुण, पर्यायों से एकता, जिसमें इन तीनों का शुद्धिकरण हो गया, वह बन गया पूर्ण शुद्धात्मा लेकिन इस काल के कारण पूर्ण केवलज्ञान नहीं हो पाता। मुझे ही 356 डिग्री पर आकर रुक गया है न!

बुद्धि जड़ है या चेतन?

सभी धर्म वालों ने बुद्धि को जड़ कहा है और जैन धर्म ने

चेतन कहा है। ऐसा कभी सुना है? जैन धर्म ने भी बुद्धि को चेतन कहा है, ऐसा?

प्रश्नकर्ता : बुद्धि को मतिज्ञान में रख दिया है न?

दादाश्री : वह ज्ञान में हो ही नहीं सकती न!

प्रश्नकर्ता : मतिज्ञान रूपी कह सकते हैं?

दादाश्री : बुद्धि अर्थात् अहंकारी ज्ञान और आत्मा के (विभाविक) जो पर्याय हैं, वह अहंकारी ज्ञान है।

प्रश्नकर्ता : आत्मा के जो विभाविक पर्याय हैं, वह क्या अहंकारी ज्ञान है?

दादाश्री : हाँ। और स्वाभाविक पर्याय भी अलग चीज़ है, बहुत गहरी बात है। अभी बात नहीं करनी चाहिए। यहाँ से दूसरे लोग इस बात को जानेंगे और इसका कुछ न कुछ मतलब निकालेंगे। शास्त्रकारों ने कहा है '*प्रकाश साधनोने निरुचार्या, ज्ञान-दर्शन पर्याये*'। दादा ने पर्यायों के लिए मना किया है, क्या बात है? इसलिए ऐसी बात नहीं करते हैं। फिर लोग बात को ही ले जाएँगे न! कोई कह उठेगा न! ऐसी कितनी ही बातें हम नहीं देते, ऐसी जो दुनिया के लिए नुकसानदायी हैं। वह सिर्फ हमें अकेले को ही समझना है और पुस्तकों में, जैन शास्त्रों में देखोगे तब पता चलेगा कि वेदांत उसे (बुद्धि को) जड़ कहते हैं, फलाना उसे जड़ कहता है लेकिन जैन शास्त्र उसे चेतन कहते हैं।

प्रश्नकर्ता : तो दादा, हम जिसे निश्चेतन चेतन कहते हैं, वही चेतन है न?

दादाश्री : हाँ, वही निश्चेतन चेतन है।

जिसे निश्चय चेतन कहते हैं, वह नहीं। निश्चेतन चेतन कहते हैं न! वह तो जब हम आत्मा में रहेंगे तब, वह तो ज्ञान में आएगा। निश्चय की दखल नहीं है। निश्चय में दखल नहीं है। अगर निश्चय चेतन कहेंगे तो निश्चय-बुद्धि कहलाएगी, लेकिन ऐसा नहीं है।

शुद्ध ज्ञान दशा में देखा शुद्ध ही

ऐसा समझना है कि ये पर्याय विनाशी हैं और ज्ञान अविनाशी है। पर्याय विनाशी चीज़ों को (विनाशी रूप में) नहीं देख सकते। (विनाशी संबंध को सही मानते हैं, नित्य मानते हैं।) जब विनाशी को 'विनाशी है', ऐसा देखने की शक्ति आ जाती है तब वह ज्ञान कहलाता है। बाकी तो जो है उसे उसी रूप में देखता है, *पुद्गल* को देखता है। अन्य कुछ नहीं है। *पुद्गल* अर्थात् विकृत परमाणु।

प्रश्नकर्ता : *पुद्गल* (विकृत परमाणु) के रूप में देखता है, यानी विनाशी रूप में देखता है, इसी प्रकार से हुआ न?

दादाश्री : हाँ, इसी प्रकार से।

प्रश्नकर्ता : लेकिन क्या ऐसा है कि उसमें विशेषता की तरह नहीं होता, सामान्य भाव से होता है?

दादाश्री : मूल तो शुद्धात्मा है, उसे ऐसा कुछ देखने की पड़ी नहीं है न! केवलज्ञान ही है और वह अविनाशी है। और इसलिए कहते हैं कि जगत् निर्दोष है, वह हमारा शुद्ध दर्शन है। वह शुद्ध ज्ञान में आना चाहिए।

प्रश्नकर्ता : और जब शुद्ध ज्ञान में आता है तब क्या होता है?

दादाश्री : सर्वज्ञ! फिर कोई दावा करने का रहा ही नहीं न!

प्रश्नकर्ता : और जब शुद्ध ज्ञान में ऐसा आता है कि 'जगत् निर्दोष है', तब ये जो ज्ञेय और दृश्य हैं, वे उसे कैसे दिखाई देते हैं?

दादाश्री : वह सब तो शुद्ध ही दिखाई देता है उसे। यह तो पर्याय-बुद्धि की वजह से ऐसा दिखाई देता है और फिर शुद्ध ही है न!

शुद्धता प्राप्त करवाए पूर्णता

प्रश्नकर्ता : हम ऐसा कहते हैं कि द्रव्य से मैं संपूर्ण शुद्ध हूँ, सर्वांग शुद्ध हूँ। ज्ञान-दर्शनादि गुणों से 'मैं' संपूर्ण शुद्ध हूँ, सर्वांग

शुद्ध हूँ और पर्याय से भी यानी कि ज्ञेयों को जानने में परिणामित अवस्था... तो उन ज्ञेयों यानी पर्यायों से भी हम संपूर्ण शुद्ध हैं, सर्वांग शुद्ध हैं ?

दादाश्री : शुद्ध ही हैं, पर्यायों से।

प्रश्नकर्ता : पर्यायों से भी शुद्ध हैं, ऐसा कहते हैं और पर्यायों को शुद्ध करना बाकी भी है। ये दोनों किस प्रकार से ?

दादाश्री : पर्याय शुद्ध कब तक हैं ? उसके (विभाविक आत्मा, विभाविक 'मैं' के) शुद्ध होने तक (विभाविक) पर्याय रहते हैं। फिर विभाविक पर्याय रहते ही नहीं लेकिन स्वाभाविक पर्याय तो रहते ही हैं।

प्रश्नकर्ता : तो क्या 'खुद' के शुद्ध होने तक (विभाविक) पर्याय रहते हैं ?

दादाश्री : हाँ! उसके बाद तो ज्ञान ही रहता है।

प्रश्नकर्ता : और यदि पर्याय शुद्ध हो जाएँ तो 'खुद' ज्ञान स्वरूप हो जाएगा ?

दादाश्री : जब तक एक भी पर्याय बाकी रहता है तब तक केवलज्ञान नहीं हो सकता।

आत्मा अर्थात् 'ज्ञान-दर्शन व पर्याय'। ज्ञान-दर्शन व पर्याय अर्थात् आत्मा। द्रव्य के रूप में वह आत्मा ही कहलाता है और दूसरा वह, जिसे सांसारिक आत्मा कहा है। किसे ? क्योंकि मूल आत्मा में (विभाविक) पर्याय होते ही नहीं हैं न! सिर्फ स्वाभाविक पर्याय ही होते हैं।

प्रश्नकर्ता : हाँ, दरअसल आत्मा में (विभाविक) पर्याय होते ही नहीं हैं।

दादाश्री : जो अविनाशी है, उसमें विनाशी है ही नहीं। सिर्फ स्वाभाविक (पर्याय) होते हैं।

प्रश्नकर्ता : अर्थात् इन सब ने जो बात की है, वह आत्मा के इन

पर्यायों की ही बात की है। दरअसल आत्मा की किसी ने बात ही नहीं की है न दादा?

दादाश्री : और करेंगे भी कैसे? समझ में नहीं आ सकता न यह। ये बड़े-बड़े ज्ञानी एक अक्षर भी नहीं समझ सके हैं।

लोगों को ऐसे विचार ही नहीं आते कि आत्मा परमानेन्ट है और ज्ञान भी परमानेन्ट है और उसके पर्याय...

प्रश्नकर्ता : पर्याय विनाशी हैं।

दादाश्री : इसलिए फिर कहा है कि आत्मा ज्ञान-दर्शन पर्याय स्वरूप है, शुद्ध है, गलत नहीं कहा है। जब तक सभी (विभाविक) पर्याय संपूर्ण रूप से शुद्ध नहीं हो जाते, तभी तक पर्याय हैं। उसके बाद पर्याय चले जाते हैं। जब हमारे पर्याय पूर्ण हो जाएँगे तब सिर्फ ज्ञान में ही! केवलज्ञान! बस! (विभाविक) पर्याय नहीं, सिर्फ केवल अर्थात् अन्य कुछ भी नहीं।

प्रश्नकर्ता : ज्ञान के अलावा और कुछ भी नहीं।

दादाश्री : अर्थात् ये पर्याय संसार के संदर्भ में दिए गए हैं, समझ में आया न?

प्रश्नकर्ता : सांसारिक आत्मा के संदर्भ में, ऐसा?

दादाश्री : उसेक बाद पर्यायों की ज़रूरत ही नहीं हैं न! पर्याय यहीं पर हैं। केवलज्ञान के (विभाविक) पर्याय नहीं होते। बुद्धि खत्म हो जाए तो पर्याय खत्म हो जाते हैं। 'हम' जो ऐसा कहते हैं न कि हमारी बुद्धि खत्म हो चुकी है, वैसा पूर्ण रूप से नहीं है। लोगों को समझाने के लिए ही ऐसा कहते हैं। कोई अगर बुद्धि का रौब रखता हो न, तो उसका रौब उतारने के लिए। बाकी हम में जो चार डिग्री हैं न, उतने पर्याय अशुद्ध हैं, इसीलिए यह दशा है।

प्रश्नकर्ता : तो क्या उन पर्यायों के शुद्ध होने के बाद मन रहता है? वाणी और शरीर रहता है? शरीर तो रहता है न?

दादाश्री : वह तो खुद के स्वभाव में है, वह अलग चीज़ है। अंदर जो मूल आत्मा है, वह पर्यायों को नहीं समझता। जब तक देह है, तभी तक वह जीवित रहता है। लेकिन 'वह' जो केवलज्ञान स्वरूप में है न, नो टच (कोई स्पर्श नहीं) जबकि यह (अज्ञान दशा में) सौ प्रतिशत टच (स्पर्श)। वह (केवलज्ञान दशा में) नो टच।

प्रश्नकर्ता : तो नो टच स्थिति में यह जो *पुद्गल* (जो पूरण और गलन होता है) बाकी है, उस *पुद्गल* के पर्यायों को तो देखता है न?

दादाश्री : केवलज्ञान तो सबकुछ देखता है लेकिन राग-द्वेष नहीं होते। उन्हें वीतरागता से देखता है, वहाँ सिर्फ ज्ञान ही है, अन्य कुछ नहीं है। और मैं समझ जाता हूँ कि शुद्ध ज्ञान है। आपको शुद्धात्मा दिया है इसलिए आपका शुद्ध तो हो गया, तो और क्या बाकी है? तो कहते हैं कि पर्याय हैं न, उनका शुद्ध होना बाकी हैं!

प्रश्नकर्ता : मूल आत्मा, वह तो शुद्ध ही है ऐसा कहा है, तो पर्याय किसके बिगड़े हैं? पर्याय किसके अशुद्ध हैं?

दादाश्री : अशुद्ध पर्याय तो, जहाँ पर 'उसकी' मान्यता अशुद्ध हुई (फर्स्ट लेवल का विभाव, मैं), प्रतिष्ठित हुआ, समझो तभी अशुद्ध हो गया। अशुद्ध पर्यायों को ऐसा मानता है कि 'यह मैं हूँ', वही 'उसके' पर्याय हैं। जब केवलज्ञान नहीं होता तब तक यह सांसारिक आत्मा पर्याय स्वरूप है।

प्रश्नकर्ता : जब तक केवलज्ञान नहीं हो जाता तब तक 'खुद' पर्याय स्वरूप है?

दादाश्री : हाँ! ज्ञान-दर्शन पर्याय, दोनों ही।

प्रश्नकर्ता : लेकिन इसमें शुद्ध और अशुद्ध, इन दोनों का विवरण किस प्रकार से किया जा सकता है? यानी कि शुद्ध पर्याय स्वरूप हो गया या अशुद्ध पर्याय स्वरूप रहा, इन दोनों का विवरण किस प्रकार से किया जा सकता है?

दादाश्री : कषाय और अकषाय।

प्रश्नकर्ता : क्या अकषाय स्थिति में भी वह पर्याय स्वरूप हो सकता है?

दादाश्री : नहीं।

प्रश्नकर्ता : तो फिर अकषाय स्थिति में ज्ञान स्वरूप हो जाता है?

दादाश्री : केवलज्ञान स्वरूप!

प्रश्नकर्ता : तो तब वह पर्याय स्वरूप नहीं रहा, ऐसा कहा जाएगा?

दादाश्री : हाँ।

प्रश्नकर्ता : ये सारे कषाय वाली स्थिति में से अकषाय स्थिति तक पहुँचते हुए बीच के फेज़िज़ हैं।

दादाश्री : फेज़िज़ हैं।

प्रश्नकर्ता : तो कुछ अंशों तक ज्ञान स्वरूप हो गया है, कुछ अंशों तक ज्ञान स्वरूप नहीं हुआ है और तब तक पर्याय स्वरूप ही रहा है।

दादाश्री : तब तक पर्याय।

प्रश्नकर्ता : तो तब तक वे बिलीफें तो हैं उसके पास स्टॉक में?

दादाश्री : तब तक जितने पर्याय शुद्ध हो गए हैं, उतना उसका उपादान माना जाता है। उपादान!

प्रश्नकर्ता : तो उस समय पर्याय उतने ही शुद्ध हो चुके होते हैं?

दादाश्री : जितना शुद्ध हुआ, उतना उपादान कहलाता है, अपने ज्ञान के आधार पर। क्रमिक ज्ञान में उपादान को अलग तरह से समझाते हैं। अपने यहाँ पर तो जैसा है वैसा कह देते हैं न! जब तक केवलज्ञान नहीं हो जाए तब तक उपादान। आत्मा से शुद्ध, ज्ञान से शुद्ध और पर्याय से उपादान।

प्रश्नकर्ता : और फिर उसका शुद्धत्व कैसे उत्पन्न होता रहेगा? जितनी जागृति बढ़ती जाएगी, उतनी ही पर्यायों की शुद्धि होगी?

दादाश्री : जितनी वीतरागता, उतना ही नया कर्म नहीं बंधेगा और उपादान उतना ही वीतराग रहेगा। उतने ही पर्याय (शुद्ध) होंगे।

प्रश्नकर्ता : शुद्धत्व अर्थात् उसमें इस प्रकार से बीच में पुरुषार्थ रहा हुआ है?

दादाश्री : वीतरागता ही पुरुषार्थ है, वर्ना यदि राग-द्वेष होते हैं तो उसी को ऐसा कहते हैं कि 'कर्म बाँध रहा है'।

सिद्धात्मा के भी पर्याय हैं

प्रश्नकर्ता : (अपने ज्ञान लिए हुए) महात्मा को क्या पर्यायों का अनुभव होता रहता है?

दादाश्री : सभी अनुभव होते हैं। गुणों का ऐसा अनुभव होता है और आनंद होता है। सब होता है, ज्ञान समझ में आता है।

प्रश्नकर्ता : फिर, क्या सिद्ध भगवानों में द्रव्य, गुण और पर्याय होते हैं?

दादाश्री : सभी में होते हैं।

प्रश्नकर्ता : लेकिन उनके सभी पर्याय, शुद्ध पर्याय होते हैं यानी कि सिर्फ देखना और जानना।

दादाश्री : बस! उनका पर्याय शुद्ध है और यहाँ पर 'ये' पर्याय अशुद्ध हो चुके हैं, मिलावट वाले होते हैं।

प्रश्नकर्ता : मैं तो ऐसा समझा था कि सिद्ध क्षेत्र में तो शुद्धात्मा स्थिर हो जाता है इसलिए उसमें अन्य कुछ नहीं रहता, पर्याय-वर्याय जैसा कुछ रहता ही नहीं है। मुझे तो ऐसा ध्यान था।

दादाश्री : नहीं! तब तो फिर वह वस्तु ही नहीं कहलाएगी न! ऐसा नहीं है। उनमें पर्याय होते हैं। अभी भी सिद्ध लोगों के (सिद्धों के) पर्याय हैं। वे पर्याय अनंत ज्ञेयों को जानने में हैं। सिद्धों को भी निरंतर अवस्थाएँ देखनी होती हैं, वहाँ पर सोना नहीं होता।

जड़ के जड़-पर्याय होते हैं, *पुद्गल* के *पुद्गल*-पर्याय होते हैं और चेतन के चेतन-पर्याय होते हैं, सभी पर्याय वाले होते हैं। 'हमने' अनार का पेड़ देखा है। यह तो समझो कि ऐसी चीज़ है जो दृष्टि से देखी जा सकती है, लेकिन अनार का पेड़ किस तरह से उत्पन्न हुआ, उसका मूल द्रव्य क्या है? किसमें से उत्पन्न हुआ? किस प्रकार से उत्पन्न हुआ? इन सब को यदि देखा जा सके तो वह भी आत्मा का गुण नहीं है। ज्ञान प्रकाश नामक कोई गुण नहीं है लेकिन आत्मा का पर्याय है, ज्ञान पर्याय। अत: (विभाविक) पर्याय के बिना बाहर नहीं देख सकता, उसके जो गुण है, वे द्रव्य को नहीं छोड़ते। ऐसी सहचारिता है। जो द्रव्य के साथ रहते हैं, वे गुण हैं। पर्याय परिणामी हैं।

पर्याय विनाशी हैं। एक आम को देखा और देखने के बाद फिर दूसरे आम को देखा। एक का विनाश हुआ, एक का उत्पाद हुआ। कुछ समय तक ध्रुव भाग रहा और उसके बाद तीसरे आम को देखा।*

अवस्था है आत्मा की और नकल करता है पुद्गल

प्रश्नकर्ता : लेकिन दादा, ये जो सभी अवस्थाएँ हैं, वे तो चेतन और जड़, दोनों के इकट्ठे होने से हैं न?

दादाश्री : नहीं! जब अवस्थाएँ निरंतर रहती हैं तभी चेतन कहलाता है न! अवस्थाएँ निरंतर रहेंगी ही।

प्रश्नकर्ता : यदि चेतन और जड़ इकट्ठे न हों तो अवस्था नहीं बनेंगी न?

दादाश्री : नहीं-नहीं! फिर भी बनेंगी। ऐसा नहीं है कि अवस्थाएँ जड़ से मिलने की वजह से बनती हैं, वह तो उसका स्वभाव है। ये जो अवस्थाएँ दिखाई देती हैं, वे *पुद्गल* की हैं। आपने जिन अवस्थाओं की बात की है, वे *पुद्गल* की हैं। वह अवस्था अलग है, 'उसकी' अवस्था आत्म अवस्था होती है और *पुद्गल* की यह *पुद्गल* अवस्था! 'आपकी' अवस्था आत्म अवस्था है, उसके बजाय 'आप' *पुद्गल* की अवस्था को खुद की अवस्था मानते हो। आत्मा की अवस्था बदलती रहती है। वह

---
*आप्तवाणी-३, पेज नं.-५९ से ६७- आत्मा- द्रव्य-गुण-पर्याय के बारे में विशेष विवरण।

आत्मा के रूप में, उसकी बाउन्ड्री में बदलती रहती हैं, उसी के आधार पर यह *पुद्गल* नकल करता है। इस *पुद्गल* की अवस्था बदलती रहती है, जिसे हम ऐसा मान लेते हैं कि 'यह मैं हूँ'। यह मान्यता छूट जाएगी तो फिर कोई परेशानी नहीं रहेगी।

प्रश्नकर्ता : तो जैसे-जैसे आत्मा की अवस्था बदलती है, यह *पुद्गल* वैसी ही नकल करता है?

दादाश्री : हाँ! पास में, एकदम नज़दीक आ जाने की वजह से।

प्रश्नकर्ता : सामीप्य भाव कहा है। फिर भी दोनों के क्षेत्र अलग ही रहे हैं?

दादाश्री : फिर क्षेत्र अलग हैं।

प्रश्नकर्ता : *पुद्गल* की अवस्थाएँ, ये जो चौरासी लाख योनियाँ कही हैं, वे?

दादाश्री : हं।

प्रश्नकर्ता : तो फिर आत्मा की अवस्था यानी क्या?

दादाश्री : आत्मा, *पुद्गल* को देखता है इसलिए उसकी अवस्था भी वही हो जाती है। फिर भी वह अपने खुद के स्वभाव में है।

प्रश्नकर्ता : तो वह बदलता कैसे है, दादा?

दादाश्री : उसकी सिर्फ मान्यता ही बदलती है। जब *पुद्गल* की अवस्था बदलती है, तब उसे हम ऐसा मानते हैं कि 'यह मैं बदल रहा हूँ', और वैसा ही बन जाता है। इसलिए कहा है कि जिसे समकित होता है, उसकी दृष्टि सही हो जाती है इसलिए यह सब तुरंत चला जाता है।

प्रश्नकर्ता : क्या आत्मा की अवस्था के अनुसार *पुद्गल* उसकी नकल करता है?

दादाश्री : 'नकल करता है', ऐसा तो आपको कहने के लिए, समझाने के लिए है।

प्रश्नकर्ता : इस *पुद्गल* की अवस्थाएँ चेतन के निमित्त की वजह से बदलती हैं या फिर ऐसा कुछ नहीं है?

दादाश्री : सब निमित्त हैं ही। निमित्त पर ही पूरा निर्भर है। चेतन नज़दीक आया है, वह निमित्त की वजह से होता रहता है।

प्रश्नकर्ता : तो पहले चेतन में अवस्था बदलती है?

दादाश्री : अवस्था बदलती ही नहीं है और सब अपने स्वभाव में होते हैं। सिर्फ दो का संयोग, सामीप्यभाव होने से ये व्यतिरेक गुण (विभाव) अपने आप ही उत्पन्न हो जाते हैं और व्यतिरेक गुण होने के कारण *पुद्गल* की अवस्था बदलती रहती है।

आत्मा के पर्याय, चेतन के चेतन पर्याय होते हैं और जड़ के जड़ पर्याय होते हैं, दोनों के पर्याय अलग-अलग होते हैं। लोग ये सभी बातें करते हैं लेकिन तोते के राम-राम जैसी।

रोज़-रोज़ मुंबई की खबर पूछते हैं लेकिन जब तक मुंबई नहीं देखा है तब तक मूल बात को समझ नहीं पाएगा। रोज़-रोज़ पूछता रहता है कि भूलेश्वर क्या इधर से जाते हैं? कौन से मार्ग से जाते हैं?

प्रश्नकर्ता : लेकिन क्या उससे हेल्प होती है?

दादाश्री : उससे हेल्प तो होती है, लेकिन उससे संतुष्टि नहीं होती।

प्रश्नकर्ता : दादा! क्या ऐसे करते-करते एक दिन मुंबई पहुँच जाएँगे?

दादाश्री : हाँ! ऐसा हो जाएगा।

प्रश्नकर्ता : जहाँ पर खड़ा है, वह मुंबई नहीं है, उसका विश्वास है न?

दादाश्री : हाँ! उसका विश्वास है।

प्रश्नकर्ता : तब फिर मुंबई की तरफ चलना जारी रखेगा न!

दादाश्री : हाँ! फिर उसे मुंबई दिखने लगता है, मुंबई थोड़ा-थोड़ा दिखने लगता है।

भ्रांत भाव और पौद्गलिक भाव

प्रश्नकर्ता : तो इस अहंकार और आत्मा को, दोनों को अनादि तत्त्व समझना है न?

दादाश्री : अनादि तत्त्व नहीं हैं।

प्रश्नकर्ता : क्योंकि अनादि से ही कार्य कारण फल है न?

दादाश्री : नहीं! वह तो ऐसा लगता है। वह सनातन में नहीं आता है। रिलेटिव में आता है।

प्रश्नकर्ता : परिवर्तनशील में?

दादाश्री : नहीं! रिलेटिव में।

प्रश्नकर्ता : उसके इंग्लिश शब्द का अर्थ यह नहीं होता।

दादाश्री : रिलेटिव अर्थात् विनाशी।

प्रश्नकर्ता : दादा! विनाश तो किसी भी चीज़ का नहीं होता, सबकुछ परिवर्तित होता है।

दादाश्री : हाँ, परिवर्तित लेकिन पर्याय विनाशी होते हैं और सनातन वस्तुएँ जो हैं, वे सनातन हैं। उन्हें कोई कुछ नहीं कर सकता। ऑल दीज़ रिलेटिव्स आर टेम्परेरी एडजस्टमेन्ट्स एन्ड यू आर परमानेन्ट। दोनों का मेल कैसे होगा?

प्रश्नकर्ता : दादा आपने कहा था कि 'यह अहंकार आत्मा के पर्याय के रूप में उत्पन्न हुआ है और आत्मा फँस गया', तो, अहंकार तो पौद्गलिक भाग कहलाएगा न?

दादाश्री : पहले भ्रांत भाव (विभाविक दशा) कहलाता है और बाद में पौद्गलिक भाव हो जाता है।

प्रश्नकर्ता : लेकिन दादा, क्या शुद्धात्मा को भ्रांति हुई? भ्रांत भाव किसे होता है?

दादाश्री : शुद्धात्मा के पर्यायों पर, अवस्थाओं पर दबाव आता है अगर अभी तुझ पर दबाव आए तो तेरा दिमाग़ बिगड़ जाएगा या नहीं बिगड़ेगा ?

प्रश्नकर्ता : बिगड़ जाएगा।

दादाश्री : उसी तरह !

ज़रूरत, पर्याय की या पाँच आज्ञा की ?

इन भाई साहब को पर्याय समझ में नहीं आया तो उससे क्या वह मोक्ष में नहीं जा पाएँगे ?

प्रश्नकर्ता : अवश्य जाएँगे।

दादाश्री : तो कहते हैं, 'मोक्ष में नहीं जा पाएँगे', ऐसा नहीं होगा। क्योंकि ज्ञानी पुरुष के आश्रय में जाना है न ! जानने जाएगा तो बल्कि बिगड़ जाएगा। उसके बजाय अनजान रहना ही अच्छा। यह तो, इतना भी समझ में आया है। वे जो वाक्य रखे हैं न (चरणविधि के ज्ञान वाक्य), उन वाक्यों के आधार पर समझ में आया है।

पूछना चाहिए, ज़रा सोचने के लिए।

प्रश्नकर्ता : अचेतन पर्यायों का क्या असर होता है ?

दादाश्री : असर तो दो प्रकार से होता है। अचेतन पर्याय ज्ञानी पर कोई भी असर नहीं डाल सकते और अज्ञानी पर असर डालते हैं।

प्रश्नकर्ता : अज्ञानी को कर्म बंधन करवाते हैं ?

दादाश्री : हाँ ! कर्म बंधवाते हैं, यह जगत् उसी से चल रहा है न ! अचेतन पर्यायों से ही चल रहा है न।

समुद्र जैसी अगाध चीज़ है यह तो। आपको तो थोड़े में दे दिया है। निबेड़ा लाना है जल्दी। बाकी ये जो समरंभ, समारंभ और आरंभ समझ में आ जाते हैं, वह स्थूल भाषा है। यह तो सूक्ष्मातिसूक्ष्म, बहुत सूक्ष्म है !

प्रश्नकर्ता : शब्द में नहीं समा सकता, ऐसा नहीं है। शब्दों से यह जानने का प्रयत्न कर रहे हैं।

दादाश्री : पर्याय शब्द का उपयोग तो इस संसार में होता है। शब्द का उपयोग इस तरह नहीं करना चाहिए लेकिन लोग तो इसे ले बैठे हैं। पर्याय शब्द सिर्फ सत् वस्तु पर, अविनाशी वस्तु पर ही लागू होता है। अन्य किसी भी जगह पर पर्याय लागू नहीं होता। फिर भी आपके इस साइन्स की भाषा में जो पर्याय कहते हैं न!

शब्दों में बोलते हैं उतना ही, बाकी वहाँ तक पहुँचना बहुत मुश्किल है। इसे समझकर ज़रूर रखना है, पर्याय में तो उतरने जैसा नहीं है। बहुत सूक्ष्म बात है। समझ रखा होगा तो कभी ऐसा लगेगा कि हम इसे समझे हैं। बाकी, यह दर्शन में नहीं आ सकता।

प्रश्नकर्ता : यह तो मैं यों ही पूछ रहा हूँ, इसका अन्य कोई प्रयोजन नहीं है।

दादाश्री : नहीं, उसमें हर्ज नहीं है लेकिन दर्शन में भी नहीं आ सकता, चाहे उसे मैं कितना भी समझाने जाऊँ।

प्रश्नकर्ता : हाँ! वह बात ठीक है। सही है।

दादाश्री : जब हम उसे मोटा कातते हैं न, तो वह स्पिनिंग (कातना) मिल कहलाता है। फिर वीविंग (बुनना) का बाद में देख लेंगे। पर्याय बहुत बड़ी चीज़ है। साधु-सन्यासी, आचार्यों को, किसी को समझ में नहीं आता। यह जगत् *पुद्गल* के पर्यायों में ही उलझा हुआ है। जो दिखाई देते हैं, वे सभी *पुद्गल* के पर्याय हैं, मोटा कातना अच्छा है। हमें बहुत बारीक नहीं कातना है। हम तो यदि इन पाँच आज्ञाओं में रहें न, तो बहुत हो गया। इन वीतरागों के विज्ञान की थाह पाना मुश्किल है। बहुत अद्भुत विज्ञान है! हमें इसकी थाह पाने की क्या जल्दी है अभी! एक जन्म-दो जन्म हो जाएँगे, उसके बाद आगे कभी न कभी थाह मिलनी ही है? कभी न कभी इसे जाने बिना चारा ही नहीं रहेगा न! अभी के अभी तो समझ में नहीं आ सकता न! कैसे समझ में आएगा?

समझ में आ सकता है? समझना मुश्किल चीज़ है। और यह समारंभ तो आपको समझ में आ सकता है लेकिन ये पर्याय समझ में नहीं आ सकते।

इस चेतन के पर्याय चेतन ही होते हैं। चाहे कोई भी, कोई अज्ञानी हो, तो उसके भी चेतन के पर्याय चेतन ही होते हैं और अचेतन के पर्याय अचेतन ही होते हैं।

देखो न, हमने पता लगाया है न! चेतन के पर्याय तक पहुँचना है न! बाहर भी कितने ही लोग यह बात करते हैं न!

हमें, 'द्रव्य, गुण, पर्याय से शुद्ध हैं', ऐसा बोलना है। बाकी, द्रव्य भी समझ में नहीं आ सकता, गुण भी समझ में नहीं आ सकता और पर्याय भी समझ में नहीं आ सकता। यदि वह समझ में आ जाए तो केवलज्ञान स्वरूप में आ जाएगा!

[३]

अवस्था के उदय व अस्त

पर्याय की परिभाषा

आत्मा सत् है, सत् का मतलब यही है कि वह खुद वस्तु रूपी है, गुण रूपी है, उसके पर्याय हैं और खुद स्वतंत्र है।

प्रश्नकर्ता : दादा, इसमें उन शब्दों का उपयोग किया, निरंतर परिवर्तन अर्थात् अंत रहित?

दादाश्री : रुकता नहीं है, निरंतर। समसरण अर्थात् निरंतर परिवर्तन, एक क्षण के लिए भी नहीं रुकता। वह उत्पाद, व्यय, ध्रुव... एक अवस्था उत्पन्न होती है, एक का विनाश होना और दूसरी अवस्था का उत्पन्न होना। यों अवस्थाएँ उत्पन्न होती रहती हैं।

अब, आत्मा की सभी अवस्थाएँ विनाशी हैं, उन्हें पर्याय कहा जाता है। पर्याय का मतलब क्या है? यह जो सूर्य है न, उसके अंदर प्रकाश है। प्रकाश उसका स्वभाव है। अब वह प्रकाश, तो यहाँ पर वह सब क्या दिखाई देता है? किरणें! वे पर्याय हैं। पर्याय निरंतर बदलते ही रहते हैं और प्रकाश वही रहता है। आत्मा के पर्याय उसके खुद के प्रदेश में रहकर बदलते रहते हैं लेकिन पर्यायों पर किसी चीज़ का असर नहीं होता। अभी (स्वाभाविक) आत्मा अंदर टंकोत्कीर्ण है। वैसे के वैसा ही है, स्वच्छ ही है।

कर्मरज चिपकते हैं भ्रांतिरस से

पुद्गल (जो पूरण और गलन होता है) की अवस्था है, आत्मा की अवस्था है। दोनों ही अवस्थाओं को मिलाकर फिर वह 'खुद' झंझट

करता है। यदि इस जगत् में अवस्थाएँ नहीं होतीं तो तत्त्व भी नहीं होते। आत्मा का स्वतंत्र चेतन तत्त्व और *पुद्गल* का रूपी तत्त्व, इन दोनों के मिलने से संसार खड़ा हुआ है और दुकान शुरू हुई। अवस्थाएँ होंगी तभी वह तत्त्व कहलाएगा वर्ना अतत्त्व कहलाएगा।

वस्तु नाशवंत होती ही नहीं है लेकिन जो दिखाई देती हैं, वे सभी अवस्तुएँ हैं। वे मिथ्या नहीं हैं, रिलेटिव स्वरूप हैं।

प्रश्नकर्ता : लेकिन यह जो कर्म की *वर्गणा* (कर्मरज) चिपकती है, वह पर्याय पर चिपकती है?

दादाश्री : नहीं, कुछ भी नहीं चिपकता। जो कर्म है, उसे तो *पुद्गल* कहा जाता है। जो चिपकता है उसे, दखल करना कहा जाता है।

प्रश्नकर्ता : इस कर्म की *वर्गणा* चिपकती है, उसी वजह से तो संसार का भ्रमण है न?

दादाश्री : हाँ, लेकिन वह आत्मा से नहीं चिपकती। पर्याय से भी नहीं चिपकती, गुण से या किसी से भी नहीं चिपकती।

प्रश्नकर्ता : आत्मा द्रव्य-गुण-पर्याय सहित है। अब आत्मा पर जो कर्मरज चिपकती है, उसकी प्रकिया किस प्रकार से है?

दादाश्री : वह उस पर नहीं चिपकती।

प्रश्नकर्ता : वह द्रव्य से नहीं चिपकती लेकिन पर्याय से तो चिपकती है न?

दादाश्री : नहीं! पर्याय से भी नहीं चिपकती। ये सारी मान्यताएँ ही उल्टी हैं। यदि वह पर्याय पर चिपकती न, तो फिर उखड़ती ही नहीं।

प्रश्नकर्ता : तो फिर कर्म का बंधन किस तरह से होता है?

दादाश्री : वही समझना है, उसी को आत्मज्ञान कहते हैं न! यह तो सब यों ही बुद्धि से सेट करते रहते हैं, पर्याय से चिपक गया और ऐसा हो गया और वैसा हो गया।

प्रश्नकर्ता : आत्मा के पर्याय पर तो कुछ भी नहीं चिपकता न, दादा?

दादाश्री : हाँ, उसके पर्याय को भी कुछ नहीं होता और इसके (जड़ के) पर्याय को भी कुछ नहीं होता।

यह तो चीज़ ही अलग है। ऐसा यदि समझ गए होते न, तब तो ये सभी मुक्त ही हो जाते न! इसे बुद्धि से तोलते रहे। इसमें तो क्या है कि नाम मात्र भी नहीं चिपका, नाम मात्र को भी कुछ नहीं हुआ है। चिपकता कितना है? जब भ्रांतिरस से कहता है कि 'यह मैंने किया', तब इन दो द्रव्यों के बीच में रस डलता है। 'मैंने किया का' भ्रांतिरस डलता है। उसी की वजह से चिपका हुआ है, बस! बाकी कुछ भी चिपका हुआ नहीं होता। आत्मद्रव्य और *पुद्‌गल* द्रव्य, 'मैंने किया और यह मेरा', इन दोनों में से भ्रांतिरस उत्पन्न होता है और भ्रांतिरस डलता है। जब 'मैंने नहीं किया और यह मेरा नहीं है', ऐसा होगा उस दिन से भ्रांतिरस नहीं डलेगा तो अलग हो जाएगा। अत: ज्ञानी पुरुष उस भ्रांतिरस को विलय कर देते हैं, उसके बाद द्रव्य अलग हो जाता है।

वस्तु अविनाशी और अवस्थाएँ विनाशी

अवस्थाओं का उदय हुआ तो उनका अस्त होगा ही। मूल वस्तु का उदय व अस्त नहीं होता। फेज़िज का उदय और अस्त होता है। मनुष्यपन का उदय होता है और वह अस्त होगा। भैंस का उदय होता है और भैंसपन का अस्त होगा ही। मनुष्यपन आत्मा का फेज़ है। गधा भी आत्मा का फेज़ है। चंद्र में बीज, तीज, पूनम, उसके फेज़िज हैं। गधा भी मनुष्य में से ही बनता है। गधे का एक गुण उसने डेवेलप किया ही होता है, इसीलिए उस गुण के संयोगी प्रमाणों के आधार पर गधा बनता है। मनुष्यपन में जो गुण अधिक डेवेलप होता है, उस डेवेलपमेन्ट के अनुसार जन्म होता ही है।

जीवमात्र अनंत जन्मों से भटक रहा है। वह अलग-अलग अवस्थाओं में भटका है। कुत्ता, गधा, गाय, घोड़ा, भैंस, बैल, मनुष्य,

स्त्री, पक्षी, इन सभी अवस्थाओं में भटका है। अवस्थाओं में से स्वस्थ होना है।

प्रश्नकर्ता : यदि एक पेड़ की डाली को काटकर दूसरी जगह पर रोपा जाए तो दूसरी जगह पर पेड़ बन जाता है। तो क्या एक आत्मा में से दो आत्मा बन जाते हैं?

दादाश्री : एक आलू में तो करोड़ों-करोड़ों आत्माएँ हैं, एक ही आलू में। नागफनी में तो बहुत सारे जीव हैं। नागफनी का तो इतना सा टुकड़ा दबाया जाए न, तो भी वह उग निकलता है।

प्रश्नकर्ता : दादा! तो ये आत्माएँ, जिनका बिगिनिंग और एन्ड नहीं है, लेकिन कुछ संख्या तो होगी ही न! क्या उस संख्या में कमी या बढ़ोतरी होती ही नहीं है?

दादाश्री : नहीं! इस दुनिया में जो कोई भी चीज़ है, आत्मा या परमाणु हैं, वे संख्या में कम-ज़्यादा नहीं होते।

प्रश्नकर्ता : बदलते रहते हैं, एक फॉर्म में से दूसरे फॉर्म में जाते रहते हैं?

दादाश्री : फॉर्म बदलते रहते हैं, (संख्या) कम-ज़्यादा नहीं होते। और आत्मा जो है, उसमें कम-ज़्यादा नहीं होता। परमाणु या किसी भी वस्तु में कमी या बढ़ोतरी नहीं होती। वह तो आपको ऐसा लगता है कि इसे जला दिया और ऐसा सब किया। वे सब अपने-अपने दूसरे फोर्मेशन बदलते हैं, अवस्थाएँ बदल जाती हैं।

प्रश्नकर्ता : अवस्था अर्थात् सिचुएशन।

दादाश्री : उसे फेज़िज़ कहा जाता है। वे अवस्थाएँ ही कम होती हैं, अन्य कुछ नहीं होता। वे जो परमाणु हैं, सभी वस्तुएँ वही की वही हैं। अन्य कोई परिवर्तन नहीं होता। अवस्था में रूपांतरण हो जाता है, फेज़िज बदलते रहते हैं।

जैसे कि यह पानी है न, उसे गरम करते हैं तो उसकी अवस्था

भाप वाली हो जाती है। उसके बाद भाप से फिर बादल बनते हैं और बादल में से वापस पानी बनता है। ये सभी अवस्थाएँ निरंतर विनाशी हैं लेकिन वस्तुस्थिति में कोई कमी या बढ़ोतरी नहीं होती। अनंत जन्मों से आप भी हैं और मैं भी हूँ लेकिन बहुत से जन्मों में पुरुष बने होंगे, बहुत जन्मों में स्त्री बने। कई जन्मों में चार पैर मिले, कई जन्मों में बारह पैर मिले। इस तरह भटकते, भटकते, भटकते, भटकते ही रहे हैं। अवस्थाएँ सब बदलती ही रहती हैं निरंतर लेकिन आत्मा स्वरूप से आप वही हो। अब उस आत्मा को, खुद को रियलाइज़ कर लें तो फिर उसमें से मुक्त हो जाएँगे वर्ना मुक्त नहीं हो सकेंगे।

फर्क, पंच महाभूत और छः सनातन द्रव्यों में...

प्रश्नकर्ता : हिन्दुओं में ऐसी बात कही गई है कि यह पूरा जगत् पाँच महाभूतों से बना हुआ है। भगवान महावीर ने छः तत्त्वों की बात की है। दोनों सही लगती हैं लेकिन दोनों में क्या अंतर है, वह पता नहीं चलता।

दादाश्री : पाँच तत्त्वों से यह जो बना है, वह अधूरी समझ है। पाँच तत्त्व अर्थात् महावीर भगवान के छः द्रव्य हैं, उनमें से दो द्रव्य आ गए।

प्रश्नकर्ता : तो ये पाँच महातत्त्व कौन से दो द्रव्यों से बने हैं?

दादाश्री : इन लोगों ने इस *पुद्गल* परमाणु द्रव्य के चार भाग कर दिए और पाँचवाँ, जो आकाश लिखा है, वह तो स्वतंत्र है। वह तो तत्त्व ही है, वास्तव में।

इन लोगों को आँखों से सिर्फ एक ही प्रकार की पैकिंग दिखाई देती है, सिर्फ अनात्मा ही। पैकिंग में तो पाँच वस्तुएँ भरी हुई हैं, पाँच तत्त्वों से बनी है। पैकिंग कौन से तत्त्वों की बनी है?

प्रश्नकर्ता : पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश - पंच महाभूत।

दादाश्री : पंच महाभूत तो विवरण है। इसमें पृथ्वी, पानी, तेज

और वायु, ये चारों मिलकर एक तत्त्व है। बोलो! इन सभी को तत्त्व कहेंगे तो भूल हो जाएगी या नहीं?

प्रश्नकर्ता : लेकिन आपने ये जो पाँच तत्त्व बताए हैं, अग्नि, पृथ्वी, वायु, तो वे भी मूलभूत रूप से तो एक शक्ति का ही स्वरूप हैं, ऐसा सिद्ध हुआ है।

दादाश्री : लेकिन यह अग्नि, पृथ्वी वगैरह वे सब तत्त्व हैं ही नहीं। ये तो बुद्धि के ही खेल हैं। दुनिया भी ऐसा कहती है कि ये पाँच तत्त्वों में समा गए, पाँच तत्त्व अलग हो गए लेकिन ये तत्त्व हैं ही नहीं न! अब अग्नि तो पानी डालते ही बुझ जाएगी, उसे तत्त्व कैसे कहेंगे? ये चार जो हैं न, एक ही तत्त्व के टुकड़े हैं। यानी इस तत्त्व में भूल हो जाती है लोगों से। इन चारों को तत्त्व माना और पाँचवाँ आकाश तत्त्व। और इन पाँचों को तत्त्व मान लिया। वह सब रोंग है।

जो शास्त्र यह सब बताते हैं, वे गलत नहीं हैं। आपको समझने में भूल हो रही है, उसमें शास्त्र बेचारा क्या करे? वे जो पृथ्वी, वायु, पानी, आकाश, तेज कहते हैं, वह अधूरी बात है। इन पाँच तत्त्वों से ही मनुष्य शरीर बनता है तो वह गलत सिद्ध होगा। यह चलता कैसे है? चलता है तो स्थिर कैसे होता है?

प्रश्नकर्ता : गुरुत्वाकर्षण से नहीं?

दादाश्री : गुरुत्वाकर्षण से बात समझ में नहीं आ सकती। जब उठते हैं, खिसकते हैं, घूमते हैं, फिरते हैं तो क्या वह गुरुत्वाकर्षण से होता है?

ऑक्सीजन नहीं है मूल तत्त्व

प्रश्नकर्ता : यह जो पानी है, हाइड्रोजन और ऑक्सीजन, इन दोनों को जब अलग करते हैं तब ऑक्सीजन वातावरण में चली जाती है। तो सभी साइन्टिस्टों ने खोज की है कि तब ऑक्सीजन कुछ कम हो जाती है। अब यह जो स्पेस है, उसमें ऑक्सीजन नहीं है, तो वह ऑक्सीजन कहाँ जाती है? यानी अपनी जो मान्यता है कि मूल तत्त्व में कमी या बढ़ोतरी नहीं होती है तो क्या उस मान्यता को गलत समझें?

दादाश्री : यह ऑक्सीजन मूल तत्त्व नहीं है। मूल तत्त्व तो परमानेन्ट होता है। मूल तत्त्व किसे कहते हैं? जो कम नहीं होता और बढ़ता नहीं है। कोई चेन्ज नहीं होता। ऑक्सीजन मूल तत्त्व नहीं है, हाइड्रोजन मूल तत्त्व नहीं है, पानी भी मूल तत्त्व नहीं है।

बाकी सब कम-ज़्यादा होता रहता है। मूल तत्त्व के अलावा प्रत्येक चीज़ कम-ज़्यादा होती रहती है, गुरु-लघु होती है और मूल तत्त्व अगुरु-लघु है।

पानी मूल तत्त्व की अवस्था है, तेज भी अवस्था है, वायु और पृथ्वी भी मूल तत्त्व की अवस्थाएँ हैं। एक ही तत्त्व की, जड़ तत्त्व की चार अवस्थाएँ हैं। यानी समझना तो पड़ेगा न! विज्ञान के सामने गप्प नहीं चलेगी। संसार इसे नहीं समझ सकता। समझने में बहुत देर लगेगी।

सही बात को समझेंगे तो हल आएगा, वर्ना 'मेरा सही है' ऐसा करने जाएँगे तो कभी भी हल नहीं आएगा। सामने वाले के आत्मा को स्वीकार होना चाहिए, वर्ना यह एक्सेप्ट करने जैसा है ही नहीं।

अहंकार में हैं चार तत्त्व...

प्रश्नकर्ता : पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश, इन पाँच तत्त्वों से कौन से गुण उत्पन्न होते हैं?

दादाश्री : यह पूरा शरीर पाँच तत्त्वों से बना है। पूरा ही शरीर। फिर मन, इगोइज़म वगैरह सभी कुछ, इन पाँच तत्त्वों से ही बना है।

यदि कोई पूछे कि यह इंसान ठंडा क्यों हो गया? तो कहते हैं कि अहंकार किससे बना है? वायु से, पानी से और मिट्टी से। वायु और पानी को विलय होने में देर ही कितनी लगती है? दस्त हो जाए तो भाग-दौड़ करके रख देता है। कहाँ गया आपका अहंकार? अर्थात् यह अहंकार किससे बना हुआ है, वह तो देखो। वायु से, पानी से, तेज से और मिट्टी से। विनाशी चीज़ों से बना हुआ अहंकार का विनाश हो जाता है न! और फिर वापस उस अहंकार में भी अविनाशी तत्त्व है। सभी तत्त्व तो उसमें मिले हुए ही हैं न, अविनाशी भी? आकाश भी

मिला हुआ है। गति सहायक, स्थिति सहायक, काल। सिर्फ चेतन मिला हुआ नहीं है। उसका सिर्फ प्रभाव है।

प्रश्नकर्ता : एक इन्द्रिय से पाँच इन्द्रिय, क्या सभी का *पुद्गल* पाँच वस्तुओं से बना हुआ है?

दादाश्री : पाँच तत्त्वों से। राई के दाने में भी पाँच तत्त्व हैं, बाकी सब जो हैं, गेहूँ, चावल, सभी में पाँच तत्त्व हैं। जब आप इसे सुखाते हो तो वह आकाश तत्त्व चला जाता है इसलिए फिर वह टिकता है। कुछ भाग चला जाता है और ज़रा सा रहता है। पानी में भी अन्य पाँच तत्त्व हैं।

प्रश्नकर्ता : कौन-कौन से हैं, दादाजी? उनका अनुपात कितना-कितना होता है?

दादाश्री : पानी में पचास प्रतिशत पानी होता है और दूसरे पचास प्रतिशत में बाकी के सब तत्त्व हैं।

प्रश्नकर्ता : उसका क्या कारण है दादा?

दादाश्री : वह पानी है इसलिए। मुख्य रूप से पानी अधिक है, बाकी के दूसरे तत्त्व हैं।

प्रश्नकर्ता : हर एक में अलग-अलग होता है?

दादाश्री : अनाज में पृथ्वी होती है पचास प्रतिशत और बाकी के पचास प्रतिशत सब मिलाकर हैं।

प्रश्नकर्ता : और हम लोगों में?

दादाश्री : हम लोगों में भी ऐसा ही है। ज़रा कम-ज़्यादा हो सकता है। पचास प्रतिशत नहीं है। सभी एक सरीखे नहीं होते यानी कि कम-ज़्यादा होते हैं।

प्रश्नकर्ता : दादा, ये जो पाँच तत्त्व हैं न, इनमें यह जो ज़मीन है, जो स्थूल वस्तु रखी गई है, उसके पचास प्रतिशत रखे गए हैं। बाकी के चारों के साड़े बारह प्रतिशत। तेज, वायु, आकाश, अग्नि, ऐसा है?

दादाश्री : पचास प्रतिशत होगा तभी यह खड़ा रह सकेगा न! वर्ना खड़ा कैसे रह सकेगा? उसमें स्थूल ज़्यादा ही है।

इम्बैलेन्स पाँचों का मनुष्यों में

मनुष्यों में पाँच तत्त्वों का अनुपात बदल गया है। वह अबव नॉर्मल और बिलो नॉर्मल हो गया है।

प्रश्नकर्ता : क्या रोग होने का कारण इम्बैलेन्स (असंतुलन) है?

दादाश्री : वही कारण है।

प्रश्नकर्ता : और इम्बैलेन्स होने का कारण भोजन है? हम भोजन ही ऐसा लेते हैं इसलिए इम्बैलेन्स हो जाता है?

दादाश्री : कर्म के उदय के कारण कम-ज़्यादा भोजन लेते हैं, इससे उसे इम्बैलेन्स हो ही जाता है। फिर रोग होते हैं।

प्रश्नकर्ता : पंच महाभूत मुरदे को कहा जाता है या जीवित मनुष्य को? आत्मा सहित देह को पंच महाभूत कहा जाता है या *पुद्गल* (जो पूरण और गलन होता है) को पंच महाभूत कहा जाता है?

दादाश्री : दोनों को कहा जाता है। *पुद्गल* भी पंच महाभूत है, सिर्फ *पुद्गल* ही। फिर यदि वह मुरदा हो तब भी पंच महाभूत।

प्रश्नकर्ता : सिर्फ देह को ही पंच महाभूत कहते हैं या किसी को भी।

दादाश्री : इस देह को ही।

प्रश्नकर्ता : और बाकी इन सब को नहीं? यह (टेपरिकॉर्डर) भी *पुद्गल* में ही आता है न, इसे नहीं?

दादाश्री : मेरा कहना यह है कि टेपरिकॉर्डर में सब नहीं है, इसमें कुछ पंच महाभूत नहीं हैं और कुछ महाभूत हैं। लेकिन शरीर तो नियम से पंच महाभूतों से ही बना है। टेप में कुछ ही महाभूत हैं।

प्रश्नकर्ता : सभी तत्त्व रहते हैं?

दादाश्री : सभी।

प्रश्नकर्ता : वे जल जाते हैं?

दादाश्री : आत्मा निकल जाता है न, तो भी पंच महाभूतों वाला खोखा (शरीर) पड़ा रहता है।

प्रश्नकर्ता : तब फिर उसे जला देते हैं?

दादाश्री : जला देते हैं। सब पंच महाभूत चले जाते हैं, अलग-अलग हो जाते हैं। आकाश, आकाश में मिल जाता है, पृथ्वी, पृथ्वी में मिल जाती है, पानी, पानी में मिल जाता है। सबकुछ अलग हो जाता है।

प्रश्नकर्ता : यह जो शरीर है, वह पाँच तत्त्वों से बना है फिर भी इस एक ही तत्त्व को, अग्नि को ही क्यों समर्पित करना पड़ता है?

दादाश्री : आप मिट्टी में दबाओगे तो मिट्टी में भी हो जाएगा। पानी में डाल दोगे तो पानी में सड़ जाएगा, खराब हो जाएगा, लेकिन अग्नि जल्दी करती है इसलिए अग्नि में डालते हैं और हमें दिखाई देता है। वह देखते-देखते ही हो जाता है, तुरंत खत्म हो जाता है। अग्नि पाँचों ही तत्त्वों को अलग कर देती हैं। वर्ना मिट्टी में दबाने पर भी वह (पाँचों तत्त्व) अलग कर देती है और पानी में भी (पाँचों तत्त्व) अलग हो जाते हैं। अरे, वायु भी कर देती है। लेकिन ये तत्त्व दिखाई देते हैं इसमें। यह जो जलाना है, उसे हम तुरंत ही खत्म करके आ जाते हैं न! दूसरे दिन अस्थियाँ लेने जाते हैं।

अनंत काल से इसी में हाथ डालता रहा है। इसी मिट्टी में हाथ डालता रहा है, तो भी तू संतुष्ट नहीं होता? सोच तो सही, चार मिट्टी के इस दलदल में, कहाँ पर क्या पड़ा है, ढूँढ तो सही!

उसमें तो हैं असंख्य जीव

मात्र एक रूपी तत्त्व ही परमाणुओं से बना है। हवा, पानी, तेज,

सभी कुछ। ये जो अग्नि की लपटें उठती हैं न, जलती हैं न, वे लपटें सिर्फ लपटें नहीं हैं, वे सब जीव हैं। वे सब जीव, जो दिखाई देते हैं न, जो-जो भूरा और लाल दोनों साथ में हैं, वह भाग दिखाई देता है न, वहाँ पर सारे जीव होते हैं। लपटें यों ही नहीं निकलती। तेउकाय जीव हैं, उनका शरीर अग्नि रूपी है। इतना अधिक होट (गर्म), हीट वाला है कि हम जल जाते हैं।

वे सब जीव ही हैं। यह पूरी पृथ्वी निरे जीव ही हैं। वायु भी निरे जीव ही हैं। जीव का शरीर ही वायु है। उनकी बॉडी वायु है। पानी के जीवों की बॉडी पानी है, पृथ्वी के जीवों की बॉडी पृथ्वी है और अग्नि के जीवों की बॉडी तेज है।

प्रश्नकर्ता : अर्थात् इन सभी में जीव हैं?

दादाश्री : निरा जीवों से ही भरा हुआ है यह जगत्।

प्रश्नकर्ता : ऐसी कोई स्वतंत्र वस्तु नहीं है जो बिल्कुल अजीव हो, निर्जीव हो?

दादाश्री : है, वह सारा *पुद्गल* है। यह जीव एक ही तत्त्व है। भगवान महावीर के छः तत्त्व कहे गए हैं न, उन छः द्रव्यों में सिर्फ जीव ही एक द्रव्य है, अन्य पाँचों अजीव हैं और उनमें से यह रामलीला बन गई है। अकेले थे लेकिन लीला देखो, कितनी बड़ी हो गई है! इसी तरह आत्मा एक ही था, चेतन! और यह सब देखो, कितना सारा!

रूपांतरित करता है काल

आपने कभी भी जगत् को उत्पन्न होते हुए देखा है?

प्रश्नकर्ता : देखा नहीं है लेकिन फिर भी रूपांतरित होता रहता है न!

दादाश्री : रूपांतरण का अर्थ यही है उत्पन्न होना व लय होना, इस तरह रूपांतरित होता रहता है। वस्तु में कुछ उत्पन्न भी नहीं होता, लय भी नहीं होता और कुछ भी नहीं होता। अवस्थाओं का रूपांतरण होता रहता है।

प्रश्नकर्ता : उसमें आत्मा की शक्ति एक नैमित्तिक कारण है या नहीं?

दादाश्री : कुछ भी लेना-देना नहीं है, आत्मा को क्या लेना-देना?

प्रश्नकर्ता : इसमें आत्मा की क्या ज़रूरत पड़ती है?

दादाश्री : यह जो काल है, वह हर एक चीज़ को खा जाता है। काल हर एक चीज़ को पुरानी करता है और फिर हर एक को नई करता है। रूपांतरण में सबकुछ आ गया। रूपांतरण अर्थात् क्या? उत्पन्न होना, नाश होना और कुछ देर के लिए टिकना।

तत्त्व की उत्पत्ति नहीं है, उसके गुणों की उत्पत्ति नहीं है। जिस प्रकार से तत्त्व स्थिर रहता है, उसी प्रकार से गुण भी स्थिर रहते हैं, पर्याय बदलते रहते हैं।

ये संयोग-वियोग, ये हैं पर्याय

प्रश्नकर्ता : जैन दर्शन की त्रिपदी यह है, सत्ता के रूप में स्थिति, पर्याय से परिवर्तनशील और खुद के स्वभाव में से न हटना। इनमें से ये जो मुख्य रूप से, ये जो तीन बातों की चर्चा की ज़रूरत है। अब वे तीनों, एक-एक करके लीजिए आप।

दादाश्री : उत्पन्न होना, स्थिर होना और विनाश होना। स्थिर होना खुद के स्वभाव से है। उत्पन्न और विनाश पर्याय से हैं।

प्रश्नकर्ता : इतना आसान था! इतना आसान था, ऐसा कह रहा हूँ।

दादाश्री : हाँ, वह तो आसान था। खुद के स्वभाव में से न हटना, उसे कहते हैं ध्रुव रहना।

प्रश्नकर्ता : हम एक उदाहरण लें, पहले जड़ का और फिर चेतन का।

दादाश्री : आप खुद शुद्धात्मा हो, वह ध्रुव के तौर पर हो।

अत: आप अपने आपको जानते हो, 'मैं शाश्वत हूँ', लेकिन यहाँ पर जो अवस्थाएँ उत्पन्न होती हैं, वे संयोग हैं। वे संयोग वियोगी स्वभाव के हैं। वे संयोग पर्याय हैं और वियोगी भी पर्याय हैं। यह बताना चाहते हैं कि वियोगी फल देकर चले जाते हैं। उत्पन्न होना, विनाश होना और स्थिर रहना। खुद तो स्थिर ही रहता है और यह सब होता रहता है।

प्रश्नकर्ता : अत: आत्मा स्थिर रहता है?

दादाश्री : हाँ! आत्मा (खुद, शुद्धात्मा) स्थिर रहता है।

उत्पाद, व्यय, ध्रुव

प्रश्नकर्ता : ऐसा कहा जाता है कि जिस समय महावीर भगवान ने गौतम स्वामी को त्रिपदी का ज्ञान दिया, उसके बाद तुरंत ही उन्हें आत्मज्ञान हो गया था?

दादाश्री : नहीं-नहीं! तुरंत नहीं। वह तो महावीर भगवान के साथ में रहने से उन्हें धीरे-धीरे ज्ञान प्रकट होता गया। भगवान जो कुछ भी कहते थे, उस पर से उन्हें ज्ञान प्रकट होता गया और गौतम स्वामी को केवलज्ञान तो उनके (महावीर भगवान के) जाने के बाद में हुआ। अत: त्रिपदी तो सब से पहले समझाई जाती है। उत्पाद, व्यय और ध्रुव इस जगत् का स्वरूप है। सभी तत्त्व उत्पाद, व्यय और ध्रुव हैं, ऐसा समझाया जाता है और उसी से यह सारा तूफान मचा है। उत्पन्न होना, व्यय होना और कुछ समय तक रहना, यही स्वरूप है।

प्रश्नकर्ता : उत्पन्नेवा, विघ्नेवा, ध्रुवेवा।

दादाश्री : हाँ, उस त्रिपदी को जानने के बाद फिर जानने को क्या रहता है इस दुनिया में? उत्पन्न होता है, लय होता है और ध्रुवता में है। यदि लय नहीं होगा तो दूसरा उत्पन्न नहीं होगा। अत: लय होता है, उसके बाद उत्पन्न होता है और फिर उत्पन्न व लय होने के बावजूद भी वस्तु ध्रुव है। त्रिपदी में महावीर भगवान ऐसा समझाना चाहते हैं।

प्रश्नकर्ता : वस्तु ध्रुव है और उसके पर्याय उत्पन्न और व्यय होते रहते हैं तो क्या वस्तु के पर्याय भी उत्पन्न होते हैं, ध्रुव रहते हैं और व्यय होते हैं?

दादाश्री : नहीं! पर्याय ध्रुव नहीं हैं, उत्पन्न होते हैं और व्यय होते हैं जबकि वस्तु (आत्मा) शाश्वत रहता है, ध्रुव रहता है। खुद ध्रुव है, इसके बावजूद भी पर्याय उत्पन्न होते हैं और व्यय होते हैं। पर्याय के लिए ध्रुव शब्द नहीं कह सकते हैं न! ध्रुव के लिए तो उत्पन्न-व्यय, विशेषण नहीं होता। ध्रुव अर्थात् परमानेन्ट।

प्रश्नकर्ता : तो पर्याय के लिए भी इस प्रकार से कहा गया है न! उसके पर्याय उत्पन्न होते हैं, कुछ समय तक टिकते हैं और फिर विलय हो जाते हैं। तो जो टिकता है, वह क्या है?

दादाश्री : जो टिकता है, वह तो ज़्यादा टिकता है या कम टिकता है, उससे कोई लेना-देना नहीं है। जो बढ़ता और घटता है, वह सब टेम्परेरी में आता है, ध्रुव में नहीं आता।

प्रश्नकर्ता : वह ध्रुवता पर्याय से संबंधित है ही नहीं?

दादाश्री : ध्रुवता तो वस्तु का स्वभाव बताती है। वस्तु खुद ध्रुव होने के बावजूद भी उत्पन्न-लय होता रहता है, पर्याय को लेकर।

प्रश्नकर्ता : अवस्थाओं को जानने के लिए, क्या अवस्था को उसके स्वभाव से ही जाना जा सकता है?

दादाश्री : इन सभी अवस्थाओं को कब तक जान सकते हैं? जब तक वे स्थूल हैं तभी तक। उसके बाद सब स्वभाव से जानी जा सकती हैं। अवस्था का उत्पन्न होना, विनाश होना और ध्रुव रहना।

प्रश्नकर्ता : वह स्वभाव द्वारा ही देखी जा सकती है?

दादाश्री : स्वभाव द्वारा ही। देखना उसका (आत्मा का) गुण है और उत्पन्न होना व विनाश होना उसके पर्याय हैं। अपने पर्यायों को वह खुद देख सकता है।

अर्थात् यह जो अवस्था शब्द है न, वह इन स्थूल अवस्थाओं के बारे में नहीं लिखा गया है, पर्यायों के बारे में लिखा गया है। तो इनमें, इन अवस्थाओं में स्थूल भी आ सकता है। ये स्थूल अवस्थाएँ उसे बुद्धि से ही समझ में आती हैं। जी रहा है, घूम रहा है, ऐसा सब समझ सकता है।

गीता की यथार्थ समझ

प्रश्नकर्ता : गीता में कृष्ण भगवान ने ऐसा कहा है कि मैं सृष्टि का सर्जन करता हूँ, पालन करता हूँ और उसका नाश भी करता हूँ।

दादाश्री : वह ठीक है लेकिन उसका तो अर्थ ही अलग है। वे जो कहना चाहते हैं, वह आपको समझ में नहीं आ सकता। उत्पात, व्यय और ध्रुव, वह आपको समझ में नहीं आ सकता। वह तो आत्मा का एक प्रकार का स्वभाव है कि उत्पन्न होना, ध्रुवता करना और विनाश होना। वह हर एक तत्त्व का स्वभाव है। अत: यह जो कहा गया है, वह भगवान ने इसीलिए कहा है कि 'मैं गीता में यह जो कह रहा हूँ, उसे हज़ारों लोग पढ़ेंगे तो उनमें से एक व्यक्ति इसके स्थूल अर्थ को समझेगा और ऐसे हज़ारों में से एकाध सूक्ष्म को समझेगा, ऐसे हज़ारों में से एकाध सूक्ष्मतर को समझेगा और उन हज़ारों में से एकाध उस सूक्ष्मतम को समझेगा कि मैं क्या कहना चाह रहा हूँ'। तो भगवान की कही हुई बात कैसे समझ में आ सकती है? कृष्ण भगवान क्या कहते हैं? 'ज्ञानी ही मेरा आत्मा है और वह मैं खुद ही हूँ।' ज्ञानी पुरुष आएँगे तभी छुटकारा होगा, नहीं तो छुटकारा नहीं हो सकता।

प्रश्नकर्ता : आपने कहा है कि इस सृष्टि की शुरुआत भी नहीं है और अंत भी नहीं है परंतु गीता में तो पढ़ा था कि यह सृष्टि आदि में अप्रकट, मध्य में प्रकट और अंत में अप्रकट ही है।

दादाश्री : हाँ! उत्पाद, वह अप्रकट कहलाता है। फिर आता है ध्रौव, वह प्रकट कहलाता है और व्यय, वह अप्रकट कहलाता है। उत्पात, ध्रुव और व्यय। मनुष्य अप्रकट था, यहाँ पर जन्म लिया तब अप्रकट में

से प्रकट में आया, वह मध्य में प्रकट रहा, उसके बाद जब मरा तब वापस अप्रकट में चला गया। वहाँ से वापस प्रकट में आता है। बस! ये साइकल्स (चक्र) चलती ही रहती हैं।

प्रश्नकर्ता : तो दादा! तो उसकी मूल स्थिति क्या है? उत्पत्ति से पहले की स्थिति क्या है?

दादाश्री : नहीं! उत्पत्ति से पहले की स्थिति है ही नहीं। यह उत्पत्ति जो है, वह उत्पत्ति लय होती रहती है और ध्रुवता अर्थात् जो हमेशा दिखाई देता है, हमें प्रकट दिखाई देता है। उस उत्पत्ति से पहले क्या है? तो कहते हैं कि जो लय हुआ था, उसी में से उत्पन्न हुआ है। उत्पन्न में से वापस प्रकट हुआ। यह साइकल निरंतर चलती ही रहती है।

प्रश्नकर्ता : इस प्रकिया का अंत है या नहीं है या फिर चलता ही रहेगा?

दादाश्री : उसका अंत है ही नहीं। स्वभाव नहीं छूटता न! द्रव्य वस्तु का स्वभाव नहीं छूटता न! इसका अंत कब आता है? जब, इन दो तत्त्वों को जो कि साथ में हैं, उन्हें 'दादा' अलग कर देते हैं, उसके बाद में वे छूट जाते हैं। उसके बाद में सिर्फ आत्मा ही रहा। अत: उसे दु:ख नहीं होता, अन्य कुछ नहीं होता।

प्रश्नकर्ता : तो क्या मोक्ष इन सब से अलग स्थिति है?

दादाश्री : इन सब से दूर। इन सब से जो अलग है, वही मोक्ष कहलाता है और जो इन सब से अलग है, वही आत्मा कहलाता है। इस संसार में तो आत्मा की (अज्ञान दशा की) ही सारी स्थितियाँ हैं, और उसके पर्याय हैं।

वे हैं रूपक...

प्रश्नकर्ता : वह जो गॉड और G-O-D, जनरेटर, ऑपरेटर और डिस्ट्रॉयर इस प्रकार से जो कहते हैं, वह और ब्रह्मा, विष्णु और महेश,

उनमें एक को पालक कहते हैं, एक को सर्जक और एक को संहारक कहते हैं, तो इन दोनों में कोई साम्य है क्या? इस बात में?

दादाश्री : मूल वस्तु आत्मा है। अब उसके खुद के जो मूल गुण हैं, उनके अलावा के जो पर्याय हैं, उनका उत्पन्न होना, विनाश होना और आत्मा खुद स्वभाव से ध्रुव है, इस प्रकार से इन तीन चीज़ों को रखा गया है। यह *पुद्गल* है, यह *पुद्गल* उत्पन्न हुआ, इसका विनाश हुआ। जड़ वस्तु भी स्वभाव से ध्रुव है। इसलिए इस आधार पर गठित है यह सारा।

ये ब्रह्मा, विष्णु, महेश क्या हैं? वह उत्पन्न होती हुई जो स्थिति है, वहाँ लोगों ने ब्रह्मा को रखा, जहाँ सर्जन होता है, वहाँ पर। फिर जहाँ विसर्जन और विनाश होता है, वहाँ पर महेश को रखा और जहाँ ध्रुवता है, वहाँ पर विष्णु को रखा। अत: ब्रह्मा, विष्णु और महेश। फिर वे मूर्तियाँ रखीं और फिर सब लोग उसे कहाँ तक ले गए कि 'इन मूर्तिओं की पूजा करना!' अपने में ये जो तीन गुण बताए गए हैं न, पित्त, वायु और कफ (क्रमश: सत्व, रज व तम गुण)। बहुत साइन्टिफिकली रखा है। यह यों ही नहीं रख दिया है, यह बहुत ही गहरा आयोजन किया गया है।

उसके बाद सब उलझा दिया! ब्रह्मा को ढूँढने जाएँ तो कहाँ मिलेंगे? दुनिया में किसी जगह पर मिलेंगे ब्रह्मा? विष्णु को ढूँढ आओ। तो क्या विष्णु मिलेंगे? और महेश्वर! हम पूछें कि 'क्या धंधा है उनका? व्यापार क्या है?' तब कहते हैं, 'ब्रह्मा सर्जन करते हैं, विष्णु ये सब चलाते हैं, पोषण करते हैं और वे संहारक, महेश संहार करते हैं'। अरे भाई! संहार करने वाले के भी कभी पैर छूने होते हैं?

प्रश्नकर्ता : लेकिन दादा, ऐसी कैसी कल्पना करके रख दी कि कितने ही वर्षों से वह कल्पना चली आ रही है?

दादाश्री : मूल वस्तु का पता नहीं चल पाता। मैंने उसे ढूँढकर अब लोगों में बताना शुरू कर दिया है।

ऐसा है इस दुनिया में जो छ: तत्त्व हैं न, उनका उत्पन्न और विनाश होना, वह अवस्था के कारण और ध्रुवता स्वभाव के कारण है। यह स्वभाव ही है, उसी के लिए इन लोगों ने एक रूपक बनाया। वह किया था अच्छी खोज़ के लिए। अच्छा करने गए लेकिन बहुत दिन बीतने पर तो उल्टा ही हो जाता है न फिर, नहीं हो जाता? सही बात को कौन समझाए फिर?

दो तत्त्वों के साथ में आने से विशेष भाव हुआ, उससे यह जगत् खड़ा हो गया। न तो ब्रह्मा हुए हैं, न ही कोई गढ़ता है और न ही गढ़ने की ज़रूरत पड़ी। यह सब कहाँ तक उल्टा चला है? लेकिन लोग मूल बात से करोड़ों कोस दूर चले गए हैं। लेकिन (आध्यात्म के) कॉलेज में आते ही तत्त्व दर्शन की शुरुआत हो जाती है कि हकीकत क्या है, वास्तविकता क्या है इस जगत् की? उन किताबों को एक तरफ रख देना पड़ेगा, उसके बाद में राह पर आ जाएगा।

ज़रूरत है। लोग माँग रहे हैं यह। कुछ नवीनता माँग रहे हैं। पुस्तकें गलत नहीं हैं। लोगों के लिए पुस्तकों को समझना मुश्किल हो गया है अत: वह चला नहीं। लेकिन इतना अच्छा हुआ है कि यह पीढ़ी नई ही प्रकार की पैदा हुई है न, उस पूरे बीज को, पूरी श्रद्धा को ही उड़ा दिया कि 'यह सब अंधश्रद्धा ही है, ऐसा सब गलत है'। इसे पूरा ही काट देना अच्छा है, यदि यह यहाँ से सड़ जाए, तब यहाँ से काट दिया जाए तो उतना वह आगे बढ़ना रुक जाएगा।

मोक्ष में जाना हो तो तत्त्व और गुण को जानना व समझना पड़ेगा। वर्ना जब तक इस संसार में रहना हो तब तक तत्त्वों के धर्म, पर्याय और अवस्थाओं को जानना व समझना पड़ेगा।

नियम, हानि-वृद्धि का

प्रश्नकर्ता : गुण और धर्म में क्या फर्क है?

दादाश्री : धर्म हमेशा ही बदलता रहता है और जो गुण हैं, वे नहीं बदलते। वस्तुओं के जो स्वाभाविक गुण हैं, वे नहीं बदलते।

प्रश्नकर्ता : हम कहते हैं न कि तत्त्व के गुण, धर्म और पर्याय।

दादाश्री : वह धर्म ही पर्याय है। जो मूल आत्मा है, उसके मूल गुण हैं। आत्मा बदलता नहीं है और गुण भी नहीं बदलते, लेकिन उसके धर्म बदलते रहते हैं। क्या बदलता रहता है? उसका जो ज्ञाता-दृष्टापन है न, उसकी शुरुआत कहाँ से होती है? अनंत भाग वृद्धि से। दूसरा असंख्यात भाग वृद्धि बढ़ती है।

अब असंख्यात भाग वृद्धि अर्थात् यह जो वस्तु है न, इसका असंख्यात भाग अर्थात् बिल्कुल बाल जितना भाग हो उतना बढ़ता है। फिर संख्यात का मतलब क्या है? जो उससे और आगे बढ़ता है, वह भाग। अनंत भाग वृद्धि था, उसमें असंख्यात आया इसलिए फिर से थोड़ा और बढ़ा। असंख्यात अनंत भाग से तो बहुत बड़ा होता है। फिर संख्यात आया अर्थात् बहुत बड़ा हो गया।

उसके बाद संख्यात गुण वृद्धि। फिर उससे आगे का स्टेप क्या है? तो वह है, असंख्यात गुण वृद्धि। और उससे आगे का? वह है, अनंत गुण वृद्धि। इस प्रकार आत्मा खुद अपने ही स्वक्षेत्र में है। और उसमें इस प्रकार से सभी अवस्थाएँ बदलती ही रहती हैं। क्योंकि कौन सी अवस्था बदलती है, कि यहाँ पर दर्पण हो और अगर आप अकेले आओगे तो अकेले ही (सिर्फ आप ही) दिखाई दोगे, अगर दो लोग आओगे तो दो दिखाई दोगे, चार लोग आओगे तो...

प्रश्नकर्ता : चारों दिखाई दोगे।

दादाश्री : अब ये सभी अवस्थाएँ बदलीं या नहीं बदलीं?

प्रश्नकर्ता : बदलीं।

दादाश्री : उनका धर्म बदलता रहता है लेकिन गुण नहीं बदलते। उसी प्रकार से सिद्ध भगवान के आत्मा में जगत् झलकता (प्रतिबिंबित होता) है और जिस भाग वाले लोग सो गए हैं, उनमें कुछ हिलते-डुलते हैं, तो उन्हें देखते हैं। अर्थात् उषा काल में तीन-चार बजे अनंत भाग वृद्धि होती है इसलिए सुबह कुछ लोग चलते-फिरते दिखाई देते हैं।

उसके बाद असंख्यात भाग में वृद्धि होती है। फिर संख्यात भाग में वृद्धि होती है। फिर संख्यात गुण वृद्धि होती है। फिर असंख्यात गुण वृद्धि और अनंत गुण वृद्धि होती हैं। बारह बजे तो झुंड के झुंड लोग होते हैं, वह सब उसी में झलकता है।

अब पहले अनंत गुण हानि आएगी। फिर असंख्यात गुण हानि आएगी। फिर संख्यात गुण हानि आएगी। फिर संख्यात भाग हानि। उसके बाद असंख्यात भाग हानि और अनंत भाग हानि।* यह उसका गुणधर्म है, जो बदलता ही रहता है। निरंतर बस यही है! खुद को कुछ करने को नहीं रहता। उसका धर्म बदलता रहता है। उसके अंदर झलकता है। बोझ नहीं है, दर्पण को कभी बोझ लगता है क्या?

प्रश्नकर्ता : नहीं।

दादाश्री : हम उसके सामने नखरे करें तो दर्पण को नुकसान है या हमें नुकसान है? दर्पण का नुकसान कहा जाएगा क्या? समझने जैसा है।

* उपोद्घात में दृष्टांत समझने के लिए रखा है।

[४]

अवस्थाओं को देखने वाला 'खुद'

उलझन मात्र रोंग बिलीफ से है

समसरण (संसार) मार्ग है ही ऐसा कि उसमें सिकते हुए ही जाता है। जैसे कि पहले आफ्रीका में जाते ही कठिनाईयों में डालते थे लेकिन वह समझ जाता था कि यह भट्ठी है और मैं हूँ, उसी प्रकार से आत्मा को समसरण मार्ग में कठिनाईयों में से तरह-तरह की प्रक्रियाओं में से गुज़रना पड़ता है। इस समसरण मार्ग पर जाते हुए मार्ग के कारणों से अवस्थाएँ उत्पन्न होती हैं। इससे आत्मा को कुछ भी नहीं होता लेकिन 'वह' मान बैठता है कि मैं सिक गया हूँ। जैसी प्रक्रियाओं में से (अवस्थाओं में से) गुज़रता है 'खुद को' वैसा ही मान बैठता है और उस भ्रमणा में वह जैसा चिंतन करता है, खुद वैसा ही बन जाता है। खुद के मूल स्वरूप को जान जाए तो कुछ भी नहीं है। भ्रमणा भी एक भान है। व्यवहार राशि में आने से लेकर व्यवहार राशि के खत्म होने तक अवस्थाएँ ही हैं।

लेकिन अंदर जो अहंकार खड़ा हो जाता है, वह दु:ख को वेदता है। *शाता* (सुख-परिणाम) भी वेदता है और *अशाता* (दु:ख-परिणाम) को भी वेदता है। उस वेदन से यह सब खड़ा हो गया है, रोंग बिलीफ खड़ी हो गई है। आत्मा में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। आत्मा अपने गुण से या अपने द्रव्य से बिगड़ नहीं गया है लेकिन पर्यायों पर जो असर हो गया है, वह रोंग बिलीफ से है।

पूरा जगत् तत्त्वों से बना हुआ है, छ: तत्त्वों से। उनकी अवस्थाओं को 'यह' (अहम्) खुद का (स्वरूप) मानता है।

खुद अवस्था में है और जो दिखाई देता है, वे सब भी अवस्थाएँ हैं और अवस्थाएँ उलझन में डाल देती हैं। वास्तव में अवस्थाएँ नहीं उलझातीं। अवस्थाओं को स्वभाव मनवाने वाली तेरी मान्यता की वजह से उलझन है। इन अवस्थाओं को ही स्वभाव मानता है। जबकि वह खुद तत्त्व है। स्वभाव अर्थात् तत्त्व। अत: वह स्वभाव अविनाशी है। जबकि अवस्था का अर्थ है विनाशी।

रियल तत्त्व आत्मा है और उसकी जो अवस्थाएँ हैं, उन्हें वह ऐसा कहता है कि 'मैं ही हूँ'। अत: अगले जन्म के लिए नए बीज डालता है। आत्मा अपने स्वभाव में ही है। जब होली देखता है, तब कहता है 'मैं देख रहा था'। वहीं पर कर्म बंधन होता है, वास्तव में तो आत्मा का स्वभाव ही है, देखना और जानना। 'आप' उन अवस्थाओं को देखते रहते हो। वे सभी अवस्थाएँ विनाशी हैं और वस्तु अविनाशी है।

अज्ञानता में सभी अवस्थाएँ लिपट जाती हैं और फिर 'खुद' जैसा था, वैसे का वैसा ही रहता है।

अवस्थाएँ आर ऑल (सभी) टेम्परेरी (हैं) और लोग टेम्परेरी में रहते हैं, टेम्परेरी को देखते हैं और टेम्परेरी की बात करते हैं। परमानेन्ट में नहीं रहे हैं, परमानेन्ट को नहीं जानते, परमानेन्ट की बात नहीं करते। सभी टेम्परेरी एडजस्टमेन्ट्स हैं।

आप वर्ल्ड में चाहे कहीं भी जाओगे लेकिन टेम्परेरी अवस्थाओं के अलावा कुछ भी नहीं मिलेगा। अवस्थाओं की भी अनंत अवस्थाएँ हैं और उनकी भी अवस्थाएँ हैं, जिन्हें वह खुद का स्वरूप मान बैठा है। मूलत: उसका खुद का जो तत्त्व स्वरूप है, वह परमानेन्ट है, अविनाशी है। आप खुद ही भगवान हो।

प्रश्नकर्ता : मुझे यदि यह अविनाशी तत्त्व बनना हो तो मुझे क्या करना चाहिए?

दादाश्री : आपको अविनाशी बनना पड़ेगा। आप विनाशी में रहकर किस तरह से कह सकोगे कि 'अविनाशी हूँ'?

प्रश्नकर्ता : नहीं! लेकिन मुझे अविनाशी बनना है।

दादाश्री : हाँ! तो आना मेरे पास, कर देंगे। एक बार अविनाशी बनने के बाद विनाशी नहीं बन पाओगे। इसलिए यदि पहले से ही चेतना हो तो चेत जाना।

प्रश्नकर्ता : इसमें क्या खतरा है, अविनाशी बनने के बाद?

दादाश्री : फिर ये जो जन्मोंजन्म के शौक हैं, जलेबी वगैरह यह सब, खाने-पीने का, फिर वह नहीं रहेगा। फिर खुद के आत्मा का सुख मिलेगा, स्वयं सुख! सनातन सुख, शाश्वत सुख!! यह सुख वास्तव में सुख है ही नहीं। यह तो सिर्फ कल्पित है।

चंदूभाई नामक यह एक अवस्था है। कितने ही जन्मों से उसे 'मेरी-मेरी' कहकर मर गए।

इस जगत् में माँगने जैसी एक ही चीज़ है कि 'इस भ्रांति से मुक्त करवाओ', इस जगत् में कड़वे व मीठे फल सभी भ्रांति हैं। अवस्थाओं में अभाव उत्पन्न नहीं होना चाहिए। कोई हमें परेशान करे तब भी उस पर अभाव नहीं होना चाहिए। क्योंकि अवस्था मात्र कुदरती रचना है।

अवस्था अनित्य, वस्तु नित्य

अवस्थाएँ बदलती रहती हैं। उन अवस्थाओं को जगत् के लोग देखते हैं और उन्हें ऐसा लगता है कि 'ओहोहो! यह कितना अच्छा दिखाई दे रहा है!' और कितने ही लोग अवस्था को देखते हैं और उन्हें घबराहट हो जाती हैं। इस प्रकार से यदि निरा कोहरा, कोहरा, कोहरा हो तो कहेगा, 'मेरा बेटा भी नहीं दिखाई दे रहा, साथ में ही था न!' अरे भाई, यह जो कोहरा है, वह तो अवस्था है, अभी चली जाएगी। चली नहीं जातीं सब? अवस्थाओं को नित्य मान लेता है। अनित्य वस्तु को नित्य मानकर दु:खी होता रहता है। यदि तत्त्व को पकड़ लेगा तो खुद मुक्त हो जाएगा, अवस्थाओं से ऊपर उठेगा। वर्ना तब तक विनाशी है। यह पूरा संसार अवस्था से बाहर नहीं निकल सकता। सिर्फ ज्ञानी ही निकल सकते हैं। अन्य किसी की बिसात भी नहीं है! मनुष्य सिर्फ

अवस्थाओं को देख सकते हैं। जब मूल तत्त्व को देखने लगेगा, तब ज्ञानी कहलाएगा।

ये जो छः वस्तुएँ हैं, वे अविनाशी हैं। हम जब ज्ञान देते हैं तब आपसे कहते हैं कि 'आप शुद्ध चेतन हो'। तब वस्तु को देखना शुरू कर देता है। उससे कहते हैं कि 'आपने अपने अविनाशी भाव को पाया'।

जगत् में सारी अवस्थाएँ एक ही रूपी तत्त्व की दिखाई देती हैं। जब ज्ञानी शुद्धात्मा दिखा देते हैं तब अरूपी तत्त्व दिखाई देता है।

ऐसा है, इस जगत् में आप जो आँखों से देखते हो, कानों से सुनाई देता है, जीभ से चख पाते हो, नाक से सूँघ पाते हो, यहाँ पर स्पर्श होता है, क्या वे वस्तुएँ हैं? वह वस्तु नहीं है, वस्तु की अवस्थाएँ हैं। आप जो देख रहे हो, वह सब अवस्थाओं को ही देखा है। तत्त्व की अवस्थाएँ, *पुद्गल* (जो पूरण और गलन होता है) तत्त्व की अवस्थाएँ, चेतन तत्त्व की अवस्थाएँ, काल की भी अवस्थाएँ। तत्त्व की उन सभी अवस्थाओं को देख रहे हो आप। मूल तत्त्व स्वरूप से देखा जाए तो कल्याण हो जाएगा।

तत्त्व दृष्टि, अवस्था दृष्टि

जब तक उसकी दृष्टि अवस्था वाली है, तब तक उसे जगत् दिखाई देगा और जब तत्त्व-दृष्टि हो जाएगी तो तत्त्व दिखाई देगा। अवस्थाएँ दिखाई देंगी लेकिन अवस्थाओं को 'वह' खुद की नहीं मानेगा। इस ज्ञान के बाद आपकी दृष्टि तत्त्व-दृष्टि हो गई है इसलिए तत्त्व को देखना सीखे हो और अवस्थाओं को भी देख सकते हो लेकिन अवस्था अपना स्वरूप नहीं है। ऐसा जानते हो कि अवस्था विनाशी है, रिलेटिव है। रिलेटिव, रियल, दोनों को देख सकते हो न! अवस्थाएँ रिलेटिव हैं और जो रियल है, वह तत्त्व है।

प्रश्नकर्ता : दादा, आत्मा से तो सिर्फ तत्त्व को ही देखा जा सकता है न? आत्मा, आत्मा तत्त्व को ही देखता है न? वह फेज़िज़ को नहीं देखता न?

दादाश्री : जब तक संसारी आत्मा है, तब तक इन सभी संसारी चीज़ों को देखता है और संसारी न हो अर्थात् रिलेटिव न हो, रियल हो तब वह आत्मा, आत्मा को देखता है, अविनाशी चीज़ों को ही देखता है।

आत्मा और अनात्मा, ज्ञानी पुरुष स्पष्ट रूप से अलग कर देते हैं। फिर हम पहचान सकते हैं कि यह आत्मा है और यह अनात्मा है। यह तत्त्व स्वरूप है और यह अवस्था स्वरूप है, ऐसा स्पष्ट रूप से पहचान सकते हैं।

ज्ञान मिलने के बाद शायद अगर ज्ञान कहीं पर ज्ञेय में चिपक जाए तो भी तत्त्व दृष्टि से ऐसा लगता है कि यह तो चंदूभाई का है, मेरा नहीं है। तत्त्व अनंत अवस्था वाला होता है, अवस्थाओं के *एलिया (हेरियां)* (किसी सूराख में से आने वाली सूर्य की किरणें) पड़ते हैं। उस तरह से जैसे सूर्यनारायण बादल के पीछे होते हैं, फिर भी उनकी अवस्था की किरणें बाहर आती हैं। किसी को भी जब हम अवस्था दृष्टि से देखते हैं, तभी तो हम पर उसका प्रभाव पड़ता है। अवस्था दृष्टि से ही आकर्षण-विकर्षण है, तत्त्व दृष्टि से नहीं है। अवस्था में 'मैं हूँ', ऐसा माना कि तुरंत ही अंदर लोहचुंबक पना उत्पन्न हो जाता है और आकर्षण शुरू हो जाता है। तत्त्व दृष्टि अर्थात् संपूर्ण दृष्टि। निश्चय दृष्टि अर्थात् तत्त्व और व्यवहार अर्थात् अवस्था।

अवस्था दृष्टि से देखोगे तो आकर्षण-विकर्षण होगा और तत्त्व दृष्टि से देखोगे तो मोक्ष होगा। किसी को तत्त्व दृष्टि से देखोगे तो आपको लाभ होगा और अवस्था दृष्टि से देखोगे तो आप उसी में खो जाओगे। आँखों से (चर्मचक्षु से) देख-देखकर ही तो यह पूरा जगत् खो गया है। तत्त्व दृष्टि से सामने वाले में आत्मा दिखाई देता है। उस तत्त्व दृष्टि के लिए शास्त्रों में लिखा गया है कि जो उसे तत्त्व दृष्टि से जानेगा कि 'तिल में से तेल निकलता है, दूध में से घी निकलता है', वही वह निकाल सकेगा। भैंस को भैंस देखे, गाय को गाय देखे तो अवस्था दृष्टि है और अपने महात्मा तो तत्त्व दृष्टि से (आत्मा) देखते हैं। जो तत्त्व को जानते

हैं, वे तत्त्व दृष्टि से देख सकते हैं। जो नहीं जानते, वे तत्त्व दृष्टि से कैसे देख सकेंगे?

तत्त्व दृष्टि से अवस्था की कीमत खत्म हो जाती है। तत्त्व दृष्टि हो जाने पर वस्तु दिखाई देती है, वर्ना अवस्था दृष्टि से तो कैफ चढ़ता है।

ॐ अर्थात् तत्त्व दृष्टि। किसी में भी तत्त्व दृष्टि उत्पन्न नहीं हुई है न! पूरा ही जगत् अवस्था दृष्टि में है।

किसी ने कहा है कि 'ज्ञान क्रियाभ्याम् मोक्ष'। हम तो क्रियाएँ भी करते हैं और ज्ञान का भी करते हैं तो क्या हमारा मोक्ष नहीं है?' नहीं। क्योंकि तू अवस्था को ज्ञानक्रिया कहता है। अवस्था की ज्ञानक्रिया, वह सारा अज्ञान कहलाता है। उससे तो तुझे सोने की बेड़ी मिलेगी। तत्त्व दृष्टि होने के बाद में ज्ञान क्रियाभ्याम् मोक्ष कहा जाता है। वह अरूपी क्रिया है।

जगत् अवस्था स्वरूप से बात करता है और मैं तात्त्विक स्वरूप से बात करता हूँ। मैं तात्त्विक दृष्टि से देखता हूँ, पूरा जगत् अवस्था दृष्टि से देखता है। यह तो, अवस्था को खुद का स्वरूप मानता है और ये जो दु:ख हैं, वे दु:ख नहीं हैं। ये सभी दु:ख तो नासमझी के हैं। और वे भी खुद के द्वारा निमंत्रित किए हुए ही हैं।

पूरे बड़ौदा में सुचारित्र और कुचारित्र चल रहे होंगे, लेकिन म्युनिसिपालिटी में पूछकर आओ कि 'उसे नोट किया गया है?' तो फिर जिस चीज़ को नोट नहीं किया जाता, उस बात की पकड़ कैसी? यदि हमारी तत्त्व-दृष्टि हो गई है तो वे सभी (चीज़ें) अवस्था मात्र हैं।

जगत् गड़बड़ घोटाला

आत्मा के जो-जो पर्याय उत्पन्न होते हैं, उन्हीं में तन्मयाकार हो जाता है। पिछले जन्म में पुरूष हो और इस जन्म में स्त्री बन जाए तो हम उसे सही-सही बता दें और उससे कहें कि तू पिछले जन्म में पुरूष था। तब भी उसे इस बात की शर्म नहीं आएगी कि 'मैं स्त्री बन गया हूँ'। क्योंकि वह पर्याय में रत रहता है। ऐसा है यह जगत्। यह सब

हमारे ज्ञान में दिखाई देता है। लोगों पर कैसा-कैसा असर होता है, वह सब हमें दिखाई देता है।

जैसी-जैसी अवस्थाएँ मिलती हैं, वैसा ही उसका नाम पड़ जाता है। पैर टूट जाए तो लंगड़ा, उसका नाम लंगड़ा थोड़े ही है? टाइप करता है तो टाइपिस्ट। ये अवस्थाएँ तो पत्ते का महल है, टूटकर चूर-चूर हो जाएगी। सभी लोग अवस्थाओं में बैठक ले लेते हैं।

जिस अवस्था में आता है न, उसी अवस्था का जतन करता रहता है। पूरी ज़िंदगी मुक्त रहता है और आखिर में छः महीने यदि जेल में डाल दिया जाए न, तो 'मैं कैदी बन गया, मैं कैदी हूँ' ऐसा कहता है। शादी करवाने पर सौभाग्यवती का सुख बरतता है और फिर विधवा हो जाए तो वैधव्य का दुःख उत्पन्न होता है। 'मैं तो विधवा हूँ' कहती है। अरे, पिछले जन्म में भी तो विधवा हो गई थी और वापस सौभाग्यवती हो ही गई थी न! विधवा बने और सौभाग्यवती बन गए। अरे, यह दखल ही है। और क्या है फिर?

अवस्थाएँ बदलती हैं, आत्मा उसी रूप में रहता है। आत्मा में कोई बदलाव नहीं होता और फिर भूल भी जाते हैं। परसों जो झगड़ा हुआ हो, उसे भूल जाते हैं और आज वापस सिनेमा में घूमने जाते हैं। हमें लगता है कि परसों जब मैं गया था, तब तो दो जनों का झगड़ा हो रहा था और आज सिनेमा देखने निकले?

गड़बड़ घोटाला है, यह पूरी दुनिया। फिर भी सही है, रिलेटिवली करेक्ट है और आत्मा, रियली करेक्ट है। इस दुनिया में जो रियल करेक्ट हैं, वे सब वस्तुएँ हैं और जो रिलेटिव करेक्ट हैं, वे सभी वस्तुओं की अवस्थाएँ हैं।

कथित केवलज्ञान

रिलेटिव कभी भी रियल नहीं बन सकता और जो रियल है, वह कभी भी रिलेटिव नहीं बन सकता। रियल अविनाशी है और रिलेटिव विनाशी है, दोनों कभी भी एक नहीं हो सकते।

प्रश्नकर्ता : दादा! यह पूरा रिलेटिव स्वरूप उत्पन्न होना, जिसे हम चंदूभाई कहते हैं, वह अंदर अवस्थाओं के आधार पर ही उत्पन्न होता है न?

दादाश्री : हाँ! अवस्था ही है न, भाई। अवस्था के आधार पर क्या? ऐसा नहीं है। अवस्था ही है चंदूभाई की! अज्ञान में से उत्पन्न हुई (अवस्थाएँ)। इस स्वरूप के अज्ञान से, विशेष ज्ञान से ऐसा सब हो गया। निर्विशेष ज्ञान से खत्म हो जाएगा।

अनंत काल से जो नहीं समझ सके कि अनादि अनंत क्या है? आप जो समझ नहीं सके कि जगत् अनादि अनंत है, वह मुझे समझाना पड़ा। मूल स्वरूप से आत्मा अनादि अनंत है। जीव स्वरूप से जीवित रहता है, और मरता है अवस्था स्वरूप से। जो जीवित रहता है, वह आदि-अंत वाला है। निर्द्वंद्व अवस्था (मूल अवस्था) अनादि अनंत है। द्वंद्व अवस्था अथवा द्वैत अवस्था, वह जीव अवस्था है और वह आदि-अंत है। जन्म लेता है, वह आदि है और मरता है, वह अंत है, यह हमारा कथित केवलज्ञान है।

आत्मा की अवस्था को जीव कहा गया है और वह आत्मा 'परमानेन्ट' है। जो जीता-मरता है, वह जीव है! जिसे 'मैं जी रहा हूँ' और ऐसा भी भान है कि, 'मैं मर जाऊँगा', उस अवस्था को जीव कहा गया है।

जीव तत्त्व रूप में अनादि अनंत है। अतत्त्व रूप में आदि-अंत है। फेज़िज (अवस्था) के तौर पर आदि-अंत है। अतत्त्व अर्थात् फेज़िज़ के तौर पर। जीव की अवस्थाएँ कौन-कौन सी हैं? अवस्थाओं में जैसा आरोपण करता है, उस कारण से उसकी अन्य अवस्थाएँ उत्पन्न होती हैं। जब तक अहंकार है, तब तक वह आरोप करेगा ही।

ये व्यू पोइन्ट वाले लोग खुद की हर एक अवस्था का किसी पर आरोपण करते हैं।

जो जीता और मरता है, वह जीव है और जो अमर पद प्राप्त कर

लेता है, वह आत्मा है। आत्मा सेल्फ है और जीव रिलेटिव सेल्फ है। जीव तो अवस्था है।

अंत में अवस्थाओं का अंत

मृत्यु और जन्म, दोनों भ्रांति से दिखाई देते हैं। वह सिर्फ मानता ही है, दिखाई नहीं देता। मानता ही है कि मेरी मृत्यु हुई और मेरा जन्म हुआ, मेरी शादी हुई। वास्तव में हकीकत में तो ऐसा नहीं है। हकीकत में वह खुद आत्मा रूप ही है। लेकिन उसे गाँठ पड़ गई है कि 'यह मैं ही हूँ'।

वस्तु उत्पन्न नहीं होती और उसका विनाश भी नहीं होता। वस्तु की अवस्थाओं का विनाश होता है और वे उत्पन्न होती हैं। जब बचपन आए तब उस समय बुढ़ापा नहीं होता। जब जवानी आती है, तब बचपन नहीं रहता। सभी अवस्थाएँ बदलती रहती हैं। अवस्थाएँ निरंतर बदलती रहती हैं लेकिन वे वस्तु नहीं होतीं। वे तो वस्तुओं की स्थितियाँ हैं। और यह जो शरीर बनता है, वह तो 'अपनी' भ्रांति की वजह से ऐसा मान लेते हैं कि 'यह शरीर मेरा है'। अगर भ्रांति छूट जाए तो शरीर मिलना छूट जाएगा। उसके बाद भी अवस्थाएँ तो उत्पन्न होंगी ही। यानी कि ज्ञान और दर्शन के पर्याय उत्पन्न होंगे। कोई वस्तु दिखाई देती है तो पर्याय उत्पन्न होते हैं। वह वस्तु चली जाए तो फिर पर्याय खत्म हो जाते हैं। अत: उत्पन्न होना, विनाश होना, वह सब चलता ही रहता है।

ये सभी अवस्थाएँ मरती हैं। यह जो सर्दी का मौसम है, वह मर जाएगा या नहीं मरेगा? उसके बाद गर्मी के मौसम का जन्म होगा। इस प्रकार से अवस्थाओं की उत्पत्ति और विनाश होता ही रहता है।

भाषा भगवान की है न्यारी रे

जो जन्म लेता है वह मरता है, जीवन एक अवस्था है, मृत्यु भी एक अवस्था है। ज्ञानियों की भाषा में अनात्मा या आत्मा, कोई भी नहीं मरता। अवस्थाएँ लय होती हैं।

यों लोगों की भाषा में बिलखते हैं और मरते हैं। भगवान की भाषा में तो कोई मरता ही नहीं है। भगवान ऐसा तो क्या देखते होंगे कि कोई मरता नहीं है? इन सभी को मरते हुए दिखाई देते हैं और ये लोग अवस्थाओं को देखते हैं। अवस्था हमेशा विनाशी ही होती है और भगवान अवस्था को नहीं देखते, वस्तु को देखते हैं।

कल क्या होगा, वह कहा नहीं जा सकता, ऐसे इस संसार में एक मिनट भी कैसे बिगाड़ा जाए? हर क्षण यह शरीर बदलता रहता है, खुद का स्वरूप नहीं बदलता है।

वे सब लोग जो फेज़ को ही 'माइ सेल्फ' कहते हैं, उनके लिए ऐसा ही कहना चाहिए कि आत्मा कर्ता है और कर्म का भोक्ता है। जो फेज़ को जानते हैं कि फेज़ कच्चा है, पक्का है, लुच्चा है, बुरी आदतों वाला है, अच्छी आदतों वाला है, अज्ञानी है, ज्ञानी है फिर भी वह फेज़ ही है। आत्मा ज्ञानी नहीं है, ज्ञानी भी एक फेज़ है।

साधु, साधु के फेज़ में और तपस्वी, तपस्वी के फेज़ में, मुनि, मुनि के फेज़ में हैं और महात्मा, महात्मा के फेज़ में रहे हुए हैं।

अज्ञानता के महासागर में यह ज्ञान है। फेज़ की कलाएँ क्या-क्या हैं, उन्हें देखते रहो।

प्रश्नकर्ता : जो गुण और अवगुण हैं, वे इफेक्ट हैं। जो कॉज़ेज़ थे, उनका इफेक्ट है। तब यह बात आती है कि आत्मा के जो अन्य गुण हैं, उनके कॉज़ेज़ हैं या नहीं?

दादाश्री : नहीं, उनके कॉज़ेज़ नहीं हैं। जो उत्पन्न होता है और जिसका विनाश होता है, वहाँ पर कॉज़ेज़ और इफेक्ट हैं। अवस्था में कॉज़ेज़ और इफेक्ट होते हैं जबकि तत्त्व में नहीं होते।

स्थिर वस्तु को देखते ही स्थिर

प्रश्नकर्ता : सभी वस्तुओं का परिवर्तन होता है, सभी वस्तुओं का मतलब क्या है? यानी कि तीनों ही काल में एक ही वस्तु रहे तो उसे सही माना जाएगा न?

दादाश्री : एक ही प्रकार की चीज़ रहे तो बहुत बोरियत हो जाएगी। एक ही प्रकार की चीज़ को तू रखे रखता है क्या? खुद भी वही रहेगा तो बोरियत हो जाएगी। (वही की वही स्त्री हो तो बोरियत हो जाती है?)। जो कुछ भी हो, यदि उसमें वही का वही रहे तो बोरियत होती है। यह किस आधार पर कहा गया है? क्या वही का वही फिर से सु:ख देता है? इस दुनिया में हर एक चीज़ परिवर्तनशील स्वभाव वाली ही है। उसमें तू एक ही प्रकार का कैसे ढूँढेगा? हमेशा स्थिर कैसे ढूँढेगा तू?

प्रश्नकर्ता : स्थिर को ढूँढने के लिए प्रश्न पूछा है।

दादाश्री : नहीं, लेकिन जहाँ सभी चीज़ें परिवर्तनशील ही हैं, वहाँ पर...

प्रश्नकर्ता : आत्मा तो स्थिर है न?

दादाश्री : नहीं! ऐसा तो कहीं होता होगा? वह भी परिवर्तनशील है। वस्तु के तौर पर स्थिर है और अवस्था के तौर पर परिवर्तनशील है। 'तू' यदि अवस्था को देखेगा तो घबरा जाएगा जबकि वस्तु को देखेगा तो स्थिरता उत्पन्न होगी।

वह खुद अवस्था वाला है और ये अवस्थाएँ विनाशी हैं। उनमें भटकता रहता है। जब मूल वस्तु को देखेगा न, तो फिर परमानेन्ट हो जाएगा।

बुद्धि तो अवस्था को ही स्वरूप मनवाने का प्रयत्न करती है। तो उस क्षण यदि दादा को याद करके कहा जाए कि 'मैं वीतराग हूँ', तो बुद्धि बहन बैठ जाएगी।

अवस्था को 'मैं' माना कि पत्थर गिरेगा और उससे लहरें, स्पंदन पैदा होंगे।

शुद्ध आत्मज्ञान होने के बाद फिर क्या बाकी रहा? तो कहते हैं, अवस्थाओं को अलग रखकर जानना है। ये अवस्थाएँ पर-द्रव्य की, जड़

की हैं और ये अवस्थाएँ दरअसल ज्ञान की हैं। ज्ञेय की अवस्था परिमाण के अनुसार ज्ञान प्रकाश की अवस्था का परिमाण रहता ही है। लेकिन उन दोनों अवस्थाओं के बीच भेदांकन हो जाना चाहिए। इसमें हमें अधिकार तो सिर्फ ज्ञाता-ज्ञेय संबंध को जानने मात्र का ही है। (व्यवहार) आत्मा द्वारा भ्रांति से सोचा हुआ एक भी विचार ज्ञाता-ज्ञेय के संबंध को जानने से ही जाएगा, उसके बिना नहीं जा सकता क्योंकि वह भ्रांति से है, लेकिन फिर भी वह (व्यवहार) आत्मा की उपस्थिति के स्टेम्प वाला विचार है।

'स्व' में स्वस्थ, अवस्था में अस्वस्थ

पूरा जगत् अवस्था में स्वस्थ रहता है। वकील के पास जाए तो वह वकील कहता है कि 'तू मेरा मुवक्किल है'। तो वह मुवक्किल की अवस्था में स्वस्थ रहता है। अरे भाई, स्व में स्वस्थ रह! यदि अवस्था में अवस्थित रहेगा तो स्वस्थ कैसे रह सकेगा?

जब से गर्भ में आया, तभी से अवस्था में है। 'मैं' में गया कि अवस्था में चला जाता है और यदि 'स्व' में स्वस्थ हो जाएगा तो परमात्मा। अवस्था मात्र कुदरती रचना है, जिसका कोई बाप भी रचने वाला नहीं है। वह कुदरती रचना क्या है, वह सिर्फ मैं ही जानता हूँ।

दर्पण में यदि पहाड़ दिखाई दे तो क्या उससे दर्पण को वज़न महसूस होगा? उसी प्रकार से ज्ञानियों पर सांसारिक अवस्था का कोई असर नहीं होता।

यदि ऐसा जाने कि ''जो कुछ भी टेम्परेरी है, वह 'मेरा नहीं है'' तो वही ज्ञान है। सभी पर्याय शुद्ध होने के बाद अनंतज्ञान कहलाएगा। ये सभी सूक्ष्म संयोग, अनंत पर्याय हैं। उनके शुद्ध होने पर अनंतज्ञानी कहलाएगा।

सभी पर्यायों को जानने जाएँगे तो कहाँ अंत आएगा? उसके बजाय तो 'मैं यह हूँ' और ये सभी पर्याय हैं, इतना जान लिया तो काम ही निकल जाएगा।

आत्मा की विभाविक अवस्था के कारण राग-द्वेष हैं और स्वाभाविक अवस्था के कारण वीतरागता है।

'आपका' मुकाम किसमें?

अवस्था में खुद के मुकाम करने से अस्वस्थ हो जाता है और खुद के स्वरूप में अर्थात् परमानेन्ट में रहने से स्वस्थ रहता है। अस्वस्थता आपने देखी है? जिस समय तक चंदूभाई थे, तब तक अस्वस्थता ही थी और अब शुद्धात्मा में आ गए, अर्थात् खुद के स्वरूप में रहते हो तो स्वस्थ।

जब तक ऐसा है कि 'मैं चंदूभाई हूँ' तो वह अवस्था कहलाएगी। 'पटेल हूँ' तो वह अवस्था है, 'मैं पचास साल का हूँ' तो वह अवस्था है, 'मैं एग्जीक्यूटिव इंजीनियर हूँ', वह अवस्था है, सभी अवस्थाएँ हैं। उन अवस्थाओं में स्वस्थता नहीं रह सकती। लोग पूछते हैं कि 'स्वस्थ हो न?' तब कहते हैं कि 'नहीं भाई, स्वस्थ कैसा? अस्वस्थ'। जो अवस्था में मुकाम करता है, वह कैसा होता है? अस्वस्थ। निरंतर, एक क्षण भी चूके बगैर वस्तु में मुकाम करेगा तो स्वस्थ रहेगा। चाहे प्रधानमंत्री हो, प्रेसिडेन्ट हो या कोई भी हो, अस्वस्थ! निरंतर!

प्रश्नकर्ता : दादाजी! इसमें बात ऐसी है कि अस्वस्थ में रहने के लिए कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता। स्वस्थ में जाते हैं, क्षणिक उसमें रहते हैं और फिर वापस अस्वस्थ में आ जाते हैं। यही परेशानी है।

दादाश्री : परेशानी कैसी इसमें? अस्वस्थता में बुरा क्या है?

प्रश्नकर्ता : नहीं! हमें स्वस्थ में जाना है, उसमें अधिक रहना है।

दादाश्री : वह तो फिर जब से आप तय करेंगे, तभी से स्वस्थ रह पाएँगे।

ये मन-वचन-काया की अवस्थाएँ, जितना हम इनमें मुकाम करते हैं, उतने ही अस्वस्थ रहते हैं, निरंतर अंतरदाह जलता ही रहता है और स्व में, तत्त्व स्वरूप में मुकाम करेंगे तो स्वस्थ रह पाएँगे।

अवस्थाओं का तो निरंतर समसरण होता ही रहता है, बहती ही रहती हैं। आती हैं, रहती हैं और चली जाती हैं। उसमें सुख और शांति कहाँ है? इन अवस्थाओं में हम तत्त्व स्वरूप से ही रहते हैं। जहाँ पर ठीक लगे, वहाँ पर मुकाम करना। एक क्षण के लिए भी कोई जीव अवस्था रहित नहीं हो सकता। भ्रांति से अवस्था को ही, खुद है, ऐसा मान लेता है। कोई भी अवस्था जो उत्पन्न होती है, वह गुनहगारी की है।

अवस्थाओं से बंधे हुए लोग व्यवहार सुख भी नहीं भोग सकते। एक घंटे पहले किसी अवस्था में चित्त एकाग्र हो जाए तो उसी में चित्त रहता है अर्थात् अवस्था से बंधे हुए को बोझ रहता है और चाय पीने की अवस्था के समय उस बोझ में रहकर चाय पीता है।

लोगों को आत्मा के पर्याय से बाहर की बहुत पड़ी होती है। अर्थात् मूर्च्छा में घूमते रहते हैं। लेकिन कितने ही लोग डेवेलप हो चुके हैं, इसीलिए उन्हें मूर्च्छा में अच्छा नहीं लगता और दूसरी तरफ आत्मा भी नहीं मिल पाता। तो दिनोंदिन वह पर्याय पतला होता जाता है, सूक्ष्म होता जाता है। पर्याय के सूक्ष्म होने के बाद उससे सहन ही नहीं होता। एक घंटे में तो कितने ही विचार आ जाते हैं! वह बीच में लटक जाता है। ऐसों से मैं कहता हूँ कि 'भाई, जा तू वापस मोह में चला जा और मोटे पर्याय में पड़ा रह'। मोटे पर्याय वाले आराम से सोते हैं और खर्राटे लेते हैं। सूक्ष्म पर्याय वाले को तो नींद ही नहीं आती।

लोग अवस्था में ही मुकाम करते हैं यानी फॉरेन को ही होम मान बैठे हैं। उसी की वजह से ये दु:ख हैं। यदि होम को होम माने और फॉरेन को फॉरेन माने तो कोई दु:ख नहीं रहेगा।

जिस समय जिस अवस्था में होता है न, उस अवस्था को नित्य (हमेशा की) और सत्य मान लेता है और उलझता रहता है। बिना बात के उलझन, उलझन और उलझन।

अवस्था की *भजना* (उस रूप होना, भक्ति) न करने वाले कितने हैं? साधु-सन्यासी वगैरह सभी अवस्थाओं की ही भक्ति करते रहते हैं।

पलक का झपकना भी अवस्था

सुबह उठने से लेकर रात को सोने तक सभी क्रियाएँ मात्र अवस्थाएँ हैं। देहधारी की, जन्म से मृत्यु तक की सभी क्रियाएँ, जो आखों से दिखाई नहीं देतीं और जिनके लिए हम ऐसा नहीं मानते हैं कि वे संयोगिक प्रमाणों के आधार पर ही होती हैं, वे सभी अवस्थाएँ हैं।

जितना भी उदय व अस्त वाला है, वे सभी अवस्थाएँ हैं। कितनी देर तक रहेगा, वह कह नहीं सकते। आँखों का झपकना भी अवस्था है। आँखों को यदि हमें खुद झपकाना हो तो क्या दशा होगी? साठ के बदले दो सौ बार हो जाएगा। ऐसा है।

प्रश्नकर्ता : अवस्था और इन्सिडेन्ट में क्या फर्क है?

दादाश्री : इन्सिडेन्ट में अवस्था समा जाती है, लेकिन अवस्था में इन्सिडेन्ट नहीं समाता।

कोई कुछ नहीं करता, कोई फूल चढ़ाए तो वह उसकी अवस्था है, पत्थर मारे तो वह भी उसकी अवस्था है। जब अंदर से फूल के परमाणु उड़ते हैं तब उसी समय बाहर से फूल आते हैं और अंदर पत्थर जैसे परमाणु उड़ते हैं तो बाहर से पत्थर आते हैं। समय पर आ मिलता है।

क्या अहम् विनाशी है?

कोई अवस्था पसंद हो तो उसके संयोग मिल जाते हैं।

सभी अवस्थाएँ बदलती रहती हैं। कोई भी अवस्था नित्य नहीं रहती क्योंकि वे संयोग हैं। और संयोग वियोगी स्वभाव के होते हैं।

सम्मेलन से संयोग और विसर्जन से *गलन* होता है। इन आँखों से तत्त्व नहीं दिखाई देते, सिर्फ अवस्थाएँ दिखाई देती हैं। खुद अपने तत्त्वों को नहीं जानता, अवस्थाओं को जानता है और सभी अवस्थाएँ नाशवंत हैं।

लोगों की कद काठी बदलेगी, वेश बदलेंगे, सबकुछ बदलेगा

लेकिन नया कुछ नहीं होगा, मात्र अवस्थाएँ बदलेंगी। अवस्थाएँ और खुद अलग नहीं दिखाई देते। सोच और सोचने वाला, दोनों अलग नहीं दिखाई देते। जब तक ज्ञान नहीं मिलता तब तक आपको सभी में ये एक साथ ही दिखाई देते हैं। आत्मा अलग ही है। जिसमें अवस्थाएँ नहीं बदलें वह संसार कहलाएगा ही नहीं।

प्रश्नकर्ता : दादा! आपने कहा कि तत्त्वों के इक्टठे होने से अवस्थाएँ बदलती रहती हैं, उन अवस्थाओं की वजह से जो अहम् खड़ा होता है, क्या वह अहम् भी बदलता होगा? उस समय क्या किसी में कम या ज़्यादा रहता होगा?

दादाश्री : ऐसा है न, वे जो अवस्थाएँ उत्पन्न होती हैं न, उनका तो तुरंत ही विनाश हो जाता है। और यह अहम् वगैरह जो सब उत्पन्न हुए हैं न, तो वे तो इन दो चीज़ों के इकट्ठे होने से व्यतिरेक गुण उत्पन्न होता है। उससे अहंकार खड़ा हो जाता है (वह केवलज्ञान होने तक रहता है)।

बदलती हैं अवस्थाएँ पल-पल

आत्मा त्रिकालवर्ती है। भाव त्रिकालवर्ती नहीं हैं, अवस्थावर्ती हैं। जो अवस्थावर्ती है, वह चेतन नहीं है। जो अवस्थावर्ती नहीं है, वह चेतन है।

इन मोटर, बंगले और ज़मीन को अगर हम अभी नहीं छोड़ेंगे फिर भी एक दिन तो इन्हें छोड़कर जाना ही पड़ेगा। एक मात्र सच्चिदानंद करने जैसा है। (विनाशी मोह को छोड़कर आत्मा की भक्ति करने जैसा है।)

गुण नहीं बदलते, पर्याय बदलते हैं। आज दूध मीठा लगता है लेकिन दूसरे दिन खट्टा लगने लगता है। फिर उसे सूँघना भी अच्छा नहीं लगता। परमाणु मात्र प्रत्येक क्षण बदलते ही रहते हैं।

कपास के पौधे बोए तो अंकुर उगने पर वह खुश हो जाता है। लेकिन उसके खत्म होने तक अनंत अवस्थाएँ, अच्छी-बुरी अवस्थाएँ

आएँगी। अंत में शायद बहुत अच्छा भी उगे या अत्यंत ठंड भी पड़ जाए। उसी प्रकार से इस संसार में प्रत्येक क्षण अवस्था वाला है। प्रत्येक क्षण अवस्थाएँ बदलती ही रहती हैं।

जब बच्चा सो रहा हो और उस अवस्था में सब के बीच उसका अपमान किया जाए तो उसे कोई परेशानी नहीं होगी और दूसरा इस ज्ञान दशा में अपमान से कोई परेशानी नहीं होती। रही बीच वाली अवस्था। इन्द्रिय प्रत्यक्ष अवस्था में ही सब दखल है। 'मेरा-तेरा' बताता है, उसमें ज़रा सा अपमान करने से परेशान हो जाता है।

मन की अवस्था, वचन की अवस्था और काया की अवस्था से बाहर कुछ भी नहीं होता है। जिस पर इफेक्ट होता है, उसे समझना है। अवस्था का समभाव से *निकाल* (निपटारा) कर देना चाहिए।

उसी प्रकार से जब गाढ़ कर्म वाली अवस्थाएँ आएँ तब तुरंत ही उनमें से निकल जाना चाहिए। अवस्थाएँ निश्चेतन चेतन हैं। हम खुद शुद्ध चेतन हैं। अवस्थाओं को देखना है। आप अवस्थाओं में चिपक जाते हो इसलिए दु:खी हो जाते हो, इसीलिए आनंद नहीं आता।

जब रात को सो जाते हो तब कारखाना दिखाई देता है और फिर झंझट करते हो। इस प्रकार जो झंझट करते हो, वे सब भी अवस्थाएँ हैं।

जोड़-बाकी अपने आप ही कुदरती रूप से होते रहते हैं। उसमें तू इकट्ठा क्यों कर रहा है? नॉर्मल ज़रूरतों से अधिक कुछ भी इकट्ठा नहीं करना चाहिए। इन्द्रियाँ भी अवस्थाएँ हैं और वह वस्तुओं से गढ़ी हुई है। उनमें तत्त्व नहीं दिखाई देते। जिस मील तक पहुँचा है, उस मील का दिखाई देता है। वह मील उसकी अवस्था है। यह पूरा जगत् गणित ही है। आत्मा गणित नहीं है।

किसी भी अवस्था में अड़तालीस मिनट से अधिक नहीं रह सकते, ऐसा नैचुरल नियम है। घड़ी में बड़ा काँटा हर मिनट पर घूमता रहता है, वह घड़ी नहीं परंतु उसकी अवस्था है। यह दुनिया ऐसी नहीं है कि किसी भी एक अवस्था में सैंतालीस मिनट और उनसठ सेकन्ड से अधिक

रह सकें। अवस्था में रहने से उसका फल क्या आता है? पूरा ही मनुष्य जन्म, या फिर देवगति या फिर तिर्यंच या नर्कगति का फल आता है। ज्ञान से ही निबेड़ा आएगा। ज्ञान में यदि एक प्रतिशत भी फर्क हो तब भी वह कहीं का कहीं चला जाएगा। हम तो प्राकृत स्वभाव का *निकाल* करने बैठे हैं जबकि जगत् प्राकृत स्वभाव को 'मेरा-मेरा' करता है। हम सब तो उसके ज्ञाता-दृष्टा रहते हैं।

हमने चखी हैं दुनिया भर की अवस्थाएँ

भगवान ने स्व में स्वस्थ रहने के लिए कहा है जबकि लोग अवस्था में रहकर अस्वस्थ हो गए हैं। पूरा ही जगत् अवस्था में रमा हुआ है और उसी में तन्मयाकार रहता है। इसलिए अवस्था को भोगने के लिए चौर्यासी लाख योनि में भटकते रहना पड़ता है। त्यागी-तपस्वी, साधु-साध्वी, आचार्य-उपदेशक और शास्त्रकार वगैरह सभी अवस्थाओं में ही तन्मयाकार रहते हैं।

'हमने' सभी अवस्थाएँ चखकर देख ली हैं। कुछ भी चखना बाकी नहीं रखा है। हाथी बनकर घूमा, मदमस्त और मद भी टपकता था। और उसके बच्चे का नाम भी मदनिया (गुजराती में हाथी के बच्चे को मदनिया कहते हैं)। मैंने उसके बच्चे को भी देखा है। मैंने सोचा, 'उसका बच्चा कितना बड़ा होता है!' अपने यहाँ तो बालक इतना सा होता है जबकि उसका बच्चा तो इतना बड़ा! मदनिया! अरे मदनलाल, क्या बात करें आपकी? मदनिया। वह भी पता लगाकर आया था। मदनिया था न, तो मैंने कहा, 'देखकर तो आने दो'। इस दुनिया के लोभी लोग लोभ की वजह से देखने नहीं जाते लेकिन मुझे लोभ नहीं है, मुझे देखकर आने तो दो। दुनिया देखनी तो चाहिए न?

हमारे लोक में हमारी इज़्ज़त है। हमारा लोक नित्य लोक है। ये लोग तो अवस्थाओं में रहते हैं। इन लोगों में हमारी आबरू नहीं है। हम किसी भी अवस्था में नहीं रहते हैं। देह की अवस्थाओं, प्रकृति की अवस्थाओं में रहने वाले, वे तो इस दुनिया के लोग हैं।

अगर मनपसंद अवस्था में तन्मयाकार हो जाए तब भी वह पसंदीदा

(कर्म) बाँधता है और नापसंद अवस्था में तन्मयाकार नहीं होता तो तब भी वह नापसंदगी वाला (कर्म) बाँधता है (अज्ञानी के लिए)।

अवस्थाओं में तन्मयाकार रहने के बावजूद भी यदि हमें नमस्कार करने में तन्मयाकार होगा तो भी उसका काम हो जाएगा और उसका कल्याण हो जाएगा।

जो अवस्था मात्र से मुक्त हो चुका है, वही मुक्ति दे सकता है।

जब तक ज्ञानी पुरुष मुहर न लगा दें, तब तक ऐसी अवस्था (साधक अवस्था) उत्पन्न नहीं हो सकती। साधक अवस्था का फल है, सिद्ध अवस्था। वर्ना पूरे दिन उल्टा ही करता रहता है।

अवस्था में चिपक जाता है चित्त वहाँ

जिस अवस्था की आहुति, स्वाहा हो गई, उसके घाव नहीं लगते। घाव किसलिए लगते हैं? तो कहते हैं, *लक्ष* (जागृति) से। अत: जिन अवस्थाओं में *लक्ष* गया, वहाँ पर घाव हो जाता है और उसमें *लक्ष* नहीं जाए तो वह अवस्था स्वाहा हो जाती है, जागृति यज्ञ में। *लक्ष* का नियम ऐसा है न कि जहाँ पर *लक्ष* बैठता है, फिर वह बार-बार वापस वहीं पर जाता है। सभी कुछ बदल जाता है लेकिन *लक्ष* नहीं बदलता। हम अलख का *लक्ष* बैठा देते हैं, उसके बाद अवस्थाओं में *लक्ष* नहीं रहता और *निकाल* हो जाता है। जिस अवस्था के जितने अधिक घाव पड़ते हैं, वही अवस्था हमारे पास अधिक से अधिक मंडराती रहती है, मक्खी की तरह। अगर कोई कहे कि मुझे अनुभव क्यों नहीं होता है? तो वह इसलिए कि *लक्ष* के जितने घाव पड़े हुए हैं, वे भरे नहीं हैं। ये घाव ज्ञानभाषा के सूक्ष्म घाव हैं। कितने ही घाव तो ऐसे भी होते हैं कि पीप निकलता ही रहता है। जैसे-जैसे ये सभी घाव भरते जाएँगे, वैसे-वैसे अनुभव होता जाएगा। रिलेटिव में कैसा है कि एक घाव भरने के लिए वहाँ से *लक्ष* उठाकर दूसरी जगह पर *लक्ष* बैठा देता है, तब पहले वाला घाव भरने लगता है लेकिन जहाँ पर नया *लक्ष* रखा, वहाँ पर वापस नया घाव हो जाता है।

पूर्व जन्म में जिन पर्यायों का खूब वेदन किया हो, अब वे अधिक

आते हैं, तब चित्त वहाँ पर चिपका रहता है। घंटों तक, *गुंठाणे* (४८ मिनट्स, गुणस्थानक) भी बीत जाते हैं। जो पर्याय पतले हो चुके हैं, उन पर्यायों पर चित्त अधिक नहीं चिपकता। चिपकता है और अलग हो जाता है।

किसी भी अवस्था के प्रति आसक्ति रहे, ऐसे विचार आ रहे हों तो उसे कह देना है कि 'तेरा और मेरा संबंध मात्र ज्ञेय और ज्ञाता का है, अब शादी नहीं करनी है'। ऐसा कहते ही वह अवस्था और विचार चले जाएँगे।

खुद की उल्टी समझ की वजह से शादी करता है (एकाकार होता है) इसलिए उसे सहन करना पड़ता है। तन्मयाकार होता जाता है इसलिए संसार चिपक गया है। कुछ खास अवस्थाएँ ही चिपकाती हैं। मीठी तथा कड़वी, दोनों अवस्थाएँ चिपकाती हैं, जब मीठी और कड़वी, दोनों अवस्थाएँ चिपकाएँ, उस समय *लक्ष* में रहना चाहिए और बोलना चाहिए कि 'ये मेरी हैं ही नहीं', तो वे चली जाएँगी।

मोक्ष में जाने का जो प्रमाणपत्र है, उसमें किसी भी क्रिया को नहीं देखा जाता। मात्र वीतरागता को ही देखा जाता है। दखल किसे कहते हैं? अगर कोई भी अवस्था आए और उसमें चित्त कुछ देर के लिए चिपक जाए तो वह दखल है। यात्रा में चाहे कैसी भी अवस्था आए तो भी हम चिपके नहीं हैं। हम अवस्था को खड़ा नहीं रहने देते। तीन मिनट के लिए खड़ा रखेंगे तो सभी की लाइन लग जाएगी। समझ में आ रहा है न यह? अपने महात्माओं को वीतरागता रहती है, लेकिन दरअसल नहीं रहती।

आहुति, प्रत्येक अवस्था की

दुनिया भर (के लोगों) में कोई भी अवस्था स्वाहा होकर नहीं जाती लेकिन बीज डालकर जाती है और इस प्रकार जब अंतिम पौन घंटा बचता है तब सभी डाले हुए बीजों के हिसाब आ जाते हैं और जिस प्रकार के बीज ज़्यादा डाले हैं, अगले जन्म में वहीं पर जाता है।

दुनिया के लोग हर एक अवस्था में, मन की, वाणी की या काया की अवस्था में लाखों बीज डाल देते हैं। उनमें तीन हज़ार गेहूँ डालता है और बाकी के कूच (जंगली पौधा) के। अवस्था उत्पन्न होती है तब बीज डलता ही है लेकिन ज्ञान के बाद में अवस्थाओं का *निकाल* होता जाता हैं, स्वाहा होती जाती हैं।

अवस्थाएँ डिस्चार्ज होती रहेंगी। हमें यह देखना है कि चार्ज न हों। भगवान कहते हैं, 'ऑन द मोमेन्ट जो अवस्थाएँ हो गईं उनमें रह और जो अवस्थाएँ हुईं और चली गई हैं, उनके लिए तू झंझट मत करना'।

अवस्थाएँ बिचारी भोली होती हैं। जब आती हैं तब उनसे कहना कि 'बहन! आ गई? अब जाओ, दूसरी को आने दो'।

कोई गाली दे तो अंदर अवस्था बिगड़ जाती है। यदि आत्मा उस अवस्था को जाने तो अवस्था स्वाहा हो जाएगी। अवस्था को जितना जाना, उतनी ही स्वाहा हो जाती है। जितनी रह जाती हैं, वे तो फिर बाद में मिटेंगी। अंदर मन बिगड़ जाए तो फिर मन से कहकर प्रतिक्रमण करके मिटा सकते हैं। जब तक कागज़ पर लिखा हुआ पोस्ट में नहीं डाल देते, तब तक मिटा सकते हैं।

अवस्था तो प्रतिक्षण बदलती है न! हर एक अवस्था में, अज्ञान दशा में बीज डलता ही रहता है। लेकिन जब ज्ञान से जागृत अवस्था में हर एक अवस्था स्वाहा हो जाती है तब फिर से संसार बंधन नहीं होता।

अपना यह ज्ञान ऐसा है कि इससे विषय का विरेचन होता है। अंदर विचार आते ही अवस्था उत्पन्न हो जाती है और तुरंत ही उसकी आहुति दे दी जाती है।

क्योंकि वह खुद की अवस्था के गुनहगार को ढूँढ ही निकालता है। प्रत्येक अवस्था की आहुति स्वाहा, यह अंतिम आध्यात्मिक यज्ञ है। स्वाहा अर्थात् संपूर्ण जला देता है। राज़ी खुशी से अवस्था में तन्मयाकार हो जाए तो दखल हो जाती है। उससे नया चित्रण करता है और नए

बीज डालता है। किसी पर ज़रा सा भी आरोप लगाओगे तो उसका फल भुगतना पड़ेगा। आरोप का फल भयंकर है।

समभाव से *निकाल* अर्थात् अवस्थाओं की आहुति देनी है। यह अंतिम प्रकार का महायज्ञ है।

यदि वाणी की, मन की और काया की अवस्थाओं में निरंतर जागृत रहकर (अवस्थाओं की आहुति रूपी) महायज्ञ में स्वाहा किया जाए (अवस्थाओं का ज्ञाता-दृष्टा रहे) तो आत्मा पर जो पर्याय चिपके हुए हैं, वे अलग होते जाएँगे और उतना ही खुद परमात्मा स्वरूप होता जाएगा।

सर्व अवस्थाओं में नि:शंक समाधान

इस जगत् की सभी अवस्थाएँ अनंत हैं, लेकिन मन की अवस्थाएँ अनंत गुना अनंत हैं। जो उनमें से अलग हुआ, वह छूट जाएगा। अत: जिससे मन का समाधान हो (मन की अवस्थाओं का), वही ज्ञान सच्चा है। काल को भी शर्म आ जाए, ऐसा ग़ज़ब का ज्ञान उत्पन्न हुआ है और वह भी साइन्टिफिक है। मन की अनंत-अनंत अवस्थाओं में भी समाधान हो जाए, ऐसा है यह ज्ञान। लोग मन की अवस्थाओं में उलझ जाते हैं, इसलिए कहते हैं कि भगवान उलझा रहे हैं। अपना ज्ञान ही ऐसा है कि राग-द्वेष होते ही नहीं हैं।

फिर वे अवस्थाएँ भी समाधानकारी नहीं होतीं। अपने यहाँ क्या लिखा है? सर्व अवस्था में नि:शंक समाधान। अत: अपना यह ज्ञान कैसा है कि हर एक अवस्था में नि:शंक समाधान ही रहता है। इस जगत् में तो कैसा है? तो कहते हैं कि यदि जेब कट जाए तो डिप्रेस हो जाता है, समाधान नहीं रहता और कोई फूल चढ़ाए तो एलिवेट हो जाता है। इन सभी अवस्थाओं में डिप्रेस और एलिवेट सब होता रहता है। जब खुश होता है तो चढ़ (एलिवेट हो) जाता है।

प्रश्नकर्ता : ऐसा क्यों होता है कि वीतराग पुरुष की गैरहाज़िरी में अवस्था में अस्वस्थ हो जाते हैं? आपकी गैरहाज़िरी होती है तो फिर अस्वस्थ हो जाते हैं और आपकी हाज़िरी में स्वस्थ रहते हैं।

दादाश्री : हाज़िरी में तो स्वस्थ रहेंगे ही। यह जो अस्वस्थ रहते हो, वह तो आपकी बुद्धि अस्वस्थ रखवाती है और जब तक बुद्धि है, तब तक अहंकार है। वह जो अहंकार वाली बुद्धि है, वह अस्वस्थ करवाती है। उसका एन्ड आ जाएगा तो अवस्थ रहने का कोई कारण नहीं रहेगा। या फिर पूरे दिन ज्ञानी पुरुष के पास बैठे रहोगे तो भी अस्वस्थ होने का कारण नहीं रहेगा।

प्रश्नकर्ता : भौतिक प्रकार से, फिज़िकली तो वह संभव नहीं है न?

दादाश्री : नहीं, संभव नहीं है फिर भी जितना लाभ मिल सके, उतना ठीक है। वर्ना जब खुद की बुद्धि और अहंकार खत्म हो जाएँगे, *निकाल* करते-करते, तो फिर अपने आप ही ओपनली, साफ-साफ, स्वस्थता ही रहेगी। निरंतर स्व में रहेगा तो स्वस्थता।

अवस्था में स्वस्थता, वही अस्वस्थपन है और स्व में स्वस्थता, वह है स्वस्थपन। लोग अस्वस्थ क्यों रहते हैं? क्योंकि वे सदा अवस्था में ही रहते हैं। वे लोग अज्ञान अवस्थाओं को पोतापन (अपना) मानते हैं। अवस्थाओं में ऐसा देखते हैं कि 'मैं ही हूँ'। ज्ञानी पुरुष अवस्था को देखते हैं और जानते हैं।

प्रश्नकर्ता : दादा, हमें अदंर से जो आनंद होता है तो वह एक विचार है या अवस्था है?

दादाश्री : वह अवस्था है।

प्रश्नकर्ता : तो उस अवस्था को हमें पकड़े रखना है या जाने देना है और दूसरी अवस्था को देखते रहना है?

दादाश्री : वह तो अपने आप ही चली जाएगी। हम पकड़कर रखेंगे तो भी चली जाएगी। हम नहीं पकड़ेंगे तो भी चली जाएगी। उसके बजाय उस अवस्था से ऐसा कहना कि 'वापस आना, हमें लाभ देना'।

निकाल लेना काम रे

आत्मा के गुणों को जाना ही नहीं है। जो आत्मा के सभी गुणों

को जाने, वे भेदविज्ञानी कहलाते हैं। ये जो आत्मा के गुण हैं न, उनमें से सारे अनावृत नहीं हुए हैं, वे सब हम में हैं। हम (1958 में ज्ञान हुआ तभी से) अठाईस सालों से आत्मा में रहते हैं। इस देह के मालिक नहीं हैं।

प्रश्नकर्ता : अब ऐसा तो किसी ने अभी तक नहीं कहा है।

दादाश्री : यह तो अक्रम विज्ञान है न!

प्रश्नकर्ता : सभी लोग सभी जगह तक पहुँचे हैं, लेकिन यहाँ तक नहीं पहुँच पाए हैं।

दादाश्री : इसलिए अब काम निकाल लेने जैसा है। तभी तो हम इस तरह आवाज़ लगा-लगाकर कहते हैं न कि, 'काम निकाल लो, काम निकाल लो, काम निकाल लो'।

मूल गुजराती शब्दों के समानार्थी शब्द

पुद्‌गल : जो पूरण और गलन होता है

उपाधि : बाहर से आनेवाला दुःख

गलन : डिस्चार्ज होना, खाली होना

पूरण : चार्ज होना, भरना

निर्जरा : आत्म प्रदेश में से कर्मों का अलग होना

अमल : असर

भजता : उस रूप होना, भक्ति

ऊपरी : बॉस, वरिष्ठ मालिक

संवरपूर्वक निर्जरा : नया कर्म बीज नहीं डलें, बिना कर्मफल पूरा हो जाना

अफाट : जो टूटे या फटे नहीं

अजंपा : बेचैनी, अशांति, घबराहट

निकाल : निपटारा

वर्गणा : कर्मरज

शाता : सुख-परिणाम

अशाता : दुःख-परिणाम

एलिया (हेरियां) : किसी सूराख में से आने वाली सूर्य की किरणें

लक्ष : जागृति

गुंठाणे : ४८ मिनट्स, गुणस्थानक

दादा भगवान फाउन्डेशन के द्वारा प्रकाशित पुस्तकें

हिन्दी

1. ज्ञानी पुरुष की पहचान
2. सर्व दु:खों से मुक्ति
3. कर्म का सिद्धांत
4. आत्मबोध
5. मैं कौन हूँ ?
6. वर्तमान तीर्थंकर श्री सीमंधर स्वामी
7. भुगते उसी की भूल
8. एडजस्ट एवरीव्हेयर
9. टकराव टालिए
10. हुआ सो न्याय
11. चिंता
12. क्रोध
13. प्रतिक्रमण
14. दादा भगवान कौन ?
15. पैसों का व्यवहार
16. अंत:करण का स्वरूप
17. जगत कर्ता कौन ?
18. त्रिमंत्र
19. भावना से सुधरे जन्मोंजन्म
20. माता-पिता और बच्चों का व्यवहार
21. प्रेम
22. समझ से प्राप्त ब्रह्मचर्य (सं.)
23. दान
24. मानव धर्म
25. सेवा-परोपकार
26. मृत्यु समय, पहले और पश्चात्
27. निजदोष दर्शन से... निर्दोष
28. पति-पत्नी का दिव्य व्यवहार
29. क्लेश रहित जीवन
30. गुरु-शिष्य
31. अहिंसा
32. सत्य-असत्य के रहस्य
33. चमत्कार
34. पाप-पुण्य
35. वाणी, व्यवहार में...
36. कर्म का विज्ञान
37. सहजता
38. आप्तवाणी - 1
39. आप्तवाणी - 2
40. आप्तवाणी - 3
41. आप्तवाणी - 4
42. आप्तवाणी - 5
43. आप्तवाणी - 6
44. आप्तवाणी - 7
45. आप्तवाणी - 8
46. आप्तवाणी - 9
47. आप्तवाणी - 13 (पूर्वार्ध व उत्तरार्ध)
48. आप्तवाणी - 14 (भाग-1)
49. समझ से प्राप्त ब्रह्मचर्य (पूर्वार्ध व उत्तरार्ध)
50. ज्ञानी पुरुष

★ **दादा भगवान फाउन्डेशन के द्वारा गुजराती भाषा में भी कई पुस्तकें प्रकाशित हुई है। वेबसाइट www.dadabhagwan.org पर से भी आप ये सभी पुस्तकें प्राप्त कर सकते हैं।**

★ **दादा भगवान फाउन्डेशन के द्वारा हर महीने हिन्दी, गुजराती तथा अंग्रेजी भाषा में ''दादावाणी'' मैगेज़ीन प्रकाशित होता है।**

संपर्क सूत्र

दादा भगवान परिवार

अडालज : **त्रिमंदिर**, सीमंधर सिटी, अहमदाबाद-कलोल हाईवे,
पोस्ट : अडालज, जि.-गांधीनगर, गुजरात - 382421.
फोन : (079) 39830100, E-mail : info@dadabhagwan.org

राजकोट : **त्रिमंदिर,** अहमदाबाद-राजकोट हाईवे, तरघड़िया चोकड़ी (सर्कल),
पोस्ट : मालियासण, जि.-राजकोट. फोन : 9924343478

भुज : **त्रिमंदिर,** हिल गार्डन के पीछे, एयरपोर्ट रोड. फोन : (02832) 290123

अंजार : **त्रिमंदिर,** अंजार-मुन्द्र रोड, सीनोग्रा पाटीया के पास, सीनोग्रा गाँव,
ता.-अंजार, फोन : 9924346622

मोरबी : **त्रिमंदिर,** मोरबी-नवलखी हाईवे, पो-जेपुर, ता.-मोरबी,
जि.-राजकोट. फोन : (02822) 297097

सुरेन्द्रनगर : **त्रिमंदिर**, सुरेन्द्रनगर-राजकोट हाईवे, लोकविद्यालय के पास, मुळी रोड.
फोन : 9737048322

अमरेली : **त्रिमंदिर**, लीलीया बायपास चोकडी, खारावाडी, फोन : 9924344460

गोधरा : **त्रिमंदिर,** भामैया गाँव, एफसीआई गोडाउन के सामने, गोधरा.
(जि.-पंचमहाल). फोन : (02672) 262300

वडोदरा : बाबरीया कोलेज के पास, वडोदरा-सुरत हाई-वे, NH-8, वरणामा गाँव.
फोन : 9574001557

वडोदरा : दादा मंदिर, १७, मामा की पोल-मुहल्ला, रावपुरा पुलिस स्टेशन के सामने,
सलाटवाड़ा, वडोदरा. फोन : 9924343335

अहमदाबाद : **दादा दर्शन,** ५, ममतापार्क सोसाइटी, नवगुजरात कॉलेज के पीछे,
उस्मानपुरा, अहमदाबाद-380014. फोन : (079) 27540408

मुंबई	: 9323528901	**दिल्ली**	: 9810098564
कोलकता	: 9830093230	**चेन्नई**	: 9380159957
जयपुर	: 9351408285	**भोपाल**	: 9425024405
इन्दौर	: 9039936173	**जबलपुर**	: 9425160428
रायपुर	: 9329644433	**भिलाई**	: 9827481336
पटना	: 7352723132	**अमरावती**	: 9422915064
बेंगलूर	: 9590979099	**हैदराबाद**	: 9989877786
पूणे	: 9422660497	**जलंधर**	: 9814063043

U.S.A. : **DBVI Tel. :** +1 877-505-DADA (3232),
Email : info@us.dadabhagwan.org

U.K.	: +44 330-111-DADA (3232)	**Australia**	: +61 421127947
Kenya	: +254 722 722 063	**New Zealand**	: +64 21 0376434
UAE	: +971 557316937	**Singapore**	: +65 81129229

www.dadabhagwan.org

समाया सिद्धांत, आप्तवाणी में

प्रश्नकर्ता : दादा, आपने आप्तवाणियों में तो सभी शास्त्र रख दिए हैं। प्रत्येक प्रश्न का तुरंत समाधान मिल जाता है, स्वयंभू समाधान!

दादाश्री : ऐसा तो शास्त्रों में भी नहीं है। आप्तवाणी में तो पूरा सिद्धांत रख दिया है। सिद्धांत अर्थात् अविरोधाभासी। यह ऐसा सिद्धांत है कि जहाँ से देखो वहाँ से टैली होता है (मेल खाता है)।

अत: अपना यह अक्रम विज्ञान पूरा सैद्धांतिक है। जहाँ से पूछो वहाँ से सिद्धांत में ही परिणामित होता है क्योंकि यह स्वाभाविक ज्ञान है। कोई भी वस्तु एक बार ज्ञान में आ जाए तो वह फिर से अज्ञान में नहीं जाती, विरोधाभास उत्पन्न नहीं होता। हर एक के सिद्धांत को हेल्प कर-करके सिद्धांत आगे बढ़ता जाता है और किसी के भी सिद्धांत को तोड़ता नहीं है। पहले जो वीतराग हो चुके हैं, यह उन्हीं का सिद्धांत है।

आत्मविज्ञानी 'ए. एम. पटेल' के भीतर प्रकट हुए

दादा भगवानना
असीम जय जयकार हो

dadabhagwan.org